आयुर्वेद-विज्ञान



लेखक—
डा० कमला प्रसाद मिश्र 'विप्र'

आयुर्वेद-विज्ञान



लेखक

कमलाप्रसाद मिश्र 'विप्र'

साहित्यायुर्वेदस्नातक

प्रकाशक :

मेडिकल पुस्तक भवन,

गोला दीनानाथ, वाराणसी ।

●

●



चतुर्थ संस्करण

●

मू० ८-०० रुपये मात्र

●

सम्पादक—

डॉ० केशवानन्द नौटियाल, ए० एम० एस० (का० हि० वि० वि०)

मुद्रक—

बैजनाथप्रसाद

कल्पना प्रेस

रामकटोरा रोड, वाराणसी ।

समर्पण

स्नेहमयी स्वर्गीया पूज्य माताजी की पुण्य स्मृति में—

स्नेहमयी स्वर्गीय माताजी,
पुण्य स्मृति का यह आह्वान।
सादर आज समर्पित तुझको,
'विप्र' रचित 'आयुर्विज्ञान'॥

—'प्रिय'

प्राक्कथन

आज विश्व में लाक्षणिक चिकित्सा पद्धति (होमियोपैथी), विपरीत चिकित्सा पद्धति (एलोपैथी), प्राकृत चिकित्सा पद्धति (नेचरोपैथी), मानसिक चिकित्सा-पद्धति:(साइकोपैथी) और व्यायाम चिकित्सा पद्धति (हाईजीजम)– ये पाँच प्रमुख चिकित्सा पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लेकिन उक्त सभी पैथियों का प्रादुर्भाव आयुर्वेद शास्त्र के पंचनिदान—हेतु विपरीत, व्याधि विपरीत, हेतु सम तथा व्याधि सम सिद्धान्त से ही हुआ है।

विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद हैं जिनमें स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के भी विषय आये हैं। आयुर्वेद-अथर्ववेद का ही एक अंग अर्थात् उपवेद है। इसे नित्य सिद्ध ईश्वरीय ज्ञान के लिए श्री भारद्वाज आदि महर्षियों ने देवराज श्री इन्द्र महाराज से प्रार्थना की थी। इस अनुपम 'वेद' को सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने श्री प्रजापति जी को प्रदान किया, पश्चात् यह ज्ञान शिष्य प्रशिष्य द्वारा विभिन्न रूप से विश्वमात्र में फैल गया।

यों तो निकटवर्ती देशों के शिक्षार्थी बहुत पहले से ही विश्वगुरु भारत की कर्मभूमि में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आया करते थे लेकिन चिकित्सा शास्त्र के प्रसार का श्रेय विशेष रूप से यूनान और अरब को ही है। यूनान एवं अरब के निवासियों ने भारतवर्ष से चिकित्सा विषयक ज्ञान लेकर समस्त यूरोप को प्रकाश दिया। मगर, हाँ, आयुर्वेद शास्त्र का प्रादुर्भाव तो प्राणिमात्र के कल्याणार्थ हुआ था। लेकिन दुःख है, उक्त जन कल्याण भावना भी व्यापार कला-विशारद पाश्चात्य देशवासियों द्वारा व्यापार का साधन बन गयी है।

लगभग २० वर्षों तक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विषयक ग्रंथों के अध्ययन एवं मननोपरान्त मुझे तद्विषयक हिन्दी भाषा में पुस्तक लिखने की प्रबल उत्कंठा हुई। सर्वप्रथम मैंने आयुर्वेद के पाँच प्रमुख सिद्धान्त-प्रकृतिपुरुष

सिद्धान्त, पंचमहाभूत सिद्धान्त, त्रिदोष सिद्धान्त, धातु विज्ञान और द्रव्यत्व (रसवीर्य--विपाक प्रभाव सिद्धान्त) पर ही एक पुस्तक लिखने का विचार किया। सामग्रियों का संकलन हुआ और पुस्तक का श्रीगणेश भी हो गया। लेकिन विधाता का विधान तो बहुत ही विचित्र ठहरा। यह कार्य अभी कुछ ही मास चल पाया था कि मेरी स्नेहमयी माता का स्वर्गवास हो गया।

उक्त व्रजाघात ने मुझे अपनी कल्पना को सर्वांगसुन्दर मूर्त रूप देने से एक प्रकार से वंचित-सा कर दिया। लेकिन गुरुजनों की प्रेरणा के बलपर किसी प्रकार इस पुस्तक **आयुर्वेद-विज्ञान** के रूप में मेरा संकल्प साकार हो पाया। यह पुस्तक तैयार करने में मुझे आयुर्वेद प्रकाश, आयुर्वेद सार संग्रह, आरोग्य प्रकाश, आयुर्वेद विज्ञान, अमृत सिन्धु, अमृत सागर, चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, भावप्रकाश, माधव निदान, भेल संहित, भैषज्य रत्नावली, वृ० निघंटु, चिकित्सा चन्द्रोदय, भैषज्य रत्नाकर, रत्नदीप, रसराज, सिद्धयोग संग्रह, शार्ङ्गधरसंहिता, हारित संहिता, वङ्गसेन, वैद्य रहस्य, वैद्यविनोद, वैद्यजीवन, योगरत्नाकर तरङ्गिणी, रसरत्न समुच्चय, रसेन्द्रसार संग्रह, त्रिदोष तत्वविमर्श मनुस्मृति, उपनिषद, तिब्बे अकबरी इलाजुल गुर्बा, एनाटमी, फिलिओलोजी, प्राक्टीशनर्स गाइड आदि ग्रंथों से विशेष सहायता मिली है।

पत्र-पत्रिकाओं में सचित्र आयुर्वेद का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, उक्त पत्रिका के अलावे धन्वन्तरि, अनुभूत योगमाला, स्वास्थ्य संदेश, आयुर्वेद रसायन, महासम्मेलन पत्रिका, प्राणाचार्य, कल्याण मेडिकल गजट तथा कुछ अन्य समाचार पत्रों से भी सहायता मिली है।

श्री १०८ स्वामी विलक्षणानंदजी, श्रीरामरक्षपाठकजी, श्रीकविराज सुखराम प्रसादजी—पटना, श्रीव्रजमोहन दीक्षितजी - काशी, श्रीकपिलदेव त्रिपाठी जी—पटना तथा पं० गिरिजादत्त पाठकजी—बक्सर का मैं विशेषरूप से आभारी हूँ। चूँकि उक्त गुरुजनों से मुझे सत्य परामर्श ही नहीं प्रत्युत प्रेरणा भी पूर्णरूप से ही प्राप्त हुई है। मैं अपने आदरणीय मित्र गनपतसहायजी एम० बी० बी० एस०—बक्सर को भी नहीं भूल सकता जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर मेरी सहायता की है। डा० रघुबीर प्रसाद सिंह जी—डुमरांव तथा डा० सुरेश

प्रसाद शर्मा जी—काशी से मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः मैं उनको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

स्वास्थ्य एवं चिकित्सादि विषयक अल्प ज्ञान रहते हुए भी मैंने उक्त ग्रंथों, पत्र पत्रिकाओं एवं महानुभावों से जो कुछ पाया है, इस पुस्तक में यथास्थान लिख दिया है। अतः इस पुस्तक की उपादेयता का श्रेय उन्हें ही है। हाँ, इस पुस्तक की त्रुटियों का जिम्मेदार मैं हूँ, क्योंकि वे हमारी अल्पज्ञता की प्रतीक हैं। पुस्तक जैसी है—आपकी है, स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं हिन्दी जगत की है। अगर इस पुस्तक से स्वास्थ्य, चिकित्सा एवं हिन्दी जगत का कुछ भी उपकार हो पाया तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

विनयी
—'विप्र'

आयुर्वेद-विज्ञान

विषय-सूची

अध्याय–४

भोजन, जल और हवा

अध्याय—८

विष विज्ञान



मेडिकल पुस्तक भवन के अन्याय प्रकाशन

एलोपैथिक पुस्तकें

१. एलोपैथिक चिकित्सा मू०	२५-००
२. इन्जेकशन	२०-००
३. मिक्श्चर	५-००
४. एलोपैथिक पाकेट गाइड	६-००
५. एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका	३०-००
६ सचित्र नेत्र रोग विज्ञान	६-००
७. एलोपैथिक सफल औषधियाँ	६-००
८. मल-मूत्र रक्तादि परीक्षा	६-००
९. धात्री विज्ञान	४-००
१०. सर्जरी (सामान्य शल्य चिकित्सा)	१४-००
११. चर्म रोग चिकित्सा	४-५०
१२ विटामिन्स	३-००
१३. जननेन्द्रिय रोग चिकित्सा	३-७५
१४. मासिक विकार	२-००
१५. नासा, कर्ण एवं गले के रोग	७-००
१६. सल्फोनामायड एंटि-वायोटिक्स	२-७५
१७. संकटाकालीन प्राथमिक चिकित्सा	६-००
१८. संक्रामक रोगों का उपचार	२-००
१९. कम्पाउण्डरी शिक्षा	८-००
२०. मलेरिया, कालाजार	३-००
२१. एलोपैथिक पेटेण्ट मेडिसिन्स	१४-००
२२. एलोपैथिक पेटेण्ट चिकित्सा	५-००
२३. ज्वर चिकित्सा	५-००
२४. अभिनव शवच्छेद विज्ञान (दो भाग)	२२-००
२५. माडर्न एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका	१५-००
२६. सफल आधुनिक औषधियाँ	५-५०
२७. सन्तति निरोध	६-००
२८. बाल रोग चिकित्सा	१०-००
२९. शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान	६-००
३०. ब्लड प्रेशर	३-५०
३१. सरल दन्त विज्ञान	४-५०
३२. स्टेथोस्कोप परीक्षा	४-००

होमियोपैथिक पुस्तकें

१. होमियो मेटेरिया मेडिका रेपर्टरी सहित (बोरिक) ३०-००
२. होमियोपैथिक रेपर्टरी १०.०० (रचयिता–डा० विलियम बोरिक)
३. होमियो पारिवारिक चिकित्सा २५-००
४. स्त्री-रोग चिकित्सा ८-५०
५. आर्गेनन ७-००
६. होमियो मेटेरिया मेडिका १०-००
७. रोगी की सेवा और पथ्य ४-५०
८. होमियो गृह चिकित्सा ६-००
६. भेषसार ३-००
१०. होमियो इन्जेक्शन चिकित्सा ३-५०
११. भारतीय औषधवाली ३-००
१२. होमियो पाकेट गाइड २-००
१३. बायोकेमिक चिकित्सा १०-००
१४. बायोकेमिक पाकेट गाइड २-००
१५. होमियो शिशु चिकित्सा १-००
१६. जार फोर्टि ईयर्स प्रैक्टिस १२-००
१७. लीडर्स इन होमियो थेराप्युटिक्स १२-००
१८. सफल होमियो प्रेस्क्रिप्शन १-००
१६. टायफायड चिकित्सा १-२५
२०. न्युमोनियाँ चिकित्सा १-००
२१. थाइसिस चिकित्सा १-००
२२. एनिमा कैथेटर ०-६०
२३. थर्मामीटर ०-५०
२४. रोग लक्षण संग्रह ०-४०
२५. रीजनल लीडर्स (डा० नैश) ३-००
२६. पुरानी बीमारियाँ ६-००
२७. बायोकेमिक रहस्य ४-००
२८. बाह्य प्रयोग की औषधियाँ १-२५
२६. वात, गठिया तथा लकवा रोग १-००
३०. बायोकेमिक रेपर्टरी ५-००
३१. सुशलर की बारह तन्तु औषधियाँ १४-००
३२. होमियोपैथिक सदर टिंचर मेटेरिया मेडिका ५-००
३३. होमियो पशु चिकित्सा २-००
३४. एलेन्स की नोट्स १०-००
३५. होमियो लेबुल बुक २-००

आयुर्वेदिक पुस्तकें

१. आयुर्वेद विज्ञान ८-००
२. वृक्ष विज्ञान ३-००
३. नाड़ी रहस्य १-२५

अध्याय—१

त्रिदोष सिद्धान्त

यह असार संसार महाप्रभु की 'मोहिनी माया' का लीला क्षेत्र है। महाप्रभु की माया ने इस विश्व को नाट्यशाला स्वरूप बनाकर सर्वप्रथम इच्छास्वरूप 'महातत्व' को बनाया जिससे सत, रज और तम का आविर्भाव हुआ। तमोगुणरूपी अहङ्कार ने रजोगुण, सतोगुण से मिलकर दस इन्द्रियों और एक 'मन' को उत्पन्न किया। तमोगुण ने अधिक सतोगुणयुक्त अहङ्कार से 'पञ्चतन्मात्रा', शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को उत्पन्न किया। तन्मात्रा से 'पञ्चमहाभूत' जैसे—शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल और गन्ध से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

दस इन्द्रियों में कान का विषय शब्द, त्वचा का स्पर्श, आँख का रूप, जीभ का स्वाद और नाक से गन्ध ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रियों' के विषय हैं। इसी प्रकार वाणी का भाषण, हाथ का लेना, पैर का चलना, लिङ्ग का मैथुन और गुदा का मलत्याग 'कर्मेन्द्रियों' के विषय हैं।

मायातत्व के ज्ञान बिना जगत तत्व की जानकारी असम्भव है। विश्व एक महान् सुदुर्गम समस्या है इसकी जानकारी माया, जन्मान्तर एवं कर्मतत्व के अनुशीलन द्वारा ही सुचारुरूपेण प्राप्त की जा सकती है।

मानव-शरीर

माया पिता के 'रजवीर्य' से गर्भाधान होकर ९ मास और १० दिनों के पश्चात् मनुष्य का जन्म होता है। मानव-शरीर में एक महातत्व, पाँच-तन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ, एक अहङ्कार, एक मन और एक प्रकृति मिला कर २४ तत्व हैं।

मानव-शरीर में सात धातु, सात उपधातु, सात धातुओं के मल, सात कला,

सात आशय, तीन दोष, एक सौ सात मर्मस्थान, २४ नाड़ी, सोलह सबसे बड़ी नाड़ियाँ (जो समूचे शरीर में व्यापमान हैं, पाँच सौ मांस पिण्डियाँ जो स्त्रियों के शरीर में ५२० हैं, दस छिद्र (जो स्त्रियों के शरीर में १३ रहते हैं), आठ सौ नसें (जिनके द्वारा हड्डी वगैरह बंधी हुई हैं) दो सौ दस हड्डियाँ और हैं।

सप्तधातुः—रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र को कहते हैं।

सप्तउपधातुः—रस के उपधातु गाल, आँख और जीभ इन तीनों के मल। रक्त का उपधातु पित्त है। मांस का उपधातु कानों का मल है। मेद का पधातु दाँत, काँख, और लिंग का मल है। हड्डी का उपधातु नख है। मज्जा का उपधातु आँख का कीचड़ है। शुक्र का उपधातु चेहरे पर निकलने वाली कोलें हैं। स्त्रियों के रजस्राव और दूध को भी उपधातु कहा गया है: लेकिन उक्त दोनों वस्तुएँ सामयिक हैं। सप्तधातुओं से और भी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जैसे, बाल, पसीना, दाँत, वसा और ओज।

सात कलाः—झिल्ली को कला कहते हैं। धातु और आशय के बीच एक कला है जिसमें बालक रहता है। रक्त, मांस और मेद को अलग-अलग रखने के लिए इन तीनों के बीच एक-एक झिल्ली है। एक कला अँतड़ियों के बीच, एक कला यकृत और प्लीहा के बीच, एक कला वीर्य को धारण करने वाली और एक कला जल एवं अग्नि को धारण करने वाली है।

सात आशय :—स्थान को आशय कहते हैं। मानव-शरीर में हृदय में कफ का स्थान, उसके नीचे आँव का स्थान, नाभि के वामभाग में कुछ ऊपर हट कर अग्नि का स्थान, नाभि के नीचे पवन का स्थान, पेडू में मल का स्थान, उसके बगल में मूत्र का स्थान और हृदय के ऊपरी भाग में जीव और रक्त के स्थान हैं। स्त्रियों के शरीर में तीन विशेष स्थान हैं:—गर्भ स्थान, दुग्ध स्थान और स्तन।

त्रिधातु और त्रिदोष

वायु, पित्त एवं कफ ये तीन शक्तियाँ, शक्ति की उत्पत्ति के हेतु भूत शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के एकत्रित कार्यों से उत्पन्न होती हैं और इसी कारण

इन अवयवों के कार्यों में न्यूनाधिकता होने पर इन शक्तियों के कार्यों में भी कमी बेशी होना अनिवार्य होने के कारण जब तक वायु, पित्त और कफ के कार्य शरीर में समान परिमाण में स्थित हों तब तक उन्हें 'त्रिधातु' कहा जाता है। उनमें शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है लेकिन उस कार्य में न्यूनाधिकता होने से शरीर में भिन्न-भिन्न रोगों की उत्पत्ति संभव हो जाती है। ऐसा होने पर 'त्रिदोष' कहे जाते हैं। परन्तु त्रिधातु और त्रिदोष में अधिक भेद करने की आवश्यकता नहीं। दोनों के लिए त्रिदोष शब्द का ही अधिकांश ग्रन्थों में प्रयोग हुआ है। इसका स्पष्टीकरण और त्रिदोषों का स्वास्थ्य से सम्बन्ध निम्नलिखित श्लोक से होता है:—

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषां समासतः।
विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ॥

अर्थात् संक्षेप में वायु, पित्त और कफ तीन दोष होते हैं। अविकृत रहने पर ये शरीर को रखते हैं और विकृत होने पर नाश करते हैं।

उक्त त्रिदोष और त्रिधातु सिद्धान्त रोगी की स्थिति का निदान करने तथा उसकी चिकित्सा करने में प्रत्येक आयुर्वेदिक चिकित्सक को इतना अधिक उपयोगी है कि उसका वास्तविक अभ्यास किये बिना शास्त्रीय रीति से निदान या चिकित्सा करना उसके लिए अशक्य हो जाता है। रोगों के निदान और चिकित्सा करने की यह शैली शास्त्रीय तथा इतनी अधिक विद्वत्तापूर्ण है कि एक बार इसको समझ लेने पर भयंकर से भयंकर रोगों में चिकित्सा मार्ग सुविधाजनक हो जाता है।

वायु, पित्त और कफ पाँच-पाँच प्रकार के होते हैं।

वायु : रजोगुणमय सूक्ष्म, शीतल, हलका और चंचल है। इसका स्थान कोठा, कंठ, हृदय, नाभि एवं मलस्थान में है। कंठ में उदान वायु, हृदय में प्राण वायु, नाभि में समान वायु, गुदा में अपान वायु और शरीरमात्र में ध्यान-वायु रहता है।

पित्त : सतोगुणमयी, गर्म, कटु, पीली और पतली है। यह नाभि स्थान

में अग्निस्वरूप, त्वचा में कान्तिकारक, आँखों में दृष्टिस्वरूप, प्रकृति में पाचन-स्वरूप और हृदय में बुद्धिकारक है।

कफ : तमोगुणमय, भारी, चिकना, ठंढा, उजला और मीठा है। इसका विशेष स्थान—मस्तक, कंठ, संधियाँ, हृदय एवं आमाशय है। वायु, पित्त और कफ शरीर का धारक होने के कारण धातु और रोगों के मूल कारण होने से दोष कहलाते हैं।

वात, पित्त और कफ मानव-शरीर की स्वाभाविक एवं अस्वाभाविक क्रियाओं के भौतिक सूक्ष्म तत्व हैं। कफ एवं पित्त तो विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन वात अदृश्य है। आकाश एवं वायु भूतों से वात, तेजस तत्व से पित्त तथा पृथ्वी और अप्‌तत्व से कफ उत्पन्न होता है।

उक्त त्रिधातु जिन-जिन भूतों से उत्पन्न होते हैं उन्हीं के गुण इनमें पाये जाते हैं, यथा:—आकाश और वायु से उत्पन्न होने के कारण 'वात' में उक्त भूतों की सूक्ष्मता एवं चलना इत्यादि गुण होते हैं और इसी वजह से यह शरीर के सूक्ष्म चल भावों का मूल कारण है।

अग्नि तत्व से उत्पन्न होने के कारण पित्त में उष्णता एवं तीक्ष्णता पायी जाती है जिसके फलस्वरूप यह उष्णता के कारण वशीभूत होकर मानव-शरीर की पाचनात्मक क्रिया का मूल कारण स्वरूप है।

पृथ्वी और अप्‌तत्व से उत्पन्न होने के कारण कफ में शीतलता एवं स्थिरता आदि गुण पाये जाते हैं, जिसके फलस्वरूप यह मानव-शरीर की स्थिरता और रचना का कारणस्वरूप है।

वायु : सर्व चेष्टा प्रवर्तक और मानव-शरीर रूपी यंत्र का संचालन कर्ता है कहा है कि पित्त, कफ, मल और सभी धातुएँ पंगु (लगड़े) हैं और जिस प्रकार मेघों को जहाँ-जहाँ वायु ले जाता है वहाँ-वहाँ वे बरसते हैं उसी प्रकार शरीरस्थ वायु जहाँ-जहाँ कफ एवं पित्त को ले जाता है वहाँ-वहाँ वे अपना कार्य करते हैं। अतः इसको सबल कहा जाता है। इसके द्वारा इन्द्रियों के विषय का ज्ञान होता है, रस-रक्तादि संवहन, श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ और पाचक रसों का प्रादुर्भाव होता है। स्थान एवं कर्मभेद से इसके विभिन्न नाम पड़े हैं।

प्राणवायु का स्थान हृदय है लेकिन कुछ आचार्यों के मत से इसका स्थान सिर भी माना गया है। प्राणवायु, चित्त, बुद्धि, हृदय तथा इन्द्रिय आदि का नियामक है। उदानवायु उर:स्थान में श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित एवं कंठ में शब्द उत्पत्ति करने के साथ बल और ओज को कायम रखता है। समानवायु, भोजन किये हुए पदार्थ को पचाकर **रस और मल को पृथक् कर देता है।** अपानवायु, मल, मूत्र, शुक्र, रज और गर्भ को बाहर निकालने वाला है। व्यान-वायु, रस, रक्त, स्वेद इत्यादि द्रव्यों की गति को नियंत्रित रूप से उचित रूप में रखता है।

पित्त को धात्वाग्नि और पाचक भी कहते हैं। इसको तेजस् अर्थात् शरीर की उष्मा और तेजोमय कार्यों का मूल कारण कहा जाता है। मानव-शरीर में पाचन-प्रणाली की प्रमुख वस्तु पित्त ही है। पाचनात्मक क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं, आहार द्रव्य को पचानेवाली और रस-रक्तादि धातुओं के प्रत्येक अवयव में होने वाली। दूसरी पाचन-प्रणाली को धात्वीय पाचन अर्थात् धातु-पाक कहते हैं।

आमाशय और पक्वाशय में पाचक पित्त का स्थान है। पाचक पित्त आमाशय को आमाशयरस, अग्न्याशय से अग्न्याशय रस और पक्वाशय या आँतों से आन्त्र रस विद्रवण करती है।

भोज्य पदार्थ आमाशय में पहुँचने पर आमाशय की अन्दर की झिल्ली को उत्तेजित करता है जिसके फलस्वरूप आमाशय से सूक्ष्म रस उत्पन्न होकर पाचन-क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पक्वाशय और आँतों की झिल्ली में भी एक प्रकार का सूक्ष्म रस रहता है। अम्लरस भोजन पक्वाशय में पहुँचता है तब उक्त सूक्ष्म रस, रक्त द्वारा अग्न्याशय में जाता है और उससे अग्नि रस को प्रवृत्त करता है। इस अग्नि रस से भोज्य पदार्थ का पूर्ण पाक हो जाता है। आँतों के अन्दर की झिल्ली में भी एक प्रकार का सूक्ष्म रस रहता है जिसके द्वारा 'मन्द' अग्न्याशय रस पुनः उत्तेजित होकर पाचन कार्य में समर्थ हो जाता है। उक्त तीनों सूक्ष्म रसों को **'पाचक पित्त'** कहते हैं।

कफ—'श्लिष आलिंगने' धातु से श्लेष्मा शब्द बना है जिसको यथार्थ में जोड़नेवाला कह सकते हैं। श्लेष्मा ही शरीर और मस्तिष्क रचना और वृद्धि का कारणस्वरूप है। इसकी अनियमित प्रक्रिया से शारीरिक अवयवों की कृशता, शिथिलता तथा मूढ़ता आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। पित्त अत्यन्त उष्ण होने के कारण इसका कार्य तोड़ने (Destruction) जैसा है जिसके साथ ही शारीरिक रचनात्मक कार्य (Constructive) हुआ करता है जो कफ का ही चमत्कार है।

रस या लसीका कफ के महत्वपूर्ण स्थान हैं। शारीरिक अवयवों में रचनात्मक कार्य रक्तद्रव और लसिका द्वारा ही सम्पन्न होता है। कफ से शारीरिक अवयवों, सन्धियों तथा आशयों में चिकनाहट कायम रहती है जिसके कारण स्वरूप शरीर के अंग-प्रत्यंग सुविधा से मोड़े और घुमाए जा सकते हैं।

कफ से शरीर में होने वाली क्षति की पूर्ति होती है। अतः इसको शारीरिक वृद्धि का साधन समझा जाता है।

यद्यपि वात, पित्त और कफ; प्रत्येक को पाँच-पाँच प्रकार का बताया गया है, उनके पाँच-पाँच अधिष्ठान भी बताये गये हैं और उनके पाँच-पाँच विशेष कार्य भी बताये गये हैं, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वे एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं और अपने-अपने स्थानों पर स्थिर होकर बैठते हैं। वस्तुतः तीनों दोष सम्पूर्ण शरीर में एक साथ सर्वत्र व्याप्त हैं और क्रियाशील हैं। बताये गये अधिष्ठानों में उनकी उक्त क्रिया विशेषतः प्रकट होती है।

त्रिदोष का वैज्ञानिक विवेचन

(सचित्र आयुर्वेद शा० च० वि०)

त्रिदोष सिद्धान्त आयुर्वेद का प्रधान सिद्धान्त है। यह निर्विवाद सत्य है कि त्रिदोष जैसे कोई पदार्थ शरीर में हैं; जिनकी उपस्थिति से शरीर की उपस्थिति, जिनकी विकृति से शरीर की विकृति और जिनके नाश से शरीर का नाश हो जाता है। इसलिए कहा है:—

'नर्ते देह कफदस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।' सु० सू० २१।४

शरीर में क्षण-प्रतिक्षण नाश एवं निर्माण की क्रिया होती रहती है। उत्पत्ति, विनाश अथवा वृद्धि-क्षण के इस तारतम्य को ही जीवन कहते हैं। यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि आखिर इस जीवन व्यापार का कर्त्ता है कौन ? तो उत्तर मिलता है—**'त्रिदोष'**। जीवन व्यापार रूपी प्रधान कर्म के अन्तर्गत तीन विशेष कर्म आते हैं—संयोग, वियोग और विक्षेप। इनके कर्त्ता के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होने पर पुनः उत्तर प्राप्त होता है—क्रमशः कफ, पित्त और वात। श्री सुश्रुताचार्य जी का कथन है कि--चन्द्रमा, सूर्य और पवन; जैसे विसर्ग (त्यागना), आदान (ग्रहण, और विक्षेप फेंकना) इत्यादि कर्मों से जगत् को धारण करते हैं उसी प्रकार कफ, पित्त और वात शरीर का पालन करते हैं। जैसे चन्द्रमा से आर्द्रता, सूर्य से आर्द्रता का आकर्षण और पवन से इधर-उधर जाना होता है इसी प्रकार त्रिदोष शरीर में अपना कर्म करते रहते हैं।

शरीर में उत्पत्ति पुष्टि और क्षति पूर्ति के लिए कफ आवश्यक है। इस कार्य के लिए शरीरानुरूप यथायोग्य परिवर्तन करनेवाला पित्त है तथा कफ एवं पित्त के कार्यों का संचालक एवं नियन्त्रक और शरीर की समस्त भौतिक क्रियाओं का सम्पादक जो पदार्थ है, 'वायु' है।

त्रिदोष का पाश्चात्य चि० विज्ञान से समन्वय का संक्षिप्त विश्लेषण

व्याख्या (Definition) : शरीरस्थ जो वस्तु प्राणियों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों की जननी, प्राकृत अवस्था में शरीर को धारण करनेवाली और विकृति अवस्था में स्वतन्त्र रूप से शरीर के अन्यतम विभाग को दूषित करने की शक्ति से सम्पन्न हो उसे—'दोष' कहते हैं। त्रिदोष नित्य उत्पत्तिशील, वृद्धिक्षय गुण-युक्त, प्रत्यक्ष्यादि प्रमाण सिद्ध दूषण स्वभाव विशिष्ट आहार परिणामावस्था तथा आहार परिणामाजन्यावस्था में दृष्ट, स्थूल शरीरमूल; पंचभौतिक द्रव्य हैं। दोष संज्ञा आयुर्वेद शास्त्र में दी गयी पारिभाषिक (स्व, रूढ़, विशिष्ट, अन्यशास्त्राऽसामान्या (Technical) संज्ञा है जो वात, पित्त एवं कफ नामक तीन शरीर द्रव्यों

को दी गयी है । इन्हें क्रमशः वायु अग्नि एवं श्लेष्मा भी कहते हैं । तीनों दोषों के समूह को त्रिदोष कहते हैं चाहे वे दोष रूप हों, धातु रूप हों अथवा मलरूप ।

त्रिदोषों को आधुनिक शब्दावली में समझाने का अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया परन्तु स्पष्ट शब्दों में न तो कोई समझा सका है न ही सभी विद्वान् एकमत हैं । फिर भी यह माना जा सकता है कि तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous System) को प्रेरित करने वाली शक्ति को वात तथा उसके द्वारा किये जाने वाले सभी कर्मों को वात के कर्म कह सकते हैं, रासायनिक क्रियाओं को करने वाली शक्ति को पित्त कह सकते हैं, चाहे वह पाचन का कार्य करे या चयापचय (Metabolism) की सभी क्रियाओं का सम्पादन करे या प्रकाश की सहायता से दृष्टिपटल (Retina) में होनेवाले परिवर्तनों से देखने का काम करे । इनमें उपचयात्मक (Anabolic) क्रिया को कफ की और अपचयात्मक (Catabolic) क्रिया को पित्त की क्रिया मान सकते हैं । शरीर की समस्त आर्द्रता को कफ माना जा सकता है । सभी श्लेष्म कलाओं (Mucous membranes) को उसका अधिष्ठान मान सकते हैं । इसका विस्तार से आगे विचार किया जायगा ।

संज्ञा विमर्श (Nomenculature)

शरीदूषणाद्दोषा धातवो देहधारणात् ।
वात पित्त कफाज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥

वात, पित्त, कफ के लिए उनकी अवस्थानुकूल दोष, धातु और मल तीन सार्थक संज्ञायें हैं किन्तु दोष शब्द ही उनकी प्रधान अथवा पारिभाषिकी अनन्य साधारणी संज्ञा है, क्योंकि स्वयं दुष्ट होना तथा दूषित करने का कार्य सिवा इनके रस रक्तादि धातु तथा पुरीषादि मलों में नहीं हैं । कहने का तात्पर्य ऐसा नहीं कि वे सदैव दूषण कार्य करते रहते हैं । किन्तु मतलब यह कि-वे दूषण स्वभाव विशिष्ट हैं । रसा द सप्तधातुएँ धातु कहलाती हैं और पुरीषादि मल कहलाते हैं । फिर भी प्रयुक्त स्थान को देख कर निश्चय कर लेना चाहिए कि धातु और मल शब्द—स्व संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं अथवा वातादि की आवस्थिक स्थिति

के निर्देशक हैं। दो दोषों के संयोग के लिए "सन्निपात" शब्द आयुर्वेद शास्त्र की संज्ञाएँ हैं।

त्रिदोष और शरीर रचना (Tridosh Anatomy)

(क) निर्माण (Origin or Development) त्रिदोष के निर्माण के संबंध में दो दृष्टिकोण से विचार करना है, एक दार्शनिक और दूसरा शारीरिक। दर्शन शास्त्र इस सिद्धान्त का मूलाधार है, इसलिए उससे अलग इसका विचार नहीं हो सकता।

दार्शनिक दृष्टिकोण

सम्पूर्ण जगत् पंचभूतात्मक है, इसी प्रकार यह मानव-शरीर भी है। संसार में पंच-भूतों में से तीन वायु, अग्नि और जल में ही प्रकृतितत्व तथा स्वतंत्र कर्त्तृत्व दोनों शक्तियाँ हैं। अतः ये तीन भूत ही चेतन संयोग से दोषों के प्रधान उपादान हैं। अन्य दो भूतों का सहयोग मात्र है। ये तीन भूत ही प्रधान उपादान क्यों हैं ? इसका विशद् विवेचन आगे किया जायेगा। ये भूत पंचीकृत हैं तथापि उनके निर्माण निम्नानुसार विशेष रूप से हुए हैं:—

'वात' : वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः—वायु प्रधान और आकाश सहयोगी है। वायु के गुणों में लघु और सूक्ष्म गुण विशेषकर आकाश के हैं और शेष 'वायु' के।

'पित्त' : आग्नेयं पित्तं। —पित्त तो विशेष कर अग्नि तत्व निर्मित मात्रा है। किन्तु उसमें कुछ जल तत्व का भी अंश रहता है। पित्त में स्निग्धता और द्रवता जल के गुण हैं तथा शेष अग्नि के।

'कफ' : अम्भःपृथ्वीभ्यां श्लेष्मा। कफ में गुरुता और स्थिरता विशेषकर पृथ्वी तत्व के गुण हैं तथा शेष गुण जल तत्त्व के हैं। (विशेष विवरण खण्ड 'ग' में देखें)।

दोषों का निर्माण पञ्चीकृत भूतों से ही हुआ है जैसे कि ऊपर कहा गया है। तन्मात्रा स्वरूप या परमाणु स्वरूप तत्त्वों से मानने पर शास्त्र में वर्णित गुण और कर्म का आरोप उनपर नहीं हो सकता, क्योंकि पंचभूतों के ये सूक्ष्म स्वरूप

सृष्टि के आदि में ही कर्त्ता रहते हैं, पीछे नहीं। सृष्टि के आदि नियमों का प्रयोग सृष्टि हो जाने पर दुबारा नहीं होता। द्वितीय, यह त्रिदोषात्मक शरीर अनित्य है जबकि परमाणु तत्त्व नित्य हैं, अतः ये वातादि दोषों के उपादान नहीं हो सकते। यह माना जा सकता है कि नित्यत्वेन परमाणु रूप तत्त्व व्यापक है, वैसे ही इस शरीर में भी वे उपस्थित हैं लेकिन चिकित्सा-शास्त्र में उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।

शारीरिक दृष्टिकोण

१. गार्भिक (Embryological)—**कहा है:—**

"वात पित्तश्लेष्माण एव देह सम्भव हेतवः" तदनुसार शुक्र और रज जिनसे गर्भ की स्थिति होती है, त्रिदोष स्वरूप ही हैं। तत्पश्चात् गर्भनाल से जो माता का रक्त शिशु में प्रवेश कर शिशु का पोषण करता है वह भी त्रिदोषात्मक है। इस प्रकार शरीर मूलतः पूर्ण रूप से त्रिदोषयुक्त होता है। तीनों दोष उत्पादन रूप से प्राप्त होते हैं, अतः गर्भावस्था में स्वतंत्रतया उनके निर्माण का प्रश्न नहीं उठता। आगे जाकर गर्भकालीन क्रिया विज्ञान में जो वात, पित्त एवं कफ के स्थान तथा कार्यों का वर्णन किया, उससे इनकी मौलिक स्वतःसिद्ध स्थिति का और भी निर्णय हो जाता है।

२. जन्मोत्तर (Post-natal) :—

जन्म के पश्चात् शरीरस्थ त्रिदोष की प्राकृत मात्रा रखने के लिए एवं शरीर की वृद्धि के लिए मुख द्वारा आहार की व्यवस्था नियति के द्वारा की गई है। इस पञ्चभौतिक षड्रसात्मक आहार से अन्न परिपाक होकर पूर्व दोषों के पोषणार्थ नव्य दोषों का निर्माण जिस प्रक्रिया से होता है महर्षि चरकाचार्यजी ने 'चरकसंहिता; के ग्रहणी चिकित्सा अध्याय में विशद् वर्णन किया है, यथाः—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। (च०,-चि० १५। ९-१०-११।)

उपर्युक्त विधि से दोषों का नवीन निर्माण बराबर होता रहता है। पञ्चभूतात्मक निर्जीव आहार में सजीवता अभिव्यक्त होने से त्रिदोष का निर्माण होता है, जिससे वह शरीर जातीय पदार्थ होता है, उसका शोषण तथा शरीर का

पोषण और वर्धन होता है। इनके उत्पादन में सहायक महास्रोतस्थ तीन दोष हैं, तथापि इनमें पित्त सर्वप्रधान है। लेकिन कुछ विद्वान् पाचन कार्य जठराग्नि द्वारा मानते हुए भी उसके अन्तर्गत निम्नलिखित तीन भेद मानते हैं :— कफाग्नि, पित्ताग्नि और वाताग्नि। ये दोष अन्न परिपाक कर आहार रस निर्माण द्वारा, अपि च स्वयं भी उसमें कुछ मिश्रित होकर शरीरस्थ दोषों का अनुग्रह करते हैं।

विपाक में बतलाया गया है :—

कटुतिक्त कषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्ल पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा॥ च० सू० २६।५५

तदनन्तर ५८ व ५९ वें श्लोक में बतलाया गया है कि मधुर विपाक से कफ, अम्ल से पित्त और कटु से वात उत्पन्न होता है। इस तरह अन्न-प्रणाली में ही षड्रस आहार से क्रमशः कफ, पित्त और वात का निर्माण होता है। कहा भी है, :—"भुक्तानां तेऽन्तमध्यदिगाः कतात्" अर्थात् भोजन के पश्चात्—कफ, पाच्यमानावस्था में पित्त और परिपाक के पश्चात् वात की वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष में भी भोजन के पश्चात् गौरव, आलस्य एवं निद्रा आदि की अनुभूति कफ वृद्धि के ही द्योतक हैं। निघंटु शास्त्र में जो वात-पित्त-कफवर्धक द्रव्यों का विवेचन किया गया है; उससे स्पष्ट है कि आहार से महास्रोत में तीन दोषों का निर्माण होता है। सुश्रुत संहिता के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट झलकता है कि आहार परिपाक की किस अवस्था में किस दोष की उत्पत्ति होती है, :—

अविदग्धः कफं पित्तं विदग्धः पवन पुनः।
सम्यग्विपक्वो निःसार आहारं परिबृंहयेत्॥

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पाचन क्रिया से महास्रोत में दोषों का निर्माण होता है। त्रिदोषात्मक आहार रस का शक्त्युकर्ष सम्पन्न भाग त्रिदोष का तथा शक्तिहीन भाग सप्तधातु का निर्माण करते हैं। ये धातुएँ त्रिदोष का ही शक्तिहीन अंश हैं जो शरीर रचना में भाग लेती हैं, ऐसा आगे स्पष्ट किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार महास्रोत में आहार के प्रसाद भाग से तीन दोषों की उत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है किन्तु शास्त्र में कहीं-कहीं अन्न के किट्ट भाग से वायु, रसकिट्ट से कफ और रक्तकिट्ट से पित्त का उद्गम बतलाया गया है, यथा—

अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ॥ च० सू० २८४ चक्र०

त्रिदोष के समान शक्तिसम्पन्न पदार्थ जिन्हें भगवान कह कर संबोधन किया गया हो (जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः । तथा स्वयं भूरेष भगवान् वायुरित्युभिशब्दितः इत्यादि) तथा जो शरीर में वायु, सूर्य और चन्द्र की कोटि के समझे गये हों,—वे न तो किसी चीज के मल हो सकते हैं और न शक्तिहीन किट्ट भाग से उनकी उत्पत्ति ही हो सकती है। अपि च आहार एवं रस तथा रक्त के प्रसाद भाग में और प्रसाद भाग में बसनेवाली वस्तुओं में भी वह शक्ति नहीं है जो 'त्रिदोष' है। अतः इसका उद्गम उनके किट्ट भाग से कदापि सम्भव नहीं है। एक बात और है कि शोणित का अन्तर्भाव पित्तवर्ग में किया गया है (कफवर्गेभवेच्छुक्रं पित्त वर्गे तु शोणितम्), अतः पित्त व्यापक और शोणित व्याप्य है। ऐसी हालत में पित्त को रक्त का मल मानना उचित नहीं है।

यदि मान लिया जाय कि शक्तिसम्पन्न प्रसादरूप दोष दूसरे हैं और यह स्थूल मल रूप दोषों की उत्पत्ति है तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि दोषों के दोनों प्रकार की उत्पत्ति अलग-अलग नहीं होती। प्रसादरूप दोष ही जब अधिक दूषित हो जाते हैं और शरीर के लिए हानिकारक होते हैं तब वे ही मल संज्ञा से व्यवहृत होते हैं।

बात असल यह है कि जिस प्रकार धातुओं में निरन्तर वृद्धि एवं क्षय होता रहता है उसी प्रकार दोषों की प्राकृतिक-अवस्था में भी उसको शुक्ल एवं साम्य स्थिति में रखने के लिए उनसे क्षीण, शक्तिहीन और अनुपयोगी भाग मल के रूप में निकलता रहता है। यह उसी मल का वर्णन है। लेकिन वातादि के दूषित या विकृत होने से ये मल नहीं बने हैं तथा दोष विकृत-जन्य कामों से पार्थक्य बना रहे। इसलिए उनका उद्गम वातादि दोष न बताकर उनके उन प्रधान आश्रित स्थानों को बताया है जहाँ वे अधिक उत्पन्न होते हैं। यह

संशोधन की एक स्वाभाविक क्रिया है जो दिन-प्रतिदिन होती रहती है तथा जिससे दोष नष्ट होने की स्थिति में नहीं आ पाते तथा शरीर स्वस्थ रहता है। यह क्रिया प्रत्यक्ष में ही देखी जाती है तथा वायु का अधोभाग से निकलना तथा पित्त का मल-मूत्र के साथ निष्क्रमण। उक्त क्रियाओं के पश्चात् मनुष्य स्वभावतः अपने को स्वस्थ अनुभव करता है।

मल तथा मूत्र में जो रंग रहता है वह पित्त (Bile-बाइल) के रञ्जक तत्वों के कारण है जो क्रमशः 'Stercobilin' तथा 'Urobilin' या 'Urobilinogen' कहलाते हैं। यह विवेचन पित्त (Bile) के मल रूपी त्याज्यांश का है। मूत्रद्वारा जो 'Bile' का अंश परित्यक्त होता है वह रक्त से आता है क्योंकि वृक्क रक्त से ही निरस्यन्दन क्रिया द्वारा मूत्र का निर्माण करते हैं। इसी लिए पित्त को रक्त का मल बतलाया है। इसी प्रकार वायु और कफ के उद्गम अन्न और रस के भी सम्बन्ध में समझना चाहिए।

दार्शनिक दृष्टिकोण

(ख) स्वरूप (Classical outlook)—त्रिदोष सचेतन अथवा जीवाधिष्ठित द्रव्य हैं। नैयायिकों के मत से सात पदार्थ हैं 'शक्ति' एक अष्टम माना जाय, इस बात का नैयायिकों ने खण्डन करके उसका अन्तर्भाव गुण में ही किया है। त्रिदोष ऐसे शक्तिसम्पन्न द्रव्य हैं कि कई विद्वान उन्हें शक्ति रूप ही मानने लगे हैं। किन्तु शक्ति गुण से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने उसे गुण स्वरूप माना है, कोई-कोई विद्वान्, दोषों को द्रव्यस्वरूप मानते हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गुण और गुणी (द्रव्य) में कोई विशेष भेद नहीं हैं। अतः उन्हें कुछ भी कह सकते हैं, फिर भी दोनों में द्रव्य की प्रधानता है। क्योंकि द्रव्य में गुण से सापेक्ष नित्यता है तथा गुण बिना द्रव्याधार के नहीं रह सकते। महर्षि चरक ने लिखा है:—

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तत्द्रव्यम् ॥

द्रव्य गुणों का समूह है। आयुर्वेदोक्त १० गुणों के तीन समुदायों से श्लेष्मादि तीन दोष बने हैं। इस प्रकार प्रत्येक दोष में कई गुण हैं, अतः उन्हें

द्रव्य मानना ही उचित हैं। इसके अतिरिक्त दोषों में द्रव्य के उपर्युक्त लक्षण ठीक जमते हैं। इसलिए दोष द्रव्य स्वरूप ही है। तीन दोषों के कारण जो पंचमहाभूत हैं वे द्रव्य हैं। कारणानुरूप कार्य होता है, अतः कार्य ही द्रव्य होना चाहिए। तर्क संग्रह में लिखा है:—

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाश काल दिगात्मा मनांसि नवैव ॥

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रव्य नौ हैं तो दोष तीन ही क्यों माने गये। यद्यपि इस शंका का विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं हैं तथापि संक्षेप में इसका समाधान निम्न प्रकार है:—

द्रव्यों के सम्बन्ध में कहा है—'तत्र सक्रियाणि वायुतेजोऽम्बु पृथ्वी मनांशि स्वभाव सिद्धानि, स्वात्मकालदिशश्च निष्क्रिय स्वभावसिद्धः' चार निष्क्रिय द्रव्यों में दोष की पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति न होने से दोषत्व नहीं हो सकता। शेष पाँच सक्रिय द्रव्यों में मन का कार्य इन्द्रियमार्ग द्वारा होने के कारण उन्हीं के अधीन है जो आयुर्वेद, न्याय तथा वेदान्तानुसार पंचभौतिक है। इसलिए पंचभूत से अतिरिक्त मन की कल्पना, दोष, समवाय के लिए करना आवश्यक है। इसके सिवा ज्ञान और कर्म सम्पादनार्थ विविध इन्द्रियाधीन रहने के कारण मन की गणना सक्रिय द्रव्यों में होने पर भी वह स्वतंत्र कर्तृत्व शक्ति से हीन है। अतः दोष होने का अधिकारी नहीं है। पृथ्वी की गणना सक्रिय द्रव्यों में अवश्य की है किन्तु वह अन्य भूतों का अधारभूत है, लिखा भी है—'स्थिरगतिः पृथिव्याः कर्म।' जबकि कर्म को व्याख्या में बतलाया है—'चलनात्मकं कर्म।' दूसरी बात यह है कि पृथ्वी की तथाकथित क्रिया स्वतंत्र न होकर परतंत्र है—

अग्नेरुर्ध्व जलनं निम्नगमनं चापांकर्म।
नोदनादभिघातात् संयुक्त सयोगाच्च पृथिव्यः कर्म ॥

अतः पृथ्वीतत्व, दोष नहीं हो सकता। पंच महाभूतों में से पृथ्वीतत्व इस तरह से बहिष्कृत हो गया। आकाश तत्व शून्य होने से निष्क्रिय है ही। इसके सिवा वह परमाणु रूप नित्य है जब कि अन्य भूत नित्यानित्य तथा परमाणु रूप

और कार्यरूप दो तरह के होते हैं। रोग उत्पन्न करने के लिए दोष में विकृति होना आवश्यक है। नित्य परमाणु रूप होने से आकाश में कोई विकृति नहीं होती अतः वह दोष नहीं हो सकता। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वायु, अग्नि और जल प्रधान रूप से क्रमशः वात, पित्त और कफ के उपादान हैं। पृथ्वी और आकाश का केवल सहयोग मात्र अपेक्षित है। त्रिदोष जीवित शरीर में ही क्रियाशील होते हैं। अतः आत्मा की अवस्थिति उनके लिए आवश्यक है। कारण और दिशा सबके समान दोषों के साथ भी नित्य सम्बन्धी हैं तथा सब कार्यों के समान इनके प्रति निमित्त कारण हैं, किन्तु इसका कोई विशेष महत्व नहीं है।

भौतिक एवं शारीरिक दृष्टिकोण

अधिकतर वात का स्वरूप वायवीय (Gassious), पित्त का तरल (Liquid) तथा कफ का अर्ध घन (Solid) है। किन्तु यह परिवर्तनशील तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है।

त्रिदोष अन्नप्रणाली में अपेक्षातर स्थूल है, यथा क्लेदक कफ और पाचक पित्त पश्चात् उनका स्वरूपान्तर होने से वे प्रायः सूक्ष्म रहते हैं; तथा कहीं-कहीं स्थूल स्वरूप दिखाई देता है। वायु पूर्णतया सूक्ष्म रूप है और उसकी सूक्ष्मता उसके गुणों में भी स्पष्ट की गयी है—

तत्र रूक्षोलघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।

(ग) गुणधर्म (Physico-Chemical form)—शरीर व्यूह घटक के रूप में पूर्णतया और व्यापार घटक के रूप में अंशतः दोष सूक्ष्म ही हैं इसलिए श्री चरकाचार्यजी ने सर्व प्रथम सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में प्रत्यक्षतः वातादि के गुणन कह कर वातादि को शान्त करने वाले द्रव्यों के विपरीत गुणों का उल्लेख किया है, जिससे वातादि के गुणों का अनुमान कर लेना चाहिए। इस तरह उल्लेख करने के पश्चात् श्री चरकाचार्य ने अन्य स्थानों पर दोषों के स्पष्ट गुण को लिखा है। वाग्भट्ट ने जो गुण लिखा है वह चरक के आधार पर

हो सकते हैं। इस तरह दोषों के गुण, द्रव्य-प्रभाव को देखकर अनुमान पर अथवा स्थूल और मल रूप दोनों के प्रत्यक्ष पर आधारित हैं।

वायु का स्पर्श-शीत, रुक्ष एवं खर तथा स्वाद कषाय है। पित्त का स्पर्श-उष्ण तथा स्निग्ध और स्वाद अम्ल एवं कटु है। उसका वर्ण अपक्वावस्था में नील तथा पक्वावस्था में पीत है। कफ का स्पर्श शीत, स्निग्ध और श्लक्ष्ण तथा स्वाद पक्वावस्था में मधुर और अपक्वावस्था में लवण है और वर्ण श्वेत है। पित्त विस्म गन्धी अर्थात् रक्त की गन्ध सदृश्य या आम गन्धी होता है। वात और कफ की गन्ध का शास्त्र में कोई उल्लेख नहीं है। तीनों दोषों के नाड़ीगत विविध स्पर्श का वर्णन नाड़ी विज्ञान (Science of Pulse feeling) का विषय है। वायु-योग वाही होने से पित्त के संयोग से उष्ण भी हो जाता है। वायु रजोगुणयुक्त, पित्त सतोगुणयुक्त तथा कफ तमोगुणयुक्त रहता है। वात-पित्त में लघु गुण का, वात-कफ में शीतगुण का और पित्त-कफ में स्निग्ध गुण का साधर्म्य है। अन्य गुणों का तीनों दोषों में वैधर्म्य है।

(घ) परिमाण (Quantity)

श्री सुश्रुताचार्य ने दोषों का प्रमाण देना अशक्य बताया है—

वैलक्षण्याच्छरीराण मस्थायित्वा तथैव च।
दोषधातु मलानान्तु परिमाण न विद्यते ॥

किन्तु चरकादि ग्रंथों में दोषों का परिमाण दिया है। यह परिमाण उनकी साम्यावस्था या प्राकृतावस्था का है। प्रायः विकृत होने पर उनमें अस्थायित्व होता है। यद्यपि प्राकृत अवस्था में भी कुछ कमी-बेशी होती है लेकिन यह अत्यल्प और क्षणिक रहती है। शास्त्रों ने जो यत्किञ्चित् प्रमाण दिये हैं, वे दोषों के स्थूल अंश के ही सम्भव हैं, सूक्ष्म के नहीं। चरकादि ग्रन्थों के प्रमाण स्वहस्त द्वारा (स्वेनाञ्जलि प्रमाणीन) होने से दीर्घ ह्रस्व रूपी जो शरीर का वैलक्षण्य है वह तिरस्कृत हो जाता है। फिर भी चरकाचार्यजी ने लिखा है—

'तत् परं प्रमाणमभिज्ञेयं तक्चवृद्धिह्लास योगी, तर्क्यमेव।'

चरकाचार्य जी ने मस्तिष्क का माप अर्धाञ्जलि (मस्तिष्कस्यार्द्धञ्जलिः—च० शा० ७) अर्थात् ६ औंस या १८० धन सेन्टीमीटर (C. C.) दिया है चूंकि

मस्तिष्क एक ठोस पदार्थ है तथा प्रत्यक्ष में उसका अर्धाञ्जलि होना सम्भव नहीं है, अतः यह निश्चित है कि नाप मस्तिष्क का नहीं बल्कि मस्तिष्कान्तर्गत तर्पक कफ (Cerebrospinal Fluid) का है। यहाँ एक अलंकार है; जिसमें वस्तु के बदले में उसके अधिष्ठान का प्रयोग किया है। इस अलंकार को अंग्रेजी में (Metonymy) कहते हैं। आधुनिक मत से तर्पक कफ (C.S. Fluid) का माप ५ औंस या १५० घन सेन्टीमीटर है जो प्राच्य मत से मिलता-जुलता है तथा ऋषियों के गम्भीर ज्ञान का परिचायक है।

वायु की सूक्ष्मावस्था के कारण उसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया। किन्तु एक जैन ग्रंथ में वायु का प्रमाण मिलता है, जो कहाँ तक उपयुक्त है विचारणीय है—'वातार्बुद' पलं ज्ञेयमिति'। वाह्य वायु एवं विद्युत् शक्ति के समान वात के अच्छे-बुरे कार्य देखे जाते हैं तथा यदि उसका कोई मीटर अर्थात् मापक-यन्त्र भविष्य में बन सका तो विद्युत् (Electric) के समान यूनिटों में अथवा वायुमण्डल के वायुदाब के समान (Millimeter of Mercury) में उसका माप किया जा सकेगा, ऐसी आशा है। रक्तचाप-मापक यन्त्र द्वारा जो रक्तचाप नापा जाता है वह रक्तस्थ वात का ही माप है जो प्राकृतिक और विकृत अवस्था में भिन्न-भिन्न रहता है।

(च) भेद तथा कोषाणु विज्ञान (Kinds of Cytology)

दोषों के दो मुख्य प्रकार हैं :—

(१)—शरीर व्यूह घटक अर्थात् शरीर के उपादान रूप और (२)—शरीर व्यापार घटक अर्थात् शारीरिक क्रियाओं के कर्ता रूप।

पञ्चभूतात्मक आहार रस से प्रसाद रूप त्रिदोषों का निर्माण होने के पश्चात् उनका कुछ भाग साधारण शक्तियुक्त और कुछ विशेष शक्तिसम्पन्न हो जाता है। प्रथम भाग शरीर रचना में और दूसरा शरीर क्रियाओं के करने में भाग लेता है। तद्वत् कुछ भाग सूक्ष्म व कुछ स्थूल रहता है। शरीर व्यूह घटक विभाग सप्त धातुओं में रूपान्तरित हो जाने से प्रायः सूक्ष्म ही है, क्योंकि यद्यपि सप्त धातुएँ दृश्यमान हैं, किन्तु वहाँ त्रिदोष स्पष्ट नहीं दिखायी देते। गुण और

कर्मों के द्वारा दोषों की उपस्थिति का अनुमान होता है। शरीर व्यूह घटक दोषों के निर्माण में पृथ्वी और आकाशतत्व का भाग इतर की अपेक्षा अधिक रहता है क्योंकि ये निष्क्रिय महाभूत हैं और इसलिए दोषों का यह विभाग साधारण शक्तियुक्त रहता है।

प्रसादरूप त्रिदोष का वह भाग जो शक्तिसम्पन्न और शरीर व्यापक घटक के रूप में रहता है, सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार का रहता है। सूक्ष्म का अनुमान क्रियाओं द्वारा हो जाता है। स्थूल में क्रियायें भी होती हैं वह दृश्यमान भी है। सप्तधातु में शक्तिसम्पन्न स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के दोषों के लिए मार्ग साधन का कार्य करती है तथा प्रधानतया नाड़ी धातु (Nervous Tissue) वायु प्रतान द्वारा वातार्थ, रक्तधातु रक्तप्रणालियों (Blood Vessels) द्वारा पित्तार्थ तथा रसधातु रसायनीय (Lymphatics) द्वारा कफार्थ मार्ग साधन करते हैं तथा तद् दोष भूयिष्ट रहते हैं। ये धातुएँ और उनकी प्रणालियाँ सर्व शरीरव्यापी होने से त्रिदोष शरीर व्यापार घटक की अवस्था में भी व्यापक हैं यद्यपि शरीरव्यूह घटक त्रिदोष की अपेक्षाकृत व्याप्य हैं उनका व्यापकत्व सर्व शरीरस्थ होने की अपेक्षा सर्व शरीरचरत्व होने के कारण विशेष है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि शरीर व्यापार घटक त्रिदोष, क्रिया शरीर दृष्ट्या (Physiologically) व्यापक है और शरीर व्यूह घटक त्रिदोष, रचना शारीर दृष्ट्या (Anatomically) व्यापक है।

व्यूह घटक दोषों का वर्णन आयुर्वेद में सप्त धातुओं के रूप में हैं। व्यापार घटक दोष ही दोषों के नाम से यथार्थ में व्यवहृत होते हैं, अतः अब उसके भेदों का वर्णन देखिए। स्वरूप के अनुसार इसके प्रसाद और मल तथा सूक्ष्म और स्थूल भेद इसी बिन्दु के (ख) खण्ड में दिये जा चुके हैं। अब स्थान और कर्म के अनुसार विभक्त प्रत्येक दोष के पाँच-पाँच भेदों का उनके सूक्ष्म और स्वरूपों सहित निरूपण देखिए :—

(१) पांच-पांच भेदों का निरूपण—

वायु—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

पित्त—आलोक, रंजक, साधन, पाचक और भ्राजक ।

कफ—अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेषक ।

(२) **सूक्ष्म एवं स्थूल निरूपण**—

वायु-सूक्ष्म—पाँचों भेद सूक्ष्म हैं । स्थूल कोई नहीं है ।

पित्त-सूक्ष्म—आलोचक, रंजक, साधक और भ्राजक तथा धात्वग्नि संज्ञक । पाचक पित्त जो रस रक्तादि धातु विपरिणामिनीं क्रिया करता है यह स्थूल पाचक पित्त का सूक्ष्म संचारी भाग है ।

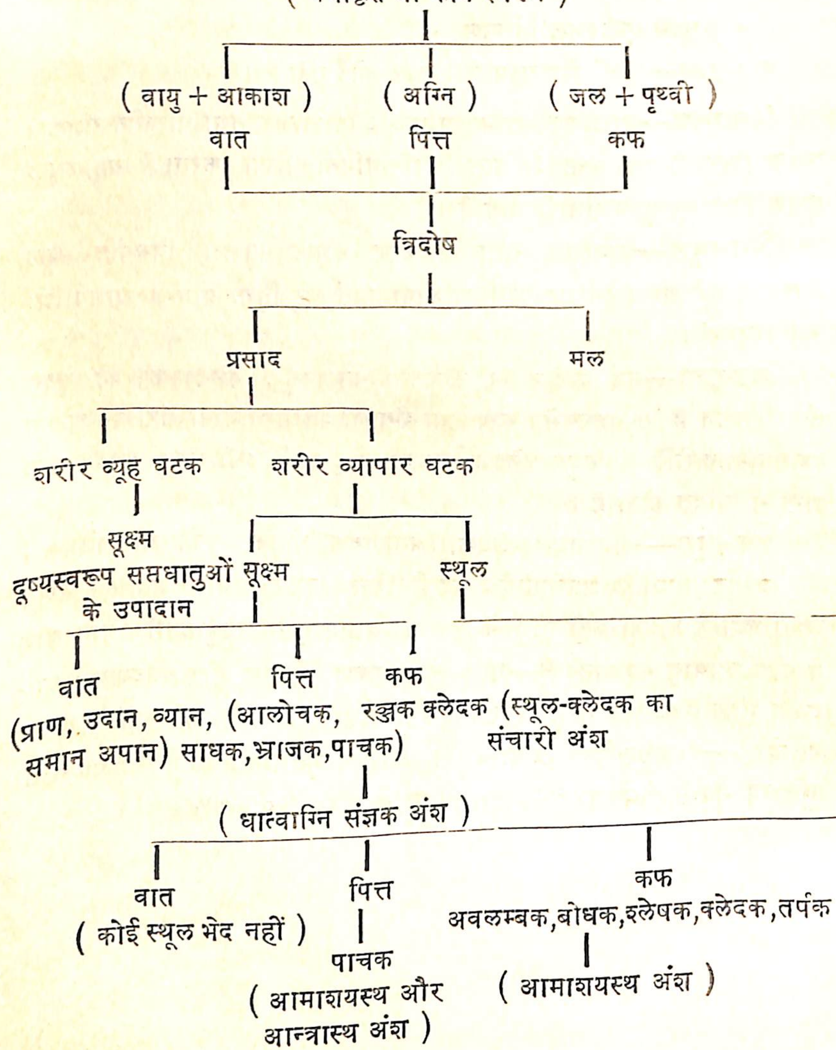
पित्त-स्थूल—आमाशय तथा आन्त्रस्थ पाचक पित्त । त्रिरूपंहि स्थूल पित्तंआमाशये अम्ल रसं ग्रहण्यां पित्त कोषादागतं कटु तिक्त प्रायं अग्न्याशयान्निःस्सृतं कटुरसं ।

कफ-सूक्ष्म—सर्व शरीर चर क्लेदक । यह स्थूल क्लेदक कफ का सूक्ष्म संचारी भाग है 'स तत्रस्थमेव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्थ चोदक कर्मणानुग्रहंकरोति ।' स्थूल क्लेदक कफ का यह कार्य इसी सूक्ष्म क्लेदक कफ द्वारा सम्पादित होता है ।

कफ-स्थूल—आमाशयस्थक्लेदक, अवलम्बक, बोधक, तर्पक और श्लेषक ।

वस्तुतः दोषों के अपरिसंख्येय भेद हैं किन्तु ऊपर प्रधान भेदों का वर्णन किया गया है । कहीं-कहीं वायु के ४९ भेद बताये हैं । उपयुक्त पाँच वायु और ये पाँच उपवायु कहलाती हैं—नाग, कूर्म, कृकण, देवदत्त और धनञ्जय । धनञ्जय मृतक अवस्था में भी रहती है इसी प्रकार पित्त के कहीं-कहीं १३ भेद बताये हैं—१ जठराग्नि, ७ धात्वाग्नि और ५ भूताग्नि । महर्षि चरक ने तो वृद्धिक्षय भेद से दोषों के ६२ भेद गिनाया है । च० सू० १७।४२···· ।

दोषों के निर्माण, स्वरूप एवं भेद तालिका—



कोषाणु विज्ञान (Cytology)

दोष भेद का विवेचन करने के पश्चात् कोषाणु विज्ञान का संक्षिप्त वर्णन यहाँ देने का तात्पर्य यह है कि उसका सम्बन्ध इस प्रकरण में वर्णित शरीर व्यूह घटक त्रिदोष से है। त्रिदोष का यह विभाग सप्तधातुओं से समवाय सम्बन्ध के रूप में सम्पूर्ण शरीर में व्यापक है धातुओं के सूक्ष्मतम अंश कोषाणु या सेल (Cell) में क्रमशः जलीयत्व, ताप और चलत्व गुणों से कफ, पत्ति और वात की प्रतीति होती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कोषाणु में वातादि त्रय, उपस्थित हैं। आधुनिक मतानुसार चेतन पदार्थों में निम्नोक्त आठ क्रियाएँ होती हैं।

१—आहार ग्रहण और आत्मसादन। २—श्वासोच्छ्वास।

३—गमन। ४—मल विसर्जन।

५—प्रजनन। ६—आघात प्रतिक्रिया।

७—वातावरणानुकूल परिवर्तन। और ८—मरण।

उक्त क्रियाएँ कुछ न कुछ अंश में शरीर के प्रत्येक कोषाणु में पायी जाती हैं, जिसकी पुष्टि प्रायोगिक परीक्षाओं द्वारा हो चुकी है। उनका सम्बन्ध त्रिदोष के भावाभाव तथा उसके विभिन्न अवयवों से है। अतः निश्चित होता है कि प्रत्येक कोषाणु में त्रिदोष अवस्थित हैं। कोषाणु का कौन-सा भाग किस दोष का है, दशम विन्दु में देखें।

ये कोषाणु शरीर निर्माण की इकाई (Unit) हैं। इन ईंट रूपी इकाइयों के संयोग से अंग, संस्थान तथा धातुओं (Organs, Systems or Tissues) का निर्माण होकर शरीर रूपी भवन तैयार होता है। उक्त कोषाणु गतिहीन और गतिमान दो प्रकार के होते हैं। रस, लसीका, शुक्र आदि द्रव धातुओं में उपस्थित कोषाणु गतिमान तथा अस्थि मांसादि ठोस धातुओं में गतिहीन हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन गतिहीन सेलों में भी अपने स्थान पर कुछ न कुछ गति, होती ही रहती है, किन्तु वे गतियुक्त कोषाणु के समान भ्रमणशील नहीं हैं।

यहाँ पर शंका हो सकती है कि गति वायु का धर्म है तथा वायु का स्थान इतर धातुओं की अपेक्षा अस्थि में विशेष है (तत्राऽस्थिनि स्थितोवायुः) रस और शुक्र कफ प्रधान तथा रक्त—पित्त प्रधान धातु है। अतः अस्थि में कोषाणुओं का स्थिर रहना और रस, रक्त तथा शुक्र के अणुओं का गतियुक्त होना कैसे सम्भव है ?

समाधान—प्रत्येक दोष में अनेक गुण हैं (चौथे विन्दु के (ग) खण्ड देखें।) उनमें से दोषों के सब गुणों का एक साथ तथा एक प्रमाण में होना आवश्यक नहीं है। यद्यपि रस, रक्त और शुक्र वात प्रधान धातुएँ नहीं हैं तथापि तत्रस्थ वायु में उसके अन्य गुणों की अपेक्षा लघुत्व और चलत्व गुण सर्वाधिक रहते हैं। अतः इन द्रव धातुओं के अणु गतिशील होते हैं। अस्थि में पित्त और कफ की अपेक्षा वायु का आधिक्य होने से वह वात-प्रधान धातु है किन्तु तत्रस्थ वायु में चलत्व गुण बहुत कम तथा वायु के शेष गुण–रूक्षता एवं सरता आदि विशेष रहने से उसके अणु रस रक्तादि के समान गतिशील नहीं हैं। द्वितीयतः—अस्थि मांसादि ठोस धातुओं में त्रिदोष के अतिरिक्त पृथ्वी तत्त्व तथा रस रक्तादि द्रव धातुओं में आकाश तत्त्व अधिक रहने से, ठोस धातुएँ गुरू एवं स्थिर तथा द्रव धातुएँ लघु एवं चल हैं। गुरु धातुएँ पृथ्वी तत्त्व के आधिक्य के कारण स्वभावतः स्थिर हैं उन पर वायु के चलत्व गुण का प्रभाव भी कम होता है। द्रव धातुएँ जल तत्त्व के कारण स्वभावतः गतिशील हैं और आकाश तत्त्व के आधिक्य के कारण उनके लघु होने से वायु के चलत्व गुण का प्रभाव गुरु धातुओं की अपेक्षा उन पर अधिक होता है।

स्थान (Sites)

उपरिनिर्दिष्ट विवेचन से सिद्ध होता है कि प्रत्येक कोषाणु या सेल त्रिदोष का स्थान है लेकिन यह बात व्यूह घटक त्रिदोष के लिए विशेष रूपेण लागू होती है। व्यवहार और उपयोग की दृष्टि से व्यापार घटक त्रिदोष अधिक महत्व के हैं। अतः अब उसके प्रधान स्थानों का विवरण देखें।

तीन दोषों के स्थान

यद्यपि वायु, पित्त एवं कफ सम्पूर्ण शरीर में व्यापक अथवा सर्व-शरीर चर हैं तथापि इनके विशिष्ट स्थान क्रमशः हृदय और नाभि के नीचे मध्य और ऊपर हैं। त्रिदोष शरीर मात्र में व्यापक एवं चर होने पर भी वात, पित्त एवं कफ के उक्त मुख्य तीन स्थान बताने के कारण :—

१. पाचन क्रिया के समय अन्न प्रणाली में इन्हीं तीन स्थानों में उनका उद्‍गम होता है।

२. दोष जब वृद्ध एवं कुपित हैं तो इन्हीं स्थानों पर सञ्चित हो, विभिन्न भागों में प्रसूत होते हैं।

३. निदानार्थ दोषों के व्यवहारोपयोगी मल परिणाम या विकृत स्वरूप का दर्शन यहीं से निकले हुए कफ, पित्त और वायु से होता है। पित्तज्वर और अम्लपित्त में आमाशय एवं ग्रहणी में पित्त का सञ्चय हो वमन में हरा, नीला, पीला-कट्वम्ल रसयुक्त द्रवरूप पित्त प्रत्यक्ष गिरता है। न्यूमोनिया और कास-श्वासादि में श्वेत-पिच्छिल मल रूप कफ फुफ्फुस एवं श्वास मार्ग से निकलता है। आध्मान एवं ग्रहणी आदि में मल रूप अधोवायु पक्वाशय से कुपित हो गुद-द्वार से सशब्द बाहर आती है। त्रिदोष के मल उनके कार्य अथवा परिणाम हैं। अतः यदि कारण स्वरूप सूक्ष्म दोषों के स्थान न बताकर कार्यरूप स्थूल मलों के स्थान बता दिये गये तो, अनुचित नहीं।

४. चिकित्सा में दोष शान्ति के लिए जो वमन, विरेचन और वस्ति आदि का प्रयोग होता है उसके द्वारा तत्स्थानीय प्रकुपित कफ, पित्त एवं वायु निष्कासित होते हैं और प्रत्यक्ष रूप से तज्जन्य रोगों की शान्ति देखी जाती है।

५. वात संस्थान का केन्द्र शिरस्थ मस्तिष्क होने के कारण वायु का प्रधान स्थान मस्तिष्क बतलाना चाहिए था; ऐसी एक शंका होती है। किन्तु उपर्युक्त कारणों से शंका समाधान हो जाता है। इसके सिवा शरीर के हृदय, फुफ्फुसादि आन्तरिक अंगों की क्रिया के लिए, मस्तिष्क—सौषुम्निक नाड़ी संस्थान की अपेक्षा स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान का विशेष महत्व है। इसका मस्तिष्क जिसको

उदर्य मस्तिष्क (Abdominal Brain) कहते हैं, वह तथा सुषुम्नामूल पक्वाशय के समीप है। अतः इस प्रकार भी "वात" का प्रधान स्थान पक्वाशय कहना अनुचित नहीं है। तथापि पांचों वायुओं में प्राण और अपान प्रधान है। जिनमें शेष तीन का अन्तर्भाव हो जाता है। इन दोनों में भी अपमान प्रधान वायु है, क्योंकि प्राण तो केवल अन्न, जल और वायु का प्रवेश शरीर में कराता है। लेकिन अपान के द्वारा ही नवीन रसोत्पत्ति तथा रसमल विवेक और मल निष्कासन की क्रिया सम्पादित होती है। अतः अपान प्रधान वायु एवं उसका स्थान पक्वाशय वायु स्थान है।

आशयों के दृष्टिकोण से दोषों के स्थान

सुश्रुत-शारीर पाँचवें अध्याय में वाताशय, पित्ताशय और कफाशय के नाम से तीन दोषों के तीन आशयों के वर्णन आये हैं और इनमें उपर्युक्त तीन स्थान ही इंगित होते हैं। पचन संस्थान के दृष्टिकोण से आमाशय, पाच्यमानाशय और पक्वाशय क्रमशः कफाशय, पित्ताशय और वाताशय हैं।

यहाँ पर दो शंकाएँ होती हैं :—कफाशय और वाताशय के अतिरिक्त आमाशय और पक्वाशय का निर्देश आशयों में अलग से किया है तब ये इनके समानार्थक कैसे हैं ? शंका समाधान—आशयों का जो निर्देश वहाँ पर है—वह आशय संज्ञा समान की दृष्टि से है, न कि आशय गणना की दृष्टि से। कहने का तात्पर्य कि शरीर में आशय के नाम से आठ नामों का उपयोग होता है जिनका भिन्न-भिन्न होना आवश्यक नहीं है।

दूसरी शंका एवं समाधान :—चरक के सूत्रस्थान में लिखा है—

"तत्राप्यामाशयो विशेष पित्तस्थानम्"—तब फिर उसको कफाशय क्यों माना ? समाधान—आमाशय के क्लेदक कफ का अम्ल रस पाचक पित्त दोनों रहते हैं। अतः वह कफ एवं पित्त दोनों का स्थान है। यथार्थ में आमाशय का अधोभाग पित्त तथा ऊर्ध्वभाग कफस्थान है। शाब्दिक दृष्टचा मुँह से लेकर आमाशय के ऊर्ध्वार्ध तक शुद्ध आम का स्थान है जो सम्पूर्ण आमाशय या कफाशय कहा जा सकता है। पित्ताशय में आमाशय का आधा भाग ग्रहणी (Duo-

denum) तथा क्षुद्र आंत्र हैं जहाँ पर आहार पच्यमानावस्था में रहता है। यह भी सम्भव है कि चूँकि यहाँ पर आहार अर्ध आमावस्था में रहता है इसलिए चरक ने इसको भी आम का स्थान मानकर लिखा हैं, :—"तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्" । शास्त्र में पच्यामानाशय का अलग निर्देश नहीं होने के कारण तथा वहाँ पर आहार के अर्ध आमावस्था में रहने के कारण उसका अन्तर्भाव चरकाचार्य ने आमाशय में कर दिया है । इस निबन्ध में कफाशय को आमाशय माना गया है उससे आमाशय का पूर्व निर्दिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत होता है जो सुश्रुताचार्य द्वारा मान्य है। पाच्यमानाशय के लिए प्रयुक्त चरकोक्त अर्थ नहीं।

धातुओं के दृष्टिकोण से त्रिदोष का स्थान

जिस धातु में जो दोष अधिक रहता है, वह उस दोष का स्थान मान लिया गया है क्योंकि—'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह सिद्धान्त है। यथार्थ में दोष तो सभी धातुओं एवं सर्व शरीर में व्यापमान हैं, लिखा भी है—"पञ्चभूतानीव च ते शरीरे व्यापिनः" ।

यद्यपि लसीका और रस कफप्रधान धातुएँ हैं तथापि श्री चरकाचार्य जी ने रक्त के साथ इनका भी पित्तस्थान में समावेश कर दिया है। इसका कारण इन धातुओं का तथा पित्त का द्रवत्वगुण सामान्य है। इसके सिवा पाञ्चभौतिक आहार से द्रव रूप रसाधातु का निर्माण पाचक पित्त के द्वारा होता है तथा इसके द्रव-स्वरूप में "**स्थायित्व**" पित्त के कारण है । ऊष्मा अर्थात् पित्तहीन अवस्था में द्रवत्वहीन होकर रक्त के समान जम जाती है। जैसा कि जीवित शरीर से निष्कासित होने पर तथा मृत शरीर के अन्दर रहने पर उनमें प्रत्यक्ष देखा जाता है। मृत्यूत्तर संकोच (Rigor mortis) में मांसपेशियों के साथ इनका सहयोग भी रहता है। अतः इनके द्रवत्व का कारण भले ही पित्त हो लेकिन द्रवत्व जलतत्त्व का गुण होने से घटकों में कफ का प्राधान्य है। इसलिए इसको कफ का स्थान ही मानना ठीक है। श्री वाग्भट् के निम्न श्लोक से भी लसीका और रस का कफाधिष्ठान होना ही सिद्ध होता है :—

तत्राऽस्थिनि स्थितोवायुः पित्तं तु स्वेद रक्तयोः ।
श्लेष्मा शेषेषु तेनैपामाश्रयाश्रयिणा मिथः ॥

गर्भविज्ञान सहित त्रिदोष क्रिया विज्ञान

(Tridosh Physiology with Embryology)

इसके दो विभाग किये जा सकते हैं :—

गर्भकालीन क्रिया विज्ञान (Embryological Physiology) और जन्मोत्तर क्रिया विज्ञान (Postnatal Physiology)

१—गर्भकालीन क्रिया विज्ञान

वात, पित्त और कफ शुक्रकीट डिम्व में उपस्थित रहते हुए अपनी गति, उष्णता और श्लेषण गुणों द्वारा भ्रूण या गर्भ का निर्माण करते हैं। इस अवस्था में इनके भिन्न-भिन्न मुख्य कार्यों का दिग्दर्शन निम्न प्रकार है—

वायु के कार्य—मैथुन क्रिया तथा शुक्रस्खलन में तीनों दोषों की उपस्थिति रहते हुए भी वायु की प्रधानता रहती है। (सु० शा० ३।४)

शुक्रकीट का चलकर डिम्ब से मिलना, पक्व डिम्ब में Epiderm, Mesoderm और Hypoderm नामक भागों में विभक्त करना तथा गर्भ में विभिन्न आकार, स्वरूप और इन्द्रियों का निर्माण करना तथा उसमें पैदा करना आदि वायु के ही कार्य हैं। उक्त तीन भागों से Epiderm या Ectoderm संज्ञक वाह्य भाग वायु का मुख्य स्थान है और उसके द्वारा त्वचा तथा नाड़ी-संस्थान का निर्माण होता है।

पित्त के कार्य--गर्भ में जो रासायनिक (Chemical) क्रियाएँ विभिन्न अंग-प्रत्यंग और धातुएँ बनाती हैं वे क्रियाएँ पित्त द्वारा होती हैं। Mesoderm संज्ञक मध्य भाग पित्त का प्रमुख स्थान है। शरीर के प्रायः सभी प्रधान कोष्ठाङ्ग (Vescera) इसी से बनते हैं।

कफ के कार्य--उक्त क्रियाओं में मौलिक उपादान की पूर्ति तथा कीटाणुओं के संयुक्त रखने का कार्य कफ द्वारा सम्पन्न होता है। कफ द्वारा ही गर्भ माता के गर्भाशय से संलग्न रहता है अर्थात् अपरा और गर्भाशय संयोग का कारण कफ है। कफ, वर्धन द्रव्य होने से Epederm आदि तीनों में उपस्थित रहता है, तथापि Hypoderm नामक अन्त विभाग में इसका आधिक्य है।

२— जन्मोत्तर क्रिया विज्ञान

संक्षेप में वात, पित्त एवं कफ के प्रधान कार्य क्रमशः गति, पचन और पोषण हैं; जो त्रिधातु परिभ्रमण के द्वारा सम्पादित होते हैं। धातु परिभ्रमण का वर्णन दसवें बिन्दु के अन्तर्गत किया गया है। दोषों के विशेष कार्य शास्त्रों में यत्र-तत्र अनेक स्थानों में वर्णित हैं। यहाँ पर प्रकृतिस्थित त्रिदोष के कर्मों का उल्लेख किया जाता है :—

वायु के कर्म--उत्साह, उछ्वास, निःश्वास, चेष्टा, रस आदि धातुओं का सम्यक् प्रकार से वहन करना, मल, मूत्र एवं स्वेदादि को सम्यक् गति से बाहर निकालना आदि वायु के कर्म है।

यद्यपि पाचन कार्य मुख्यरूप से पाचन रसों द्वारा होता है तथापि वायु और कफ उसके आवश्यक सहयोगी हैं। प्रत्येक तत्त्व होने के कारण इनमें वायु प्रधान है क्योंकि वह पाचन संस्थान में पित्त और कफ का स्राव करती है तथा आमाशय और आन्त्र में पाचन सहायक विविध गतियाँ (Churnig movement of the Stomach and peristaltic pendular of Segmental movements of the intestine) पैदा करती है।

पित्त के कर्म—देखना, पचना शरीर का स्वाभाविक तापांश—भूख, प्यास, शरीर की मृदुता, प्रसन्नता, कान्ति एवं मेधादि पित्त के कर्म हैं।

कफ के कर्म—चिकनाई, सन्धिबन्धन, स्थिरता, गौरव, वृषता, बल, क्षमा, धार्य एवं निर्लोभ आदि कफ के कर्म हैं।

(३) दोष प्रकोपकरण हेतु विज्ञान

(Etiology of abnormal Tridosh)

दोष प्रकोपक वाह्य कारणों के तीन प्रधान विभाग किये गये हैं, यथा :--

१---असात्मेन्द्रियार्थ संयोग

२---प्रज्ञापराध और

३---परिणाम

चूंकि दोष वैषम्य ही रोग है (रोगस्तुदोष वैषम्यं दोष साम्थमरोमता) इसलिए वे रोगोत्पादक कारण दोष प्रकोपक कारण भी हैं। इन प्रकोपक कारणों का वर्णन निम्न प्रकार है :--

वात प्रकोपक--अत्यधिक व्यायाम, कुश्ती, मैथुन एवं परिश्रम; रूक्ष, कषाय एवं कटु भोजनादि तथा मल मूत्रादि के वेगों को धारण करने प्रभृति कारणों से वायु प्रकुपित होती है।

पित्त प्रकोपक--कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, विदाही एवं लवणयुक्त, गर्म तथा दाहजनक पदार्थों के सेवन, शोक, क्रोध, भय, मैथुन, उपवास और परिश्रमादि तथा प्रचंड धूप आदि से पित्त प्रकुपित होती है।

कफ प्रकोपक--मीठी, गुरु, मधुर, चिकनी एवं शीतल वस्तुओं के सेवन; अत्यधिक व्यायाम एवं परिश्रम तथा दिन में सोने आदि कारणों से कफ प्रकुपित होता है :

(४) त्रिदोष विकृति विज्ञान (Tridosh Pathology)

विकृत दोष की कौन-सी अवस्थाएँ हैं, वे कब और कैसे प्राप्त होती हैं तथा कैसे रोगोत्पन्न करती हैं--ये विकृति विज्ञान के विषय हैं। विकृति त्रिदोष से जो विकृतियाँ होती हैं उनमें से क्रमशः शोष, कोथ और क्लेद संक्षेप में प्रधान हैं। दूषित या विकृत दोषों के प्रसार से जिस प्रकार रोगोत्पत्ति होती है; उसे सम्प्राप्ति कहते हैं।

वृद्ध दोषों को क्रमागत निम्नलिखित छः अवस्थाएँ विकृति-विज्ञान अथवा रोग सम्प्राप्ति के अन्तर्गत आती हैं। इस विषय पर श्री सुश्रुताचार्य जी ने लिखा है :--

सञ्चयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थान संश्रयम्।
व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां सभवेद्भिषक ॥ अर्थात्--

ऋतुभेद के अनुसार दोषों का स्वाभाविक संचय, प्रकोप और प्रशमन होता रहता है जिसका वर्णन चरक, सुश्रुत एवं अष्टाङ्ग आदि ग्रंथों में विस्तृत रूप से प्राप्त है।

कालकृत गति : पित्त आदि दोषों का वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, वसंत एवं ग्रीष्म; इन छहों ऋतुओं में क्रम से एक-एक का संचय, प्रकोप तथा शान्ति होती है। जैसे वर्षा में—पित्त का संचय, शरद में पित्त प्रकोप और वसन्त में पित्त की शान्ति होती है। शिशिर में कफ का संचय, वसन्त में कोप और ग्रीष्म में कफ की शान्ति होती है। ग्रीष्म में वात का संचय, वर्षा में वात का प्रकोप, एवं शरद् ऋतु में वात की शान्ति होती है।

उक्त ऋतुओं में दोषों का संचय और प्रकोप प्राकृतिक कहलाता है, तथा इतर ऋतुओं में वैकृत। यदि उनका स्वभावतः शमन नहीं हुआ तो प्रसृत होकर रोग के कारण बन जाते हैं।

प्रसार के पश्चात् स्थान संश्रय की अवस्था होती है। स्थान संश्रय के लिए स्थान वैगुण्य आवश्यक है, जहाँ पर दोष आश्रय लेते हैं; तदनन्तर रोगोत्पत्ति होती है। अतः रोग का चित्र विकृत दोष और स्थान वैगुण्य के संयोग में बनता है। आजकल लक्षण समूह को रोग कहा जाने लगा है। किन्तु रोग तो दोष वैगुण्य तथा स्थान वैगुण्य के संयोग के कारण शरीर में जो विकृति होती है—उसको कहते हैं। लक्षण समूह तो व्याधि चित्र के निर्देशक परिणाम हैं जिनके द्वारा व्याधि का अनुमान होता है।

किसी भी कार्य के लिए समवायि, असमवायि और निमित्त तीनों कारण आवश्यक होते हैं। लेकिन उसके नाश के लिए निमित्त कारण का नाश आवश्यक नहीं होता। शेष दो में से किसी एक के नाश से कार्य का नाश हो जाता है किन्तु प्रत्येक अवस्था में असमवायि कारण का नाश होता ही है। रोग के प्रति मिथ्या आहार विहारादि समवायि कारण है तथा दोष-दूष्य और संयोग रूपी सम्प्राप्ति असमवायि कारण है तथा दोष निमित्त कारण है। इनमें से किसी एक के अभाव में रोग-रूपी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, कार्य के निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता, किन्तु इस प्रकरण में दोष रूपी निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है, यह विशेषता है। इसका कारण यह है कि दोष, सम्प्राप्ति रूपी असमवायि कारण में भी भाग लेते हैं। ●

(५) प्रकुपित दोषों के कर्म

(Symptomatology and Nosology)

इस विवरण के लक्षण विज्ञान (Symptomatology) और व्याधि विज्ञान (Nosology) नामक दो विभाग हैं। इनमें क्रमशः प्रकुपित वातादि के लक्षण तथा दोषानुसार व्याधियों का वर्गीकरण किया गया है।

लक्षण विज्ञान : वात, पित्त, कफ से अद्भुत लक्षणों के अपरिसंख्येय होते हुए भी उनमें क्रमशः शूल, दाह और शोथ मुख्य हैं।

प्रकुपित वातादि के लक्षण—

प्रकुपित वात लक्षण : आध्यान, स्तंभ, रूक्षता, स्फुटन, विमथन, क्षोभ, कम्प, व्यथा, कंठध्वस, अवसाद, श्रम, प्रलाप, स्रस, शूल, कठिनता, कर्णनाद, दृष्टिवदलना, शीघ्र गति, गतिवैचित्र्य, अप्रसन्नता, अनिद्रा, ताड़न, पीड़न, भूल बकना, विषाद, भ्रम, परिपतन, जभाई, रोमाञ्च, विक्षेप, आक्षेप द्वारा शोष ऐंठन तथा शरीर का वर्ण श्याम अथवा लाल, अत्यधिक प्यास तथा बेचैनी आदि प्रकुपित वात के लक्षण कहे गये हैं।

प्रकुपित पित्त के लक्षण : विस्फोट, अम्ल, धूमका, प्रलपन, स्वेद, मूर्च्छा, दुर्गन्ध, मद, विषरण, पाक, पीड़ा, प्यास, भ्रम, उष्णता, अतृप्ति, अँधेरा छा जाना, दाह, कटु, अम्ल, और तिक्तादि रस हो जाना तथा पाण्डु वर्ण प्रभृति विकृति पित्त के लक्षण समझे जाते हैं।

प्रकुपित कफ के लक्षण : तृप्ति, तन्द्रा, भारीपन, कठिनता, न्यूनाधिक्यता, स्नेह, अपच, लिप्त, ठंढापन, कण्डु, सूजन, निद्राधिक्य, झपैनी, स्वाद का मीठा-पन तथा वर्ण श्वेत प्रभृति लक्षण कफ के समझे जाते हैं।

प्रकुपित संसर्ग के लक्षण : जिसमें तीनों दोष वायु-पित्त एवं कफ के संयुक्त लक्षण दृष्टिगोचर हों, संसर्ग लक्षण अर्थात् सन्निपात संज्ञा दी जाती है।

———

व्याधि विज्ञान (Nosology)

त्रिदोष जन्य विकार तो अनेक हैं लेकिन निदान और चिकित्सा सौकर्य के लिए शास्त्रों में उनकी संख्या १४० दी गयी है। यथा ८० प्रकार के वात रोग, ४० प्रकार के पित्त एवं १० प्रकार के कफ रोग। यद्यपि शास्त्रों में दोषानुसार वर्गीकरण दिया है लेकिन इसमें रोगों के अनेक नाम ऐसे हैं जो लक्षण मात्र हैं। शास्त्रों में दोषानुसार उक्त १४० रोगों के अलावे और भी ज्ञात एवं अज्ञात अनेक रोग हैं जिनका वर्गीकरण निदान तथा चिकित्सा के लिए दोषानुसार कर लेना चाहिए।

प्रकुपित दोषों की शान्ति के उपाय

विकृति विज्ञान के अन्तर्गत सम्प्राप्ति की जो क्रमागत ६ अवस्थाओं का वर्णन आया है उनके लक्षण देते हुए श्री सुश्रुताचार्य ने उन्हें ६ क्रियाकाल करके वर्णन किया है। अर्थात् सम्प्राप्ति की प्रत्येक अवस्था में चिकित्सा हो सकती है और जितनी जल्दी चिकित्सा की जाय उतनी ही जल्दी रोग शमन होगा। स्थान संचय होने पर व्याधि के पूर्व रूप दिखने लगते हैं। यह आयुर्वेद शास्त्र की ही विशेषता है कि रोगोत्पत्ति के पहले सिर्फ पूर्वरूप में ही नहीं किन्तु दोषों के संचय प्रकोप और प्रसार की अवस्था में ही चिकित्सा करके रोगों का आगमन रोका जा सकता है। रोग-प्रतिषेधक की दृष्टि से यह मत कितना प्राकृतिक (Natural) और वैज्ञानिक है, जब कि आयुर्वेद के सम्बन्ध में आक्षेप किया जाता है कि इसमें प्रतिषेधक चिकित्सा (Preventive Medicine) का अभाव है। एलो-पैथी में सिर्फ औपसर्गिक रोगों का संचयकाल (Incubation period) दिया है किन्तु उसके कोई लक्षण अथवा उस अवस्था में रोग को रोक देने के कोई उपाय नहीं दिये। विपरीत इसके, यदि उस अवस्था में रोग प्रतिषेधक **वैक्सीन** का प्रयोग किया जाय तो रोग प्रायः अधिक भयङ्कर होता है। किस ऋतु में किस दोष का स्वाभाविक संचय-प्रकोप और प्रशमन होता है तथा कब, अर्थात् किस ऋतु में उनका शोधन अथवा निर्हरण करना चाहिए इसके सम्बन्ध में आयुर्वेद में कहा है :

वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में जो पित्तादिक दोषों का संचय है और जो क्रम से शरद्, वसन्त और प्रावृष्ट ऋतु में कुपित होता है उसको शान्त करना चाहिए। उन व्याधियों में से पित्तजन्य रोग हेमन्त ऋतु में, कफजन्य रोग गरमी में और वातजन्य रोग बादलों के हटने पर अर्थात् शरद ऋतु में अपने आप शान्त हो जाते हैं। इस प्रकार दोषों का संचय, प्रकोप और शमन स्वभाव से होता है। दोषों की चिकित्सा के सम्बन्ध में श्री सुश्रुताचार्य का सिद्धान्त-क्षीण दोषों का बढ़ाना, कुपित दोषों को शान्त करना, बढ़े हुए दोषों को कम करना तथा समानावस्था में जो दोष हों उनकी रक्षा करना ही वैद्यक शास्त्र के सिद्धान्त हैं।

—दोषों के संशोधन और संशमन के लिए वाग्भट्टाचार्य का मत :—

शरीर में उत्पन्न हुए दोषों की शान्ति के लिए तीन प्रधान औषधि हैं—वायु के लिए तैल या क्वाथ की गुदा में पिचकारी, पित्त शोधनार्थ विरेचन के लिए मुख द्वारा प्रयोग तथा कफ शोधनार्थ मुख द्वारा वमनकारी औषध दें। वायु के लिए तेल, पित्त के लिए घी और कफ के लिए मधु मुख्य औषध हैं।

दोषों की साम एवं निरामावस्था के लिए कहा है :—

सामपाचनं निरामे शमनम् ॥

अब त्रिदोष शामक तथा वर्धक रस, गुण और भूतों का जो वर्णन आगे दिया जा रहा है उसका अन्तर्भाव चिकित्सा विज्ञान के सिवा त्रिदोष के द्रव्य गुण विज्ञान (Pharmacology of Tridosh) में भी किया जा सकता है।

वातादि के शामक-वर्धक रस—

मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा; चरपरा और कषैला ये ६ रस हैं और ये पञ्चभूतात्मक अर्थात् जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश में रहते हैं। इन रसों में-पहले के तीन रस–मीठा, खट्टा और नमकीन वायु को नष्ट करते हैं और पिछले तीन वायु को कुपित करने तथा वृद्धि करने में समर्थ होते हैं—(अ० हृ० सू० १।१४-१५)।

अब दोषों के शामक-वर्धक भूत तथा प्रशामक द्रव्यों के गुण और कतिपय संशमन द्रव्यों की सूची देखें ?–

वायु

(१) शामकवर्धक भूत : पृथ्वी, अग्नि और जल गुणवाले द्रव्यों से वायु शान्त होती है और आकाश एवं पवन गुणवाले द्रव्यों से वायु अधिक बढ़ती है। (सु० सू० ४१।७-८)।

(२) शामक गुण : रूखा, शीत, हलका, सूक्ष्म, गतिमान, विशद् एवं खरदरा ये वायु के मुख्य गुण हैं। उक्त गुणों के विपरीत—स्निग्ध, उष्ण, गुरु, स्थूल, मृदु, पिच्छिल एवं श्लक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों द्वारा वायु शान्त होती है। (च० सू० १।५९)।

(३) संशमन वर्ग : देवदारु, कूट, हल्दी, वरना, बला, अतिबला, अर्जुन, कौंच के बीज, सल्लमी, पाढ़ल, बरबेल, पियावोसा, अरनो, गिलोय, अरण्ड, पाषाणभेद, सफेद आक, लाल आक, सतावर, साँठी की जड़, वर्कपुष्प, आपामार्ग, धतूरा भारंगी, कपास, वृश्चिकाली, पतंग, बेर, झड़बेर, कुल्थी इत्यादि विदारिगन्धादि गुण, लघुपञ्चमूल और वृ० पञ्चमूल ये वातशामक द्रव्य हैं। (सु० सू० ३९।७)।

विशेष—जीवनीय द्रव्य (Vitamin B.) तथा विशेषकर (बी० B.) और उसके आश्रयभूत द्रव्य सब वातशामक हैं।

पित्त

१. शामकवर्धक भूत : पृथ्वी, जल और वायु गुणवाले द्रव्यों से पित्त शीघ्र ही शान्त हो जाता है और आग्नेय द्रव्यों से पित्त बढ़ता है (सु० सू० ४१।७९)।

२. शामक गुण : उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटु ये ६ गुण पित्त के हैं। इन गुणों के विपरीत गुणयुक्त द्रव्यों द्वारा पित्त शीघ्र ही शान्त हो जाता है। (च० १।५९)।

३. संशमन वर्ग : चन्दन, पतंग, हाउबेर, खस, मजीठ, क्षीरकाकोली, बिदारीगंधा, सतावर, गुन्द्रा, सिवार, लालकमल, कुमुद, उत्पल, कदलीकद,

दूब, मूर्वा, काकोल्यादि गण, न्यग्रोधादि-गण और तृण पंचमूल ये पित्त संशमन द्रव्य हैं। (सु० सू० ३९-८)।

कफ

(१) **शामक वर्धक भूत :** आकाश, अग्नि एवं वायु गुणयुक्त द्रव्यों से कफ शान्त होता है और पार्थिव एवं आप्य द्रव्यों से कफ बढ़ता है। (सु० सू० ४१।८-९)।

(२) **शामक गुण :** गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थित और पिच्छल, ये गुण कफ के हैं इन गुणों के विपरीत गुण, जैसे—लघु, उष्ण एवं लघु-सर आदि से कफ की शान्ति होती है। (च० सू० १।६०)

(३) **संशमन वर्ग :** पीत चंदन, अगर, तिलपर्णी, कूट, हल्दी, सेंधानमक, सौंफ, प्रक्रीय, गोंदी, चमेली, काकजघा, कलिहारी, हस्तिकर्ण; मुज्जातक, लामज्जक, बल्लीपंच मूल, कंटक पंच मूल, पिपल्यादि, मुष्ककादि, वृहत्यादि, वचादि, सुरसादि एवं आरग्वधादि ये गण कफ संशमन हैं। (सु० सू० ३९।९)।

जीवन द्रव्य (ए० डी० और ई० (Vitamins A. D. & E)—तथा उनके आश्रयभूत एवं प्रोटीन और शर्करायुक्त द्रव्य कफवर्धक हैं। इनके विपरीत अथवा इनसे रहित कफशामक समझना चाहिए।

(१०) पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से समन्वय

(Co-ordination with the Western medical Science)

कुछ विद्वानों का मत है कि त्रिदोष का पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों से समन्वय करना भयानक भूल है। जिसके निम्न कारण हैं—

१. सजीव वस्तु का सिद्धांत होने से त्रिदोष **"प्राणी विज्ञान"** का विषय है जब कि पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के अधिकांश सिद्धान्त भौतिक और रसायन शास्त्र (Physics & Chemistry) नामक जड़ विज्ञान पर आधारित हैं।

२. त्रिदोष सिद्धान्त का आधार पंच महाभूतात्मक दार्शनिक सिद्धान्त है जहाँ तक आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं पहुँच पाया है।

३. त्रिदोष एक सजीव यौगिक (Vital Compound) है जिसमें सर्व शरीरचरत्व और व्यापकत्व दोनों हैं। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में ऐसे शक्ति-सम्पन्न किसी भी सजीव यौगिक की कल्पना तक नहीं है, अतः त्रिदोष का उससे समन्वय करने का प्रश्न ही अनुचित है। फिर भी आधुनिक विज्ञान की गति कुछ गम्भीरता की ओर प्रविष्ट हो रही है जिससे आशा की जाती है कि भविष्य में सम्भवतः वह महाभूत सिद्धान्त और त्रिदोषवाद के निकट आ जाय। दोनों पद्धतियों में तथाकथित मौलिक भिन्नता रहते हुए भी चिकित्सा शास्त्र के उद्देश्य तथा निदान एवं चिकित्सा के अन्तर्भूत सिद्धान्तों की अनेक समानताएँ हैं जिनके आधार पर तथा शरीरशास्त्र के अभिन्नता के कारण तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

वर्णन सौकार्य दृष्टिकोण से तीन विभाग:—

१. त्रिदोष का सामूहिक विवेचन।

२. त्रिदोष का विभागशः एकैकशः विवेचन। और

३. त्रिदोष का विभागशः पाँच-पाँच भेदों का विवेचन।

१. त्रिदोष का सामूहिक विवेचन—त्रिदोष एक शरीरव्यापी पोषक, धारक तथा क्रियाशक्तिसम्पन्न सजीव पदार्थ (Circulating free protoplasmic Nutrient material) है जो कहीं सूक्ष्म एवं कहीं स्थूल अवस्था में पाया जाता है यह एक यौगिक है जिसके वात-पित्त कलात्मक अङ्गों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वात-पित्त-कफ का विशिष्ट प्रयोग उस विशिष्ट अंश के आधिक्य के कारण होता है। शरीर के सूक्ष्मतम भाग जिसे सेल या कोषाणु कहते हैं, उसमें भी यह स्थित है। उसका वातप्रधान (Nucleus), कफ प्रधान (Cytoplasm) और उसमें उपस्थित पित्त प्रधान (Enzymes) है। इन सूक्ष्म अणुओं के रूप में ही यह शरीर में भ्रमण करता है तथा उपस्थित रहता है। इस तरह इसकी चल और अचल दो अवस्थाएँ हैं तथापि त्रिदोष के अचल अणुओं में भी वात के कारण अपने ही स्थान में कुछ न कुछ गति होती रहती है।

———

त्रिधातु परिभ्रमण

वायु, पित्त एवं कफ समानावस्था में धातु एवं विकृतावस्था में दोष कहलाते हैं, अतः धातवीय अवस्था की परिभ्रमणशीलता का संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

(क) वायु, पित्त एवं कफ ये तीनों शरीर में सभी स्रोतों का अनुगमन करते हैं।

(चरक चिकित्सा अध्याय-२८ श्लोक ५८) वात पित्त कफ देहे····

(ख) वात-पित्त श्लेष्माणा सर्व शरीराश्चाराणां पुनः सर्वाणि स्रोतांस्ययन-भूतानि।

उक्त वाक्यों से सिद्ध होता है कि त्रिधातु परिभ्रमणशील पदार्थ है। इसका परिभ्रमण, रस एवं रक्त परिभ्रमण से भी अधिक व्यापक है। यह महास्रोत (Elimentary Canal) से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में होता हुआ वहीं समाप्त होता है। त्रिदोष महास्रोत में उत्पन्न होकर अन्नपरिपाक से पुष्ट हो शोणित होते हुए शरीरस्थ दोष तथा सप्तधातुओं का पोषण करते हैं। इनकी उत्पत्ति के विषय में निर्माणकरण के अन्तर्गत ही वर्णन हो चुका है। क्लेदक, पाचक एवं अपान नामक प्रधान, कफ, पित्त एवं वात पाचन संस्थान में रहते हुए अपने पुष्ट किन्तु सूक्ष्म सञ्चारी अंशों द्वारा शेष चार विभागों का पोषण करते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि, ये अन्न परिपाक में सहायक हो उसके प्रसाद भाग से पुष्ट होकर पूर्ण कफत्व, पित्तत्व और वातत्व को प्राप्त होते हैं तथा शोषित होकर परिभ्रमण करते हुए तद्-तद् दोष की पुष्टि करते हैं। "वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैः विपर्ययः" इस नियमानुसार क्लेदक, पाचक एवं अपान नामक अंश शेष विभिन्न अंशों का पोषण कर सकते जब तक कि वे आहार के प्रसाद भाग से पूर्णता को प्राप्त न हो जावें। अतः वे पूर्णत्व प्राप्ति के पश्चात् दोषों की पुष्टि करते हैं। क्लेदक कफ और पाचक पित्त के लिए (सु० सू० २१।१३-१४ और २१। १०) में "**तत्रस्थमेव**" शब्द आया है, इसका भी तात्पर्य वही है कि वे अपनी

स्थूल तथा शुद्ध अवस्था में नहीं रहते हैं। तत्पश्चात् अपनी-अपनी शक्ति द्वारा आहार सहयोग से दोष के समस्त भेदों से समन्वित हो शरीरस्थ दोषों की पुष्टि करते हैं। त्रिदोष अपने चार-चार विभागों का पोषण करने के बाद पुनः क्लेदक, पाचक और अपान रूप में अवशिष्ट रहकर महास्रोत को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। यहाँ यह मान्य तथ्य है कि सप्तधातुएँ त्रिदोषात्मक हैं। अतः उनकी पुष्टि भी इस परिभ्रमित त्रिदोष के द्वारा होती रहती है।

त्रिदोष त्रिधातु के परिभ्रमण मार्ग का संक्षिप्त दिग्दर्शन :—

महास्रोत से जो कौशिकाएँ तथा रसायनियाँ प्रारम्भ होती हैं उनमें परिपुष्ट त्रिधातु का शोषण होता है। कौशिकाएँ इसे **महाअधरा** सिरा (Inferior Venacava) में तथा रसायनियां महती **रसकूल्या** (Thoracic duct) के द्वारा उत्तरा महासिरा (Superior Venacava) में ले जाती हैं। वहाँ से त्रिधातुएँ हृदय में पहुँच, रक्त से सम्मिश्रित हो जाती हैं पश्चात् रक्तवाहिनी केशिका, रसायनी, कोष्ठ, धातु और अंग-प्रत्यंग में प्रविष्ट होकर उन्हें पुष्ट कर स्वयं क्षीण हो, महास्रोत में स्राव के रूप में आती हैं जहाँ से अन्न परिपाक क्रिया में सहयोग दे पुनः परिपुष्ट एवं शोषित होती हैं। इस प्रकार त्रिधातु परिभ्रमण चलता रहता है।

(Bile) जो एक प्रकार का पित्त है यकृत एवं पित्ताशय से आन्त्र में स्रवित होता है तथा पाचन कार्य में सहायता देकर रक्तवाहिनियों से शोषित होकर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता हुआ पुनः यकृत में पहुँच जाता है। उक्त क्रिया को (Bile circulation) कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित यह मत त्रिधातु परिभ्रमण का ही एक अंश है और सम्भव है कि वे भविष्य में और भी नजदीक आते जायेंगे।

त्रिदोष का विभागशः एकैकशः विवेचन

शरीर क्रिया सम्पादनार्थ कार्य की दृष्टि से वायु-पित्त-कफ के अपने-अपने मुख्य कार्य होते हुए भी वे एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, अतः संयुक्त अवस्था में रहते हैं।

(**वात**)—यह एक प्रमाणशक्ति सम्पन्न द्रव्य है तथा शरीर की समस्त जैव-भौतिक क्रियाओं (Bio-Physical process) का कर्त्ता है। यह प्रायः वायवीय अवस्था में रहता है तथा सर्व शरीर व्यापक होते हुए भी इसका कार्य प्रधान रूप से मस्तिष्क सौषुम्नीय तथा स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल (Cerebro Spinal and autonomic nervous System) के माध्यम से होता है। यह समझना ठीक नहीं कि नाड़ी-संस्थान केवल वायु से ही सम्बन्धित है। उसमें कुछ Ketabolic तथा कुछ Anabolic Nerves है जो क्रमशः पित्त तथा कफ के स्राव के लिए जिम्मेदार हैं। इसलिए चरक-संहिता के चि० अध्याय (३।३७-३८) में लिखा है :—

वात परम योगवाही है, वह संयोग से दोनों कार्य करता है। तेज के साथ संयुक्त होने से दाह, सोम संयुक्त होने से शीत; पित्त के साथ औष्णगुण और कफ के साथ शैत्यगुण युक्त हो जाता है।

वायु अपनी सूक्ष्मावस्था के कारण दृश्यमान नहीं है तथापि आजकल Electro Cardiogram Electro encephalogram तथा Sphygmogram आदि यन्त्रों से वायुगति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है जो क्रमशः मस्तिष्क, हृदय और नाड़ी के वात गति निर्देशक यन्त्र हैं।

पित्त—यह एक पाचक शक्ति सम्पन्न जैव रासायनिक (Bio-Chemical) द्रव्य है जो अधिकतर द्रवावस्था में रहती है। शरीर में दो प्रकार की रासायनिक क्रियाएँ होती हैं—

१. पाचनात्मक क्रिया (Katabolic process or Katabolism)

२. उपपाचनात्मक क्रिया (Anabolic process or Anabolism)

आंग्ल भाषा में दोनों की संयुक्त संज्ञा Metabolism है। प्रथम क्रिया पित्त के द्वारा और दूसरी कफ द्वारा सम्पादित होती है। पित्त के निर्माण याने स्राव के लिए मध्य स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल विशेषरूप से जिम्मेदार है। ये नाड़ियाँ शरीर के अन्य भागों में और विशेषकर पाचन-संस्थान में स्थित असंख्य पित्त निर्मापक ग्रन्थियों का स्राव कराती हैं। प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ (Ductless

Glands) कुछ पित्त स्राव प्रधान एवं कुछ कफ-स्राव प्रधान रहती हैं, यद्यपि उनके स्राव में पित्त और कफ मिश्रित स्वरूप में रहता है। अधिवृक्क (Adrenal or Suprarenal Gland) और अग्न्याशय (Pancreas) पित्त प्रधान ग्रंथियाँ हैं। इनमें भी अधिवृक्क प्रमुख पित्त ग्रंथि है। अतः पित्त वर्ग को (Adrenal group) भी कह सकते हैं। Adrenal ग्रंथि के Medulla भाग में Sympathetic Cell पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। Sympathetic Nerve और Adrenaline के निकट सम्बन्ध के सूचक हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि Sympathetic Nerve सीधा कार्य नहीं करके उनके प्रान्तस्थ भागों (Nerve gland) से Adrenaline या तत्सम Sympathin नामक रासायनिक पदार्थ का स्राव होता है जिसके द्वारा तदधिकृत क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। यह Sympathin नामक स्राव पित्त ही कहा जा सकता है।

मुख जठर तथा शरीर परमाणुओं में जो पाचक रस (Enzymes) आहार को रस के रूप में एवं रसादि के उत्तरोत्तर रक्तादि धातुओं के रूप में परिवर्तित कर शरीर के उपयोग के योग्य बनाते हैं, वे सब पित्त अथवा अग्नि के नाम से कहे जाते हैं। इस क्रिया में अनुपयोगी भाग नष्ट हो जाता है जो शरीर के बाहर मल के रूप में निष्कासित होता है।

Sympathetic Nerves या Abrenaline हृदय की गति को उत्तेजित कर समग्र शरीर में रक्त परिभ्रमण की गति व दबाव को बढ़ाकर धातुओं में पाकक्रिया को बढ़ाते हैं। जिस प्रकार नाड़ी संस्थान तीनों दोषों का प्रवाहक होते हुए भी वायु का प्रधान मार्ग है उसी प्रकार रक्तवह संस्थान तीनों दोषों का संचारण करते हुए भी पित्त संचार के लिए प्रमुख रूपेण जिम्मेदार है।

कफ—यह एक वृद्धि शक्ति सम्पन्न जैव-रासायनिक द्रव्य है जो कहीं सान्द्र और कहीं द्रवावस्था में रहता है। यह शरीर को उपचयात्मक क्रियाओं का कर्त्ता है। इसका निर्माण प्रायः परिस्वतंत्र नाड़ी मण्डल (Para Sympathetic Nervous System) की उत्तेजना से होता है। इन नाड़ियों के प्रान्तस्थ भागों (Nerve endings) से Acetylcholine नामक स्राव होता है जिसके द्वारा वे कार्य सम्पादन करती हैं। अतः इसे Acetylcholine group भी कहते हैं।

शरीर के अधिकांश जलीय भागों श्लेष्मिक स्राव, लसीका, रस और रस-रक्त (Mucous Lymph Plasma) में यह सूक्ष्म अथवा स्थूल अवस्था मौजूद है और इसका स्राव शरीर के श्लेष्मा ग्रंथियों से होता रहता है। पहले ही व्यक्त किया गया है कि निस्रावी ग्रंथियों का स्राव कफ-पित्तयुक्त होते हुए भी किसी में कफ और किसी में पित्त का आधिक्य रहता है। कफप्रधान ग्रंथियाँ शरीर की वृद्धि के लिए विशेष जिम्मेदार हैं। उनमें पित्त का अनुबंध रहता है क्योंकि पाकान्तर जो वृद्धि होती है, स्वाभाविक है। साम कफ के स्राव से Myxoedema के समान होनेवाली शारीरिक वृद्धि अस्वाभाविक विकृति उत्पादक और कुरूप बनानेवाली है। इन निस्रोतस ग्रंथियों में जो कफ प्रधान है तथा शारीरिक वृद्धि के लिए जिम्मेदार हैं, ये प्रमुख हैं—

Thyroid, Pituitary anterior lobe, Testes (ये स्रोतस्रावी और निस्रोतस्रावी दोनों हैं) और Corporalutea, Thymus और Pineal भी कफप्रधान ग्रंथियाँ हैं किन्तु कार्य की दृष्टि से ये उतनी महत्त्व की नहीं हैं। इनमें पीयूष ग्रंथि (Pituitary) प्रधान कफ ग्रंथि है। उसमें पित्त के अतिरिक्त वात का भी विशेष अनुबन्ध है। जो गर्भाशय के ऊपर उसके संकोच प्रभाव (Oxytocic action) से ज्ञात होता है। उसका स्राव अष्टविन्द्वात्मक पर या प्रधान ओज है, कफवर्गीय महत्त्वशील द्रव्य है। प्रधान ओज के अतिरिक्त अपर या साधारण ओज भी होता है। ओज कफ का ही परिष्कृत विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न स्वरूप है तथा कोई एक वस्तु न होते हुए कफवर्ग के अन्तर्गत एक उपवर्ग है जिसमें शरीररक्षक कई द्रव्य आ जाते हैं। यह सम्पूर्ण धातुओं का स्नेहरूपी तेजस्वी भाग है जो सम्पूर्ण शरीर में रहते हुए भी हृदयस्थ रक्त में विशेष रूप से रहता है। ओज के विषय में कहा है:—

ओज-सौम्य, चिकना और श्वेत, स्थिर, चलायमान 'उत्तम गुणवाला' कोमल और पिच्छल तथा प्राणों का उत्तम स्थान है, अर्थात् प्राण तदधीन है। इसी ओज से प्राणियों के देह के अवयव व्याप्त होते हैं और उसके अभाव से शरीरधारियों के शरीर के सभी अवयव बेकाम हो जाते हैं। (सु० सू० १५-२३-२४)।

चरक संहिता के (सू० १७।७३ में लिखा है : कुछ लालिमा तथा पीलापन लिये हुए जो श्वेत पदार्थ हृदय में रहता है, उसको शरीर में "ओज" कहा जाता है। इस ओज के नाश से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

उपयुक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि ओज ही शारीरिक क्षमता का हेतु है तथा उसमें रोग के जीवाणुनाशक, जीवाणुद्रावक एवं जीवाणुस्तम्भक (Bacteriocidal, Bacteriolytic and Bacteriostatic) गुण विद्यमान हैं। आधुनिक शरीर क्रियाशास्त्र में वर्णित रक्तस्थ Antibodies Phagcytes, Bactriolysins, Antitoxins, Agglutinis, Precipitins, Opsonins इत्यादि अनेक पदार्थों में से कुछ हैं जो ओज के अन्तर्गत आते हैं। इस विषय में आयुर्वेद वैशिष्ट यह है कि वह ऐसे शरीररक्षक द्रव्यों की उपस्थिति आधुनिक मतानुसार रक्त में मानते हुए हृदयस्थ रक्त में विशेष तथा रक्तातिरिक्त अन्य धातुओं में भी मानता है। ओज की एक और विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण रोगमात्र के प्रति क्षमता का हेतु है जिसमें जीवाणुजन्य रोग आ ही जाते हैं।

Dr. D. W. Halliburton-ने लिखा है कि रक्त गृहीत मिश्रित "ओज" क्षार गुणयुक्त होता है। वर्ण में ईषत्पीत्त और इसका आपेक्षित गुरुत्व १०२६ से १०२९ तक होता है इसमें ९० प्रतिशत जल और १० प्रतिशत पार्थिव पदार्थ होते हैं—इसमें आठ भाग ओज होता है।

जिस प्रकार रक्तवह संस्थान प्रधान पित्तमार्ग है तथा Sympathetic Nerves की उत्तेजना से हृद्गति बढ़ कर रक्त परिभ्रमण बढ़ जाता है तथैव लसीका संस्थान प्रधान कफवाहक संस्थान है। Parasympathetic की उत्तेजना से पचन संस्थान का कार्य बढ़कर आहार रस का अधिक निर्माण होता है। कफ के प्रधान स्थान उरो भाग में स्थित महती रसकुल्या (Great Lymphatic duct) पोषक रस से परिप्लावित हो जाती है और अन्य रसायनियों से स्थायी रस अथवा लसीका संचरण बढ़ जाता है तथा शरीर की उपचयात्मक क्रिया में वृद्धि हो जाती है। यदि यह कहा जावे कि आहार रस तो त्रिदोषात्मक है तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा होते हुए भी पोषण तथा वृद्धिगुण-सम्पन्न होने के कारण यह कफप्रधान है।

३. त्रिदोष का विभागशः विवेचन—

वातादि वर्ग है जिनमें एकजातीय अनेक पदार्थों का समावेश होता है। वायु, पित्त एवं कफ के पाँच-पाँच भेद प्रधान हैं जो यथार्थ में एकजातीय अनेक पदार्थों के समूह हैं, इसलिए इन्हें उपवर्ग कहा जा सकता है।

वायु के भेद—वायु के पाँच भेद धन-ऋण अथवा बाह्य वायु के— Carbon dioxide, Oxygen, Nitrogen, Hydrogen, Halogen आदि के समान हैं। आधुनिक नाड़ी शास्त्र (Neurology) में वर्णित नाड़ी-चक्र तथा योगतन्त्र में षट्पद्म या षट्चक्र पचवायु के विशष्ट स्थान हैं तथा यह संभव है कि तत्रस्थ शक्ति सम्पन्न अज्ञात द्रव्य ही भिन्न-भिन्न वायु हों, अज्ञात द्रव्य इसलिए कहा गया कि अभी तक आधुनिक विज्ञान अथवा प्राचीन साहित्य में समुचित ढंग से खोज नहीं हो सकी है कि इन पाँचों का यथार्थ स्वरूप क्या है। कौन-सी वायु किस चक्र से विशेष सम्बन्धित है इसका विवरण निम्न प्रकार है—

वायु के प्रकार योगतन्त्रोक्त-चक्र—आधुनिक विज्ञानोक्त चक्र।

प्राण वायु अज्ञात चक्र—Cavernous Plexus.

उदान वायु अनाहत चक्र हार्दिक नाड़ी चक्र—Cardiac Plexus.

व्यान वायु स्वधिष्ठान चक्र अधिवास्तिक नाड़ी चक्र—Hypogastric Plexus.

समान वायु मणिपूरक चक्र–उदर्य मस्तिष्क—Gastric or Abdominal Brain)

अपान वायु मूलाधार चक्र वस्ति गुह्यान्तरीय नाड़ी चक्र—Pelvic Plexus.

ऊपर चक्रों में पञ्चवायुओं का सम्वन्ध प्रदर्शित किया गया है। उनके शास्त्रोक्त कार्य और स्थान के आधार पर आधुनिक नाड़ी विज्ञान के अनुसार मार्ग एवं आश्रय स्थानों का वर्णन देखें।

प्राणवायु—मस्तिष्क (Brain), मस्तिष्कीय नाड़ियाँ (Cranial Nerves), परिस्वतन्त्र नाड़ीमण्डल का ऊर्ध्व (Upper part of the

parasympathetic Nervous System), ऊर्ध्व और अधः ग्रैवेयक ग्रन्थि (Superior and inferior Cervical gangila).

उदान वायु—सुषुम्ना का ग्रैवेयक विभाव—(Cervical part of the Spinal Cord) और सुषुम्ना के औरस विभाग का ऊर्ध्वार्ध (Upper half of the thoracic part of the Spinal Cord) तथा तज्जन्य नाड़ियाँ ।

समान वायु सुषुम्ना के औरस विभाग का निम्नार्ध (Lower half of the thoracic part of the spinal Cord), ग्रंथियों सहित मध्य स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल (Sympathetic Nervous Systems including Sympathetic ganglia) सौरमण्डल या उदर्य मस्तिष्क (Solar plexus or abdominal brain), चन्द्रमण्डल (Semiluar ganglion), ऊर्ध्व और अधः नाड़ी चक्र (Superior or inferior mesentric Plexus), पाचन संस्थान नियामक सौषुम्नीय नाड़ियाँ (Spinal Nerves governing the digestive System.) ।

अपान वायु—सुषुम्ना का कटि और त्रिक विभाग (Lumber Sacral part of the Spinal Cord), परिस्वतन्त्र नाड़ी मण्डल का अधोभाग (Lower part of the parasympathetic Nervous System), अधिवस्तिक नाड़ी चक्र (Hypogastric Plexus) ।

व्यान वायु--चेष्टावह और संज्ञावह नाड़ियाँ (Motor and Sensory-Nerves including Vasomotor and Pilomotor Nerves) ।

इन वायुओं का भिन्न-भिन्न निस्रोतस ग्रन्थियों के स्रावों तथा अन्य स्रावों से भी विशिष्ट सम्बन्ध है जो निम्न प्रकार है--

वायु के प्रकार स्राव--

प्राणवायु--पीयूष या पोषिका ग्रन्थि (Pituitary Gland) का स्राव ।

उदान वायु--ग्रैवेयक या चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland) का स्राव ।

व्यान वायु--मज्जान्तः स्राव (Nerve and-secretion i-e choline Hydrochlor) ।

समान वायु—आमाशयिक स्राव और आन्त्रिक उद्रेचन (Gastric Juice & Succus entericus) ।

अपान वायु—उपवृक्कोद्रेक (Adrenal Secretion) ।

पित्त के भेद

पाचक पित्त—इसमें आधुनिक शास्त्रोक्त निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश होता है--लाला स्राव (Saliva) का Ptylin नामक Enzyme आमाशयिक-स्राव (Gastric Juice) का अम्ल भाग तथा Rennet या Rennin और Pepsin नामक Enzymes, अग्न्याशयिक स्राव (Pancreatic Juice), आन्त्रिक स्राव (Succus entericus) और बाइल । अग्न्याशय के दो प्रकार के स्राव है--बहिः और अन्तःस्राव । बहिःस्राव Pancreatic juice और अन्तःस्राव Insulin कहलाता है । अन्तःस्राव—एक प्रकार का सर्व शरीर चर सूक्ष्म पाचक पित्त या प्रधान धात्वाग्नि है ।

रञ्जक पित्त—आयुर्वेद में रंजक पित्त का स्थान आमाशय, यकृत और प्लीहा बतलाये गये हैं । इसका कार्य इस धातु को रंगने याने रस को रक्त बनाने का है । यह कार्य जिस द्रव्य से होता है उसको Erythrocyto maturing factor, P. A. Factor अथवा Haemopoetic Principal कहते हैं । यही आयुर्वेदोक्तरंजक पित्त है । आहारस्थ Extrinsic factor तथा आमाशयस्थ Intrinsic factor के संयोग से इसका निर्माण आमाशय में होकर यकृत में सञ्चय होता है, अतः यकृत और आमाशय रञ्जक पित्त के स्थान कहे गये हैं । यद्यपि रक्त के लाल कणों का निर्माण इनमें न होकर अस्थिमज्जा (Bone marrow) में होता है तथापि एतदर्थ यकृतस्थ E. M. F. या Heamopoetic Principal परमावश्यक हैं । आजकल पाण्डु रोग (Anaemia) में प्रयुक्त यकृत सत्व (Liver extract) के सूचिवेध्यों का प्रभाव रक्त वृद्धि में स्पष्ट देखा जाता है जो प्राच्यमत की पुष्टि करता है तथा ऋषियों का तीव्र वैज्ञानिक बुद्धि हमें आश्चर्य में डाल देती है ।

इसी प्रकार आमाशयिक सत्व (Gastric of stomach extract)

का प्रयोग भी पाण्डुरोग में मुख द्वारा किया जाता है जो वाग्भट के इस मत की पुष्टि करता है कि आमाशय भी रंजक पित्त का स्थान है। प्लीहा में भ्रूणावस्था तथा शैशवावस्था में रक्ताणु बनते हैं तथा उसमें आवश्यकता के लिए रक्त का सञ्चय रहता है। अतः प्लीहा का निर्देश भी रंजक पित्त के स्थानों में कर दिया है। शैशवावस्था के पश्चात् उसमें रक्त के केवल श्वेताणु बनते हैं।

रक्त में जो लाल वर्ण रहता है वह रक्ताणुओं में स्थित Haemoglobin के कारण है इसलिए Haemoglobin भी रंजक पित्त है।

साधक पित्त—कुछ लोगों का मत है कि यह हृद्रत (Sympathetic Nerves) द्वारा स्रवित (adrenaline) अथवा तत्सम कोई स्राव है। किन्तु निबन्धकार श्री डा० लक्ष्मीनारायण जी का मत है कि यह हृदय का ही कोई स्राव है जिसका आधुनिक वैज्ञानिकों को अभी तक पता नहीं लगा है। हृत्मांसपेशी की विशिष्ट रचना और उसका किसी नाड़ी द्वारा उत्तेजना (Nervous Stimulus) पाये बिना विपरीत गति से कार्य करते रहना यह सूचित करता है कि उसका कोई स्राव है जो वह कार्य नियमित रूप से करता है (Sympathetic) या (Vagus Nerves) का नियामक प्रभाव हृदय की गति के आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा करने में अवश्य होता है। लेकिन इसकी उत्तेजना के अभाव में जो स्पन्दन कार्य होता है वह हृदय का स्वाभाविक है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा इस तरह के प्रयोग किये जा चुके हैं और यह सिद्ध हो चुका है कि हृत्पेशी का कार्य नाड़ीजन्य (Neurogenic) न होकर पेशीजन्य (Myogenic and Myodromic) है। आधुनिक हृदय विशेषज्ञ (Cardiologists) हृद्रोगी में हृद्रस (Cardiac extract) का प्रयोग करते हैं। इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि हृदय का अवश्य कोई स्राव होना चाहिए जो हृदय का पोषक तो है ही किन्तु शरीर की उच्चतम क्रियाओं का उत्तेजक भी है। हृत्पेशी का स्राव (Hormone or internal Secretion of the heart) हृत्कार्य सम्पादन करता हुआ मन तथा शरीर को उत्साहित कर अभिवांछित मनोरथ की पूर्ति करता है वही साधक पित्त है।

आलोचक पित्त—यह नेत्र के (Retina) नामक अन्तःपटल का (Visual Purple Rhodopsin) नामक रंजक पदार्थ है जो (Rods) के वाह्य अंग में स्थित रहता है। यह रक्तवर्ण का होता है। कैमरे के निगेटिव प्लेट के समान वस्तु आदि के जो चित्र (Retina) पर बनते हैं वे इसी द्रव्य के रासायनिक परिवर्तनों के कारण बनते हैं। (Blind spot) पर जहाँ कि (Rods) नहीं रहते (Visual purple) की अनुपस्थिति के कारण कोई प्रतिच्छाया नहीं दिखाई देती। आँख में इस रंजक द्रव्य के अतिरिक्त और भी रंजक द्रव्य हैं, जिनके सम्बन्ध में अभी विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है यथा पीतविन्दु (Yellow spot or Macular lutia) में स्थित पीत द्रव्य।

भ्राजक पित्त—यह एक त्वक्कोष्ठस्थ द्रव्य (Intracellular Substance of the Skin) है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में ताप नियमन, शोषण और तैल तथा स्वेद प्रस्रवण त्वचा के प्रधान कार्य बतलाये गये हैं किन्तु इनके कर्ता का वर्णन नहीं दिया है। नाड़ी संस्थान में तैल ग्रन्थियों और स्वेद ग्रन्थियों का प्रेरक केन्द्र हैं तथापि सामान्य दशा में इनका नियम तथा त्वचा द्वारा लेपादि का पाचन और शोषण कार्य त्वक्कोष्ठस्थ द्रव्य एवं तन्निष्ठ उष्मा द्वारा होता है जो आयुर्वेदोक्त भ्राजक पित्त है। त्वचा की स्थिति नाड़ी प्रभाव के अन्तर्गत होते हुए भी हृदय के तन्निष्ठ स्फुरण गुण के समान स्वकीय एवं स्वतंत्र है तथा जिस प्रकार हृदय में साधक पित्त के द्वारा कार्य सम्पादन होता है उसी प्रकार त्वचा में उसके कार्य भ्राजक पित्त के आधीन हैं।

कफ के भेद

क्लेदक कफ—आमाशय की उपचयात्मक ग्रन्थियों का स्राव (Gastric mucous Secretion excluding hydrochloric acid and enzymes named papsin and rennine) आमाशय में Rennine तथा pepsin नामक पित्तवर्गीय enzymes के अतिरिक्त autrogastrone नामक protective enzyme होता है जो आमाशय की श्लैष्मिक कला को पूर्वोक्त

enzymes के तीक्ष्ण प्रभाव के द्वारा विनष्ट होने से बचाता है। यह रक्षक enzyme क्लेदक कफ का ही भाग है।

अवलम्ब कफ : हृदयावरण और फुफ्फुसावरण में स्थिति द्रव्य (Serous fluid in pleura & pericardium), श्वास संस्थान का श्लैष्मिक द्रव्य (Tissue fluid of the respiratory System), महती रसकुल्या में स्थित रस (Lymph & chyle in great lymphatic duct called thoracic duct), उपचुल्लिका तथा औरस ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (Internal Secretion of the thyroid, parathyroid & thymus glands)

बाधक या रस कफ : मुख और गले का श्लैष्मिक स्राव (Mucous Secretion of the mucous gland in the mouth and Pharynx), लाल ग्रन्थियों का लाला स्राव (Salivary Secretion of the Salivary gland excluding ptylin), श्लेष्मा भू अथवा उपजिह्वका नामक दो रस ग्रन्थियाँ (Lymphoid glands) जिन्हें Tonsil भी कहते हैं उनका स्राव।

तपक कफ–मस्तिष्कशुषुम्ना द्रव Cerebrospinal fluid which is nutritive to the Nerve tissues, नैत्रगोलक में स्थित द्रव्य Aqueous and vitreous humours in the eye balls, अश्रु ग्रन्थि का स्राव Lacrymal-secretion, तथा अन्तःकर्ण स्थित द्रव––(Fluid inside the internal ears called endolymph & perilymph.)

श्लेषक कफ—अस्थि सन्धियों स्थित श्लेषमा (Spnovia i. e. Synovial fluid in the Joints), अणुश्लेष्मा या कोषाणुओं की सन्धियों में स्थित श्लेष्मा (Inter Cellular Substance.)*

मर्म स्थान—मानव शरीर में जीव के धारण करने के जो स्थान हैं उन्हें

---

* नोट–संशोधन एवं परिवर्धन के लिए पटना आयुर्वेद शास्त्रचर्या परिषद् द्वारा निश्चित विवेचन देखें।--लेखक।

मर्मस्थान कहते हैं। वे मर्म पाँच प्रकार के हैं, मांसमर्म ११, शिरामर्म ४१, स्नायु मर्म २७, अस्थि मर्म ८ और सन्धि मर्म २०, इस प्रकार इनकी संख्या १०७ है। मर्म स्थान में चोट लगने पर तत्क्षण मृत्यु हो जाती है।

नाड़ी : जिसके द्वारा रस और पवन का बहाव होता है, नाड़ी अथवा धमनी कहते हैं।

मांस पिण्डी : मानव शरीर में मांस की गठाने हैं उसी को मांस पिण्डी कहते हैं। ये मांस पिण्डियाँ बल को धारण करने वाली हैं।

छिद्र : मानव शरीर में आँख, नाक, कान, तालु, मुँह, गुदा और लिंग ये दस छिद्र हैं। स्त्रियों को दो स्तन और एक गर्भाशय के भी छिद्र हैं।

कण्डरा : शरीर की सबसे बड़ी नसें जो सर्वाङ्ग को फैलाने और बटोरने देती हैं।

यकृत : पित्त के स्थान के पास जो रक्त का स्थान है उसे यकृत कहते हैं। रक्त के बहाने वाली नसों के मूल को प्लीहा कहते हैं।

नाभि के बाम भाग में अग्निस्थान पर जो तिल है वह जल बहाने वाली नसों का मूल है। यही तिल प्यास को रोकती है। कुक्षि में दो गोले हैं, जिन्हें वृक्क कहते हैं। उक्त दोनों वृक्क पेट के मेद को पुष्ट करते हैं। पोते, वीर्य को बहाने वाली नसों के आधार हैं। ये पराक्रमदाता, गर्भोत्पादक, वीर्यगृह और हृदय, मन, पित्त, अहंकार एवं बुद्धि के स्थान हैं। धमनी आदि नसों का स्थान नाभि है। इसका समान वायु सर्वधातुओं के संयोग से शरीरमात्र को पुष्ट करता है तथा इसका पवन "हृदय कमल" को स्पर्श करके नाक से बाहर निकलता और पुनः शरीर में प्रवेश करते हुए शरीर तथा जीव को शक्ति प्रदान करता है। वायु, पित्त एवं कफ तथा सप्तधातुओं को बहाने और संधियों को बाँधने वाली बँधनी को "नस" कहते हैं।

हृदय--पाश्चात्य विज्ञान के मतानुसार सम्पूर्ण शरीर का परिचालक मस्तिष्क है और आयुर्वेद के मतानुकूल हृदय ही आत्मा का स्थान है जहाँ से आत्मा सम्पूर्ण शरीर को परिचालित करती है।

हृदय, रक्तसार द्वारा निर्मित कमल की अधखिली कली के समान "चैतन्यता" का स्थान होकर मानव शरीर स्थित सर्वधातुओं का तेजोमय प्रकाशस्वरूप है। अक्सर प्रश्न उठा करता है कि चेतना का स्थान हृदय है अथवा मस्तिष्क ?

मत विभिन्नता से कुछ लोग चेतना का स्थान हृदय और कुछ लोग चेतना का स्थान मस्तिष्क मानते हैं। मस्तिष्क को चेतना का स्थान मानने वाले विद्वान् विशेष कर "भेल संहिता" का प्रमाण उपस्थित करते हैं लेकिन उक्त प्रमाण में श्लोकार्थ का झमेला उठ खड़ा होता है।

सुश्रुत के मतानुकूल रसधातु और कफधातु के सारभाग से माता के गर्भ में हृदय बनता है। उसके नीचे बायीं ओर प्लीहा और फुफ्फुस के स्थान हैं और दाहिनी ओर यकृत एवं क्लोम के स्थान हैं।

अग्निपुराण में लिखा है—कफ के प्रसाद से हृदय तैयार होता है। यह अधोमुख छिद्र संयुक्त कमल के समान है, जहाँ जीवात्मा और चैतन्य के अनुगत द्रव्य मन बुद्धि, बायीं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत है। अग्निपुराण के मतानुसार वक्षस्थल में जो मांस पिण्ड अर्थात् "**हृदय**" है वहीं पर आत्मा, बुद्धि और मन इत्यादि के स्थान हैं।

कविराज गणनाथ सेन जी M. A., L. M. S. ने उक्त विषय पर अपना मत प्रकट करते हुए बतलाया है कि हृदय शब्द चेतना का स्थान कहा गया है। वह "मस्तिष्कार्थक" है। स्वर्गीय सेन जी की इस उक्ति से बहुत-से आयुर्वेद विशारद भी सहमत हैं। आयुर्वेद की आधुनिक शिक्षण व्यवस्था में सेन जी द्वारा रचित पुस्तक प्रायः अधिकांश विद्यालयों में पढ़ाई जाती हैं।

आयुर्वेद में मानव शरीर की समस्त गतिविधियाँ वात, पित्त एवं कफ इन तीनों धातुओं के आश्रित हैं जो वैशेषिक के पंच महाभूत सिद्धान्त पर अवलम्बित हैं। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान मतानुकूल द्रव्य की तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं यथा—मूर्त, तरल एवं वाष्पीय। आयुर्वेद में ५ अवस्थाएँ स्वीकार की गयी हैं—द्रव्य की प्राथमिक अवस्था जिसको आकाशीय (Vibra-

ting) कहते हैं। तदनन्तर वह वायवीय (Undulatory) अवस्था में परिणत होता है। इसके पश्चात् तैजस् में जिसको Radiant कहते हैं; अनन्तर जलीय में जो Cohesiva में और पश्चात् पार्थिव Adhesive में परिणत हो जाता है।

पाश्चात्य चिकित्सकों के मतानुसार शरीर का प्राथमिक मूल घटक एक जीव कोष (Cell) है जो अन्नरस मय है। आयुर्वेद मतानुकूल इस कोष के घटक अन्नरस के उपादान कारण त्रिधातु हैं। आयुर्वेद मतानुसार शरीर के भिन्न-भिन्न कार्यों के करने के कारण उक्त वायु, पित्त एवं कफ के अलग-अलग पाँच-पाँच भेद किए गए हैं। अतः आयुर्वेद ने मानव शरीर को पंच महाभूत घटित माना है जिसको अंग्रेजी में Synthesis of Five elements कहा जाता है।

अध्याय—२

नवीन दृष्टिकोण से मानव शरीर का संक्षिप्त विवरण

शरीर तत्व (Biology)

मानव शरीर की जानकारी के वास्ते शारीरिक गठन की बनावट (Structure) और शारीरिक कार्य (Function) इन दो विषयों की विशिष्टता पर ध्यान देना होगा।

कार्यतत्व, विज्ञान से पता चलता है कि शरीर के विभिन्न **संस्थानों** (Systems) द्वारा किस प्रकार शारीरिक व्यापार जारी रहता है। मानव-शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार के बहुत-से संस्थान हैं।

हृदय, धमनी, रक्तवह नलियाँ और शिराएँ—**रक्त सञ्चालन संस्थान** (Circulatory Systems) के अवयव हैं। यकृत, आँत और आमाशय **पोषण संस्थान** (Digestive Systems) के अवयव हैं। नाक, टेंटू, स्वास-नली और फेफड़ा **श्वास प्रश्वास संस्थान** (Respiratory System) के अवयव हैं। हड्डियों की मिलावट **अस्थि संस्थान** (Skeleton System) और नाड़ी एवं मस्तिष्क **नाड़ी संस्थान** (Nervous System) के अवयव हैं। मांस और मांसपेशियाँ **मांस संस्थान** (Muscular System) और लिंग, योनि, गर्भाशय एवं अण्डकोष आदि **उत्पादक संस्थान** (Reproductive System) के अवयव हैं। गुर्दा, मूत्रस्थली और मूत्राशय **मूत्रवाहक संस्थान** (Urinary System) के अवयव एवं आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा **ज्ञानेन्द्रिय संस्थान** (Sense organ) हैं। शरीर के समस्त जोड़ों को **सम्मिश्रण-संस्थान** (Syndesmology) कहते हैं।

उक्त संस्थानों में गड़बड़ी आ जाने से शरीर में भी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। इन संस्थानों के उचित प्रगति से ही शरीर व्यापार सुन्दर ढंग से संचालित होता है।

संस्थानों के अतिरिक्त मानव शरीर में चार विशेष महत्वपूर्ण पदार्थ हैं—सेल (Cell), सेल नियन्त्रक (Cellulose), तन्तु (fibre) और तरल (fluid) उक्त चार प्रमुख पदार्थों के अलावे मानव शरीर में निम्नलिखित पदार्थ भी प्रमुख हैं—चर्म, रक्त, मांस, चर्बी, स्नायु एवं हड्डी आदि।

सेल (Cell)—मानव शरीर में स्थानानुकूल विभिन्न प्रकार की सेलें होती हैं। इनमें कोई भोजन पचाने वाली, हवा खींचने वाली और इसी तरह भिन्न-भिन्न कार्य करने वाली सेल पायी जाती हैं। सेल्यूलोस का कार्य सेलों को नियंत्रित रखना है। तन्तु—प्रायः दो प्रकार के होते हैं—उजला और पीला। यह सूत्रों के बीच महीन जाली सदृश रहता है जिसमें चर्बी रहती है। शरीर के शून्य स्थानों में एक प्रकार का तरल पदार्थ भरा रहता है जिसको तरल कहते हैं।

सेल इत्यादि चारों पदार्थों के विश्लेषणार्थ विशेष समय एवं स्थान की आवश्यकता है। केवल एक सेल में ही चार प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं। जैसे—जीवोज (Protoplasm), मींगी, अणुमींगी, और आकर्षण गोला (Centrosome.)

मानव—शरीर पाँच भागों में विभक्त है, यथाः सिर, गला, धड़, ऊपरी शाखाएँ और निम्न शाखाएँ।

सिर में—कपाल, आँख, कान, नाक, मुँह, भौं, जबड़ा, होठ और गाल आदि स्थान हैं। मुँह के भीतर दाँत, जीभ, तालू, तालू मूल, ग्रन्थियाँ और स्वरयन्त्र एवं अन्नवहानली मुख्य हैं।

गला—में अन्नवहानली, श्वांसनली आदि स्थित हैं। मानव शरीर का आधार-स्तम्भ मेरुदण्ड गर्दन से शुरू होकर दोनों चूतड़ के बीच तक आता है।

धड़—में हँसली की हड्डी, वक्ष, स्तन की घुण्डी, वक्षस्थि; पसली की हड्डियाँ, इन हड्डियों के बीच में फेफड़ा। हृदय और निम्न भाग में आँत; पक्वाशय-यकृत, प्लीहा और नाभि के नीचे मूत्र की थैली आदि अवयव हैं। धड़ का पिछला भाग पीठ कहलाता है।

ऊपरी शाखाएँ—गला के निम्न भाग के दोनों बगल में दो बाहें लगी हुई हैं। बाँह और हाथ के जोड़ को कोहनी (Elbow) कहते हैं। इसके नीचे

कलाई और कलाई से आगे पहुँचा जुड़ा हुआ है। पहुँचा के अगले भाग में तलहत्थी है। जिसमें अँगूठा, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा ये पाँच अंगुलियाँ लगी हैं। प्रत्येक अंगुलियों में तीन-तीन पोर और नोक पर नख लगे हुए हैं।

ऊपरी शाखाएँ—कमर के निम्न भाग में दो पैर जुड़े हुए हैं। चूतड़ के नीचे जंघा, ठेहुना, पैर का पञ्जा, अँगुलियाँ एवं नख आदि स्थित हैं।

मानव शरीर के ढाँचा को **कंकाल** (Skeleton) कहते हैं। नख से शिखा तक शरीर, छोटी बड़ी विभिन्न प्रकार की हड्डियों से जुड़ा हुआ है। हड्डी द्वारा ही मानव शरीर एक ठोस एवं मजबूत ढाँचास्वरूप खड़ा है। हाँ-केवल हड्डियों को खड़ा कर देने से ढाँचा नहीं तैयार हो पायेगा बल्कि उसको मांस एवं नस आदि द्वारा समर्थ बनाया गया है।

हड्डी के ऊपर मांसपेशियाँ हैं जिनकी संख्या आयुर्वेद मतानुकूल ५०० और ५२० पहले ही बतलाया जा चुका है उक्त मांसपेशियाँ तह की तरह जमी हुई हैं। देखने में तो इनका रंग लाल होता है लेकिन वास्तव में ये लाल रंग की नहीं बल्कि उजली हैं।

मानव शरीर में कई एक प्रकार की मांसपेशियाँ हैं, इनमें बहुत-सी दो मुख और तीन मुख वाली भी हैं। खासकर जोड़ों के स्थान पर ही तीन मुख वाली मांसपेशियाँ रहती हैं। इनमें रक्त भरा रहने के कारण ये रक्त वर्ण दिखलाई पड़ती हैं।

रक्त में प्रायः तीन पदार्थ पाए जाते हैं—**रक्तजल** (Plasma), **लाल रक्त कण** (Erythrocyte) **और श्वेत कण** (White Corpuscles)। रक्त पानी की तरह पतला होता है लेकिन बाहर निकलते ही गाढ़ा और थुलथुला हो जाता है। मानव शरीर में शरीर का २०वाँ हिस्सा केवल रक्त ही रहता है।

हृदय द्वारा शरीरमात्र में रक्त संचालन होता है। धमनी द्वारा सर्वत्र शुद्ध

रक्त पहुँचता और शिरा द्वारा अशुद्ध रक्त पुनः हृदयावास में लौट आता है। रक्त बहाने वाली सूक्ष्म नलियों को कोशिका (Capillary) कहते हैं।

मांस के ऊपर चर्बी लगी रहती है। चर्बी को धारण करने वाली एक प्रकार की पतले सूत्रों की जाली होती है। मांस की तह के बीच चर्बीमय झिल्ली में श्वेत तन्तु हैं **जिन्हें नाड़ी सूत्र** कहा जाता है। इसी नाड़ी सूत्र द्वारा सभी प्रकार की अनुभूतियाँ मस्तिष्क में पहुँचती हैं।

मानव शरीर में रस निर्माण कार्य के लिए विभिन्न प्रकार की ग्रन्थियाँ बनी हैं, जो दो प्रकार की होती हैं स्नेहिक और स्वेदाही। स्नेहिक ग्रन्थि द्वारा एक प्रकार का तैल स्वरूप रस का स्राव होता है और स्वेदाही से पसीना तैयार होता है। इन्हीं ग्रन्थियों के कार्यस्वरूप केश और त्वचा में चिकनाहट एवं उचित रीति से स्वेदस्राव क्रिया हुआ करती है। मानव शरीर में चौबीस लाख ग्रंथियाँ हैं।

मानव शरीर के सभी **"यन्त्रादि"** तन्तुओं से बँधे हुए हैं। शरीर के ऊपरी भाग में चमड़ा की दो तहें हैं जिनको **अन्तस्त्वक्** (True Skin) और **बहिस्त्वक** (False Skin) कहते हैं। बहिस्त्वक में बहुत-सो सेलें होती हैं जो नित्यप्रति घिसती और पुनः निर्मित होती रहती हैं। त्वचा बिलकुल ठोस जैसी प्रतीत होती है लेकिन इनमें अनेकों छिद्र हैं जिनके द्वारा स्वेद निकलता है साथ ही इनके द्वारा शरीर में **आक्सीजन** (Oxygen) का प्रवेश और **कार्बन डाई आक्साइड** (Carbon di-oxide) का निष्कासन भी होता है।

इन्हीं लोमकूपों से बाल निकलते हैं। बाल की जड़ मांस की तही में स्थित है। त्वचा के ऊपर बाल के अलावा नख भी देखने में आते हैं जो हड्डी के उपादान स्वरूप हैं। नाखून केवल अँगुलियों के अग्र भाग में ही उगते हैं।

अस्थि पंजर (Skeleton)

अस्थि संख्या में बहुत-से मत-मतान्तर देखने में आते हैं लेकिन अधिकांश

पाश्चात्य चिकित्सक केवल २०६ हड्डियों का हवाला देते हैं जिनकी अंशगत संख्या निम्न प्रकार हैं—

खोपड़ी में २२, मेरुदण्ड में २६, मध्य छाती में १, पसलियों में २४, ऊपरी शाखाओं में ६४, निम्न शाखाओं में ६२, कण्ठ में १ और दोनों कान की ६ कर्णास्थियाँ।

हड्डी में दो विशेष महत्वपूर्ण पदार्थ प्राणिजद्रव्य और खनिजद्रव्य पाये जाते हैं : साधारणतः ३३ प्रतिशत प्राणिज और ३७ प्रतिशत खनिज द्रव्य का वर्णन देखने में आता है लेकिन अवस्था भेद से इसमें न्यूनाधिकता देखी जाती है। बचपन में प्राणिजद्रव्य की अधिकता और वृद्धावस्था में खनिज द्रव्य की अधिकता हो जाती है। यही कारण है कि बचपन की अस्थि झुकने पर भी आगे चलकर ठीक हो जाती है लेकिन वृद्धावस्था की प्राणिज द्रव्य के अभाव और खनिज द्रव्य की अधिकता के कारण जरा-सा झटका से ही टूट जाया करती है।

हड्डी में और भी भिन्न-भिन्न पदार्थ पाए जाते हैं, यथा—हड्डी का जलीय अंश, कठिन अंश तथा मज्जा आदि। हड्डी के ऊपरी भाग में एक लेप जैसा तह है जो देखने से रक्तवर्ण जान पड़ता हैं लेकिन धो देने पर उजला दिखलाई पड़ता है, इसी को कठिन अंश कहते हैं।

स्पंज की भाँति **रक्तजाल में** जलीय अंश देखने में आता है। प्राणियों की जीवितावस्था में इसमें मज्जा और रक्तवह नालियाँ देखने में आती हैं।

लाल मज्जा हड्डी के जलीय अंश और पीली मज्जा अस्थियों के सिरों में स्थित हैं। लाल मज्जा की सेलें रक्तकण की तरह बड़ी आकार वाली और पीली मज्जा में, चर्बी और मेद सेलें पीली होती हैं लेकिन इनमें भी रक्तनलियाँ होती हैं।

हड्डियों के ऊपरी भाग में एक प्रकार का त्वक् होता है जिसको **अस्थि-गात्रावरण** (Periosteum) कहते हैं। इसमें रक्तवहा नलियाँ जुड़ी रहती हैं और अस्थि को खाद्य पहुँचाया करती हैं।

हड्डियों के अलावा दो उपास्थित भी होती हैं जिनको **सूत्रमय कार्टिलेज** (Fibro Cartilage) और अस्थाई कार्टिलेज (Temporary Cartilage) कहते हैं ।

———

संस्थानों के संक्षिप्त विवरण

संधि-संस्थान—हड्डियों के मिलान को सन्धि कहते हैं । जहाँ-जहाँ हड्डियों के मिलान हैं, प्रत्येक जगहों में सन्धि बन्धन हैं जिन्हें **बन्धनी** (Ligaments) कहते हैं ।

सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं । **चल** (Movable) और **अचल** (Immovable) । कन्धा, कोहिनी और अंगुलियों आदि की सन्धियाँ **चल** और खोपड़ी आदि की सन्धियाँ **अचल हैं** । सन्धिकोष में एक प्रकार की चिकनी झिल्ली रहती हैं जिनमें पतला पदार्थ भरा रहता है जो हड्डियों को रगड़ खाने से बचाता है ।

मांस संस्थान—हड्डी के ऊपर मांस के विभिन्न प्रकार के लोथड़े जुड़े हुए हैं जिनके द्वारा शरीर व्यापार गतिशील होने में समर्थ हो पाता है । इन्हीं लोथड़ों को **मांसपेशियाँ** कहा गया है । हृदय आदि का मांस मांसपेशियों से भिन्न है ।

निम्नलिखित तीन प्रकार की मांसपेशियों को प्रधानता दी जाती है—आयतनी (Extensibility), सिकोड़नी (Contractibility) और नामनी (Elasticity) । मृत्यु हो जाने पर नामनी अर्थात् नमनशील प्रगति का विनाश हो जाता है । पेशियों में संकोचन एवं फैलाव का कार्य बराबर चला करता है जिसके फलस्वरूप शरीर में **आक्सीजन** का प्रवेश और **कार्बोनिक एसिड** का निष्कासन होता रहता है । परिश्रम के अधिक भार से मांसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप विश्राम की आवश्यकता हो जाती है ।

मांसपेशियों के दो प्रकार हैं : **ऐच्छिक**—(Voluntary) और **अनैच्छिक**—(Involuntary) । मानवेच्छा से चलनेवाली ऐच्छिक और स्वयं संचालन होनेवाली (जैसे अन्ननाली आदि) अनैच्छिक कहलाती हैं । ये

मांसपेशियाँ सिर एवं गर्दन में ८०, जीभ में ८, गला में १०, तालु में १०, ऊपरी शाखाओं में ११८, धड़ में १३४, पेट के बीच में १, निम्नशाखाओं में ११८, स्वरयन्त्र में १०, कान में २२ और आँख के पलकों में १४ इस प्रकार इनकी संख्या ५२५ है।

रक्तवाहक संस्थान—रक्त शरीर का पोषक है। यह हृदय की गति द्वारा संचालित होकर नाड़ियों में भ्रमण करता है। पहले ही बतलाया जा चुका है कि "**हृदय** (Heart)" मानव शरीर का सर्व प्रधान अवयव है।

यह सौत्रिक तन्तु से बनी एक प्रकार की थैली में स्थित रहता है जिसका आकार केला के फूल जैसा होता है। यह चार खानेवाली कोठरी के समान है। ऊपर की दोनों कोठरियाँ कुछ छोटी और निम्न भाग की दोनों कोठरियाँ कुछ बड़ी होती हैं। ऊपर की कोठरियों को **ग्राहक कोष** (Auricle) और नीचे की कोठरियों को **क्षेपक कोष्ठ**—(Ventricles) कहते हैं। दाहिने ग्राहक कोष्ठ में ऊपर और नीचे दोनों ओर एक-एक शिरा हैं। ऊपर वाली को **ऊर्ध्व महाशिरा** (Superior Venacava) और निम्न भागवाली को **निम्न महाशिरा** (Inferior Venacava) कहते हैं। ऊर्ध्व महाशिरा और निम्न महाशिरा दोनों मिलकर शरीरमात्र के अशुद्ध रक्त को हृदय कोष्ठ में लाती हैं।

हृत्पिण्ड के पिछले भाग के सामने बायें अंश में बायाँ **क्षेपक कोष्ठ** स्थित है। यह दाहिने क्षेपक कोष्ठ की अपेक्षा तीन गुना बड़ा है, इसमें चार नालियाँ जुड़ी हुई हैं, जिसमें दो बाम भाग के फुफ्फुस और दो दाहिने भाग के फुफ्फुस से आती हैं। ये शिराएँ हृदय से जुड़ी हुई हैं। इनके पिछले भाग में **महाधमनी** (Aorta) का स्थान है। शरीर की समस्त धमनियाँ इसी महाधमनी की शाखाएँ हैं। कोष्ठ के अन्दर इस धमनी के समीप कपाट है जिसके द्वारा रक्त कोष्ठ में नहीं लौट पाता है। रक्त नियंत्रण के लिए समूचे हृदय में चार कपाट हैं।

हृत्पिण्ड और फुफ्फुस के सम्बन्ध से रक्त का शोधन और संचालन होता है। शरीर के ऊपरी भाग का विकृत रक्त ऊर्ध्व महाशिरा और निम्न भाग का दूषित रक्त निम्न महाशिरा द्वारा दाहिने ग्राहक कोष में आता है। जब रक्त से

कोष्ठ भर जाता है तब उसमें संकोचन पैदा होने लगता है जिसके फलस्वरूप त्रिकपाट पर दबाव पड़ कर समूचा रक्त दाहिने क्षेपक कोष्ठ में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार त्रिकपाट द्वार पुनः बंद हो जाता है और रक्त ऊपरी कोष्ठ में नहीं जाने पाता। वह रक्त फुफ्फुस धमनियों में प्रवेश करता है और फुफ्फुस में जाकर निम्न प्रकार परिष्कृत हो जाता है।

फुफ्फुस धमनी हृदय से निकलकर दो भागों में बँटती हैं और दोनों फुफ्फुसों में पहुँचकर सूक्ष्म **कोशिकाओं** (Capillaries) का रूप धारण कर लेती हैं। उक्त कोशिकाएँ वायुकोषों से घिरी रहती हैं, जिसके फलस्वरूप वायु-कोषों में शुद्ध हवा पहुँच कर अपने समीपस्थ के अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर देता है। वायु के संसर्ग से रक्तस्थित कार्बोनिक एसिड गैस वायु कोष में चली जाती है और वायु कोष से आक्सीजन गैस रक्त में मिल जाती है। अतः कोशिकाओं द्वारा लाया हुआ रक्त विशुद्ध हो जाता है।

फुफ्फुस वाली धमनी के अलावे अन्य सभी धमनियों में शुद्ध रक्त ही रहता है। फुफ्फुस वाली शिराओं में भी चार के अलावे बाकी में अशुद्ध रक्त रहता है। बहुत-से स्थानों पर सूक्ष्म नलियाँ आपस में मिलकर **शिराएँ** (Veins) बन जाती हैं। शुद्ध रक्त वाहिनी नलियाँ धमनी और अशुद्ध रक्त लाने वाली सभी नलियाँ शिराएँ कहलाती हैं।

लसिका संस्थान—(Lymphatic System) कोशिकाओं में रक्त प्रवाह के साथ-साथ एक प्रकार का तरल पदार्थ का स्राव होता है जिसको लसिका कहते हैं। इसी लसिका से शरीर स्थित सभी सेलें तर रहती हैं, सेलों के दूषित पदार्थ को सोखना और पोषक पदार्थ प्रदान करना ही लसिका का प्रधान कार्य है। मानव शरीर में बहुत-सी **लसिका ग्रंथियाँ** (Lymphatic glands) हैं, जो रोग होने पर फूल जाया करती हैं।

श्वास-प्रश्वास संस्थान (Respiratory System)—नासिका से फेफड़ा तक वायु के आवागमन मार्ग को **श्वास-मार्ग** (Respiratory tract) कहते हैं। वायु नलियाँ सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर होकर फेफड़ों में फैली हुई हैं। मानव-शरीर में श्वास-प्रश्वास का सर्वश्रेष्ठ साधन **फुफ्फुस** (Lungs)

ही है। फुफ्फुस मुलायम, स्पंज की भाँति छिद्रयुक्त और हल्का नीलापन लिए हुए धुमैला रंग का होता है। दाहिना फेफड़ा बाएँ फेफड़ा की अपेक्षा कुछ अधिक बड़ा होता है। फेफड़ा के ऊपर एक प्रकार का आवरण रहता है जो सौत्रिक तन्तुओं से बना है। इस आवरण को **फुफ्फुसावरण** (Pleura) कहते हैं।

श्वास-नली का भीतरी भाग श्लैष्मिक झिल्ली से ढंका हुआ है और बाहरी भाग उपास्थि द्वारा सुरक्षित है श्वास-नली की लम्बाई लगभग ४ इंच होती हैं। **श्वास नली** (Trachea) और **वायु नली** (Bronchi) दोनों **वायु वाहिनी** (Air passages) हैं और इन्हीं के द्वारा वायु फेफड़ा में प्रवेश करता है। श्वास नली के पास ही कण्ठ में **अन्नवहा नली** (Elimentary Canal) है। उक्त दोनों नालियों के बीच एक प्रकार का ढक्कन है जो भोजन निगलते समय श्वास नली को बन्द कर देता है। श्वास नली के अग्र भाग को कण्ठ अथवा टेटू कहते हैं इसका ऊपरी भाग **स्वर सन्दूक** (Voice Box) कहलाता है। कण्ठनली से एक छिद्र **गल कोष** (Pharynx) तक है। गलकोष से एक छिद्र नासारंध्र और एक छिद्र मुखगह्वर तक चला जाता है। अतः नासा और मुँह द्वारा श्वास लेने पर वायु कण्ठ नली से श्वास प्रणाली में और वहाँ से वायुनली फुफ्फुस में जा पहुँचता है।

नवजात शिशु का श्वास-प्रश्वास प्रति मिनट लगभग ४५ से ५० बार, पाँच वर्ष की अवस्था में २५ से ३० बार और जवान आदमी का लगभग १६ से २० बार तक चलता है

पोषण संस्थान (Digestive System)—उदर द्वारा पोषण क्रिया सम्पन्न होती है। उक्त कार्य के लिए उदर स्थित निम्नलिखित अवयव कार्य करते हैं— प्लीहा, यकृत, क्लोम ग्रन्थि, वृक्क, मूत्र ग्रन्थि, मूत्राशय, वस्ति गह्वर, शुक्राशय एवं पाकस्थली और आँतें आदि। स्त्रियों के उदर में गर्भाशय और डिम्ब ग्रन्थियाँ भी होती हैं। भोज्य पदार्थ मुँह में मुलायम होकर पाकस्थली पहुँचता है। मुँह में कोमल और कठिन दो प्रकार के **तालु** (Palate) हैं। कठिन तालु

आगे और कोमल तालु पीछे है जिसके पीछे **अधि जिह्वा** (Uvula) है। मुँह में दो जबड़े हैं और दोनों जबड़ों में दाँत जुड़े हुए हैं।

अन्नमार्ग अर्थात् अन्नवहा नली अनुमानतः **दस इञ्च** लम्बी होती है। इसमें गलनली जुड़ी हुई है जिसको अन्नप्रणाली भी कहते हैं। इसमें तीन अस्तर हैं—वाह्यस्तर, मध्यस्तर और अन्तस्तर। गोलाकार और गेंड़रीदार मांसपेशियाँ एक के बाद दूसरी संकुचित होकर अन्न को पाकस्थली में पहुँचा देती हैं। मध्यस्तर बीच के स्तर को कहते हैं। अन्तस्तर श्लैष्मिक ग्रन्थियों द्वारा निर्मित हैं। इन ग्रन्थियों द्वारा गलनली हमेशा तर रहती है। अन्न पाचन की प्रक्रिया मुँह से ही प्रारम्भ होती है जिसका प्रथम कार्य दाँतों को करना पड़ता है।

जन्म लेने के ५ मास अथवा सात मास या इससे भी अधिक दिनों पर दाँत उगते हैं लेकिन बहुत से बच्चों को उक्त अवधि से पहले चाहे पेट में ही दाँत पैदा हो जाते हैं। बचपन में जो दाँत उगते हैं उन्हें दूध के दाँत कहते हैं। दस-बारह साल की उम्र में दूध के दाँत गिर जाते हैं। साधारणः दाँतों को कार्य-प्रणाली दृष्टिकोण से पाँच भागों में बाँटा गया है—चबाने वाला दाँत, छेदने वाला दाँत, भेदन कर्ता दन्त, अग्रचर्वण दन्त और पिछले चर्वण दन्त।

पाचन कार्य का श्रीगणेश तो मुँह में ही जीभ की सहायता से दाँतों द्वारा हो जाता है लेकिन **लारग्रंथियों** (Salivary glands) के स्रावित लार से भोजन बिलकुल मुलायम हो जाता है जिसके फलस्वरूप अन्ननाली में जीभ द्वारा चला जाता है। अन्न पाचन को सर्वप्रधान क्रिया यकृत द्वारा होती है। यकृत पाँच पहलवाला अवयव है। इसके चार पहल तो उभड़े होते हैं लेकिन पाँचवाँ पहल **पित्ताशय** (Gall bladder) नीचे की ओर होता है। यकृत से एक प्रकार का पीलापन लिए हुए हरे रंग का रस निकलता है जिसको पित्त कहते हैं जो मांस एवं सौत्रिक तन्तुओं से बनी थैली में रहता है। इसी थैली को पित्त-कोष कहते हैं। इसी पित्तकोष से लगभग तीन पाव पित्त (जवान आदमियों को) निकल कर पक्वाशय में पहुँच, अन्न को पचाता है।

पक्वाशय, प्लीहा, वृहदान्त्र और आमाशय के पास ही क्लोम ग्रन्थि

(Pancreas) के स्थान हैं जिससे क्लोमग्रन्थि रस निकल कर भोजन पाक में सहायता करता है।

पाकस्थली जिसको आमाशय भी कहते हैं। यह मशकाकार लगभग चार इञ्च चौड़ी और एक फुट लम्बी होती है। इसमें दो मुँह होते हैं। जिनको हृदय द्वार (Cardiac) और पक्वाशयिक द्वार (Pylorus) कहते हैं।

आँत (Intestine)

आँत दो प्रकार की होती हैं—क्षुद्रांत्र और बृहदान्त्र। उक्त दोनों आँतें आपस में मिली रहती हैं। छोटी आँत पतली लेकिन लगभग २२ फीट लम्बी होती है और बड़ी आँत मोटी और लगभग पाँच फीट लम्बी होती है। छोटी आँत साँप की गेंडुर की तरह टेढ़ी-मेढ़ी रहती है। इसकी दीवार में मांस का अंश रहता है। जिसके फलस्वरूप इसमें संकोचन और प्रसारण क्रिया हुआ करती है। उक्त गति से खाये हुए पदार्थ में एक प्रकार की रगड़ जैसी अनुभूति होती है। इन छोटी आँत में खाया हुआ पदार्थ चुसा कर मल के रूप में बृहदान्त्र में चला जाता है और रस रक्त निर्माण स्थान पर पहुँच जाता है।

छोटी आँत बड़ी आँत से घिरी जैसी दिखलाई पड़ती है। भोज्य पदार्थ ज्यों-ज्यों बड़ी आँत में सरकता जाता है, तरलता कम पड़ती जाती है। अन्त में मल कड़ा होकर बाहर निकल जाता है। भोजन किया हुआ पदार्थ बिल्कुल नहीं पच जाता। रेशेदार और छिलकेदार पदार्थ आँतों में सड़ जाते हैं जिसके फलस्वरूप मल की गन्ध तीव्र एवं अवस्थानुकूल तीव्रतर हो जाती है।

भोजन और जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। मानव शरीर में मुख्य पाँच पदार्थ—प्रोटीन, बसा, कार्बोज, नमक और जल हैं। कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सि-जन, गन्धक और नाइट्रोजन का सम्मिश्रण प्रोटीन, कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन का सम्मिश्रण बसा, कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन (जिसमें चीनी की विशेषता है) कार्बोज, सोडियम, पोटासियम और मैगनिसियम आदि खनिज पदार्थों का सम्मिश्रण लवण और प्रोटीन, बसा तथा कार्बोज का सम्मिश्रण जल है। प्रोटीन द्वारा शरीर-स्थित सेलों का पोषण और मांस वृद्धि, बसा और

कार्बोज से शरीर में ताकत, लवण द्वारा हड्डियों का पोषण और जल तो आधार स्वरूप ही होता है ।

मूत्र वाहक संस्थान (Urinary System)—मूत्र वाहक संस्थान में, मूत्राशय, मूत्र मार्ग, दो मूत्र प्रणालियाँ और वृक्क आदि अवयव स्थित हैं । उदर के निम्नभाग में बस्ति गह्वर में मूत्राशय का स्थान है । पुरुष के शरीर में इसके पीछे दो शुक्राशय और स्त्रियों के शरीर में मूत्राशय के पीछे गर्भाशय रहता है । मूत्राशय के निम्न भाग में पुरुषों को लगभग सात इञ्च की एक नली होती है । जिसको मूत्रमार्ग कहते हैं । स्त्रियों के शरीर में लगभग डेढ़ इञ्च की नली-स्वरूप मूत्र-मार्ग है । मांस की सौत्रिक तन्तुओं से बनी दो मूत्रप्रणालियां लगभग एक-एक फुट लम्बी होती हैं जिनमें एक गुर्दे से लगी रहती है और दूसरी मूत्राशय से । मेरुदण्ड के बाम भाग एवं दक्षिण भाग में दो ग्रंथियाँ लगभग १ इञ्च मोटी, २॥ इन्च चौड़ी और चार इन्च लम्बी बैंगनी रङ्गयुक्त होती हैं जिन्हें वृक्क कहते हैं । इन्हीं अवयवों द्वारा मूत्रक्रिया सम्पन्न होती है ।

नाड़ी संस्थान (Nervous System)—पाश्चात्य एवं कुछ आधुनिक चिकित्सकों का मत है कि चेतना का स्थान मस्तिष्क है । शरीर में किसी प्रकार की अनुभूति होने पर उसकी खबर शीघ्र ही मस्तिष्क में पहुँच जाती है ।

मस्तिष्क का आकार अण्डा के सदृश्य है । यह दो भागों में बँटा है । **बड़ा मस्तिष्क** (Cerebrum) **और छोटा मस्तिष्क** (Cerebellum) मस्तिष्क बहुत ही सुरक्षित ढङ्ग से स्थित है । वृहद् मस्तिष्क भी दो भागों में विभक्त है । ऊपर से तो यह बँटा जैसा दिखलाई पड़ता है लेकिन निम्न भाग में जुड़ा हुआ है । इसका भीतरी भाग कुछ उजला, भूरा मटमैलार ङ्ग लिये उबड़ा-खबड़ाजैसा होता है । मस्तिष्क का बाहरी भाग सेलों और भीतरो भाग नाड़ी तन्तुओं द्वारा निर्मित है ।

लघुमस्तिष्क का स्थान वृहद् मस्तिष्क के निम्न भाग में है । इसका बाहरी भाग मटमैला और भीतरी भाग सफेद रहता है । लघुमस्तिष्क में भी तीन भाग हैं, दो बड़े भाग और बीच का डंठल जैसा भाग । इस मस्तिष्क के सामने गोलाकार घूमा हुआ एक भाग है जो सफेद होता है और यहीं से **"सुषुम्ना"** लघु मस्तिष्क और बृहद् मस्तिष्क में चेतना सूत्र निकले हैं ।

कपाल स्थित महाछिद्र जहाँ से कशेरू की नाली निकली हैं। उसी में **सुषुम्ना शिरा** (Medulla Spinalis) रहती है। सुषुम्ना का ऊपरी भाग सफेद और भीतरी भाग मटमैला जैसा होता है और यह मोटी डोरी जैसी होती है। यह छिद्रयुक्त लगभग १८ इञ्च लम्बी होती है। इसमें एक नली होती है जो मस्तिष्क के चौथे कोष्ठ में लगी रहती है। मस्तिष्क की भाँति सुषुम्ना पर भी तीन आवरण होते हैं। लघु मस्तिष्क के श्वेत भाग से निकले नाड़ी सूत्र धूसर भाग में होकर वृहद् मस्तिष्क में प्रवेश कर जाते हैं। जिस प्रकार ये सूत्र ऊपर की ओर जाते हैं उसी प्रकार नीचे की ओर सुषुम्ना में भी आते हैं। सुषुम्ना से ३१ जोड़े नाड़ियों का विकास हुआ है, ग्रीवा से आठ, वक्ष से बारह, कमर से पाँच, त्रिक में ५ और चंचु में १; इस प्रकार ३१ नालियाँ हैं।

इनके **अतिरिक्त इड़ा** (Splanchnic) **और पिंगला** (Sympathetic) नाड़ियाँ भी होती हैं। गला और छाती के पीछे मेरुदण्ड में सुषुम्ना के आसपास दो डोरियाँ रहती हैं जिनके बीच-बीच में ग्रंथियाँ होती हैं जिनको नाड़ीगण्ड कहते हैं। यह शृंखला ही पिंगला नाड़ी कहलाती है। इसी गण्ड शृंखला से निकल कर दो नाड़ियाँ अन्न मार्ग की ओर जाती हैं जिन्हें इड़ा कहते हैं।

नाड़ी सूत्र—दो प्रकार के होते हैं—सर्वाङ्ग से मस्तिष्क में पहुँचने वाले और मस्तिष्क एवं सुषुम्ना से निकल कर सर्वाङ्ग में पहुँचने वाले। मस्तिष्क से निकले सूत्र अंग-प्रत्यंग से मांसपेशियों तथा ग्रंथियों के समीप समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञान विशेषकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही मस्तिष्क में पहुँचता है जिनके लिए वहाँ खास स्थान बने हैं, जैसे दृष्टि केन्द्र, श्रवण केन्द्र तथा स्वाद केन्द्र आदि। लघु मस्तिष्क द्वारा मस्तिष्क की गति नियंत्रित रहती है। यहीं से कुछ सूत्र निकल कर वृहद् मस्तिष्क में जाते हैं।

मस्तिष्क एवं सुषुम्ना में बहुत बड़ा लगाव है। बहुत से ऐसे कार्य हैं जो सुषुम्ना द्वारा ही सम्पादित हो जाते हैं। यों तो जितनी भी अनुभूतियाँ मस्तिष्क में पहुँचती हैं सभी सुषुम्ना से होकर ही।

ज्ञानेन्द्रियां (Senses)—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा ये पाँच

ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा देखने, सुनने, सूंघने, स्वाद लेने और स्पर्श करने का अनुभव होता है। कानों द्वारा सुनने का कार्य सम्पादन होता है और स्वर-यंत्र द्वारा बोलने का। स्वरयंत्र गर्दन के ऊपरी भाग में कण्ठ से मिला हुआ है और इसके निम्न भाग से टेंटू प्रारंभ होता है। मस्तिष्क की विभिन्न प्रकार की विकृति से वाक्-शक्ति में गड़वड़ी हो जाती है। **मस्तिष्क के बाम गोलार्ध में पक्षाघात होने पर बच्चे गूँगे हो जाते हैं।**

उत्पादक संस्थान (Genitary organs) : जननेन्द्रिय द्वारा ही सृष्टि संचालन कार्य सम्पन्न होता है। यद्यपि जननेन्द्रिय तो जन्म लेने के साथ-साथ शरीर में जुड़ी रहती है लेकिन इसका उपयोग सामयिक अर्थात् जवान होनेपर ही होता है और वृद्धत्वकाल में सन्तानोत्पत्ति की शक्ति लोप हो जाती है। स्त्री और पुरुष के सहवास अर्थात् दोनों की जननेन्द्रियों द्वारा उत्पादन कार्य सम्पन्न होता है। लेकिन उक्त दोनों जननेन्द्रियों के आकार प्रकार में बहुत बड़ा अन्तर है। नर जननेन्द्रिय दो भागों में बँटा है—**लिङ्ग** (Penis) और **अण्डकोष** (Testis)।

लिङ्ग ९ भागों में विभक्त किया जा सकता है। लेकिन साधारणतः चार ही प्रमुख भाग हैं—मूल, देह, ग्रीवा और मुण्ड। लिंग मूल अण्डकोष में जुड़ा रहता है और विटप उपास्थियों से भी मिला रहता है। मूल और ग्रीवा के मध्य भाग को देह कहते हैं। देह और लिंग, मुण्ड के बीच का स्थान ग्रीवा और अगले भाग को मुण्ड या सुपारी कहते हैं। लिंग में तीन नल होते हैं। दो नल तो आस-पास और तीसरा नल नीचे की ओर रहता है आस-पास वाले नलों को **लिंग दण्डिका** (Corpora Cavernosa) और निम्न भाग नल को **मूत्रदण्डिका** (Corpus Spongiosum) कहते हैं। उक्त तीनों दण्डिकाएँ सुपारी में आकर एक हो जाती हैं।

अण्डकोष : लिंग के मूल भाग के नीचे दो डोरियों के सहारे दो मांस पिण्डियाँ लटकी रहती हैं जिन्हें अण्डकोष अथवा शुक्रग्रन्थियाँ कहते हैं। उक्त दोनों कौड़ियाँ एक सिकुड़नदार थैली में सुरक्षित रहती हैं और थैली के मध्य-भाग में एक मजबूत सिवनी है जो लिंगमूल से मलद्वार तक चली गयी है।

अण्डकोष की दोनों कौड़ियाँ सौत्रिक तन्तुओं से बनी हुई है। इनमें लगी नलियों को शुक्रनलियाँ कहते हैं। शुक्रनली बहुत ही सूक्ष्म होती हैं, लेकिन इसकी लम्बाई लगभग सवा दो फीट होती है। शुक्र प्रणालियों से निकला हुआ रस वीर्य है।

शुक्र गाढ़ा और लबाबदार होता है और इसमें बहुत नन्हें-नन्हें शुक्रकीट होते हैं। शुक्रकीट की लम्बाई $\frac{१}{१०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इञ्च होती है। एक बार के वीर्य-स्खलन में करोड़ों शुक्रकीट निकलते हैं। चौदह से सोलह साल के बीच मानव-शरीर में शुक्र का प्रादुर्भाव होता है। वीर्य में कई एक पदार्थ पाये जाते हैं लेकिन शुक्र-ग्रंथियों द्वारा स्रवित रस शुक्रकीट मय होता है।

स्त्री जननेन्द्रिय (Female Organs) : स्त्री जननेन्द्रिय के भी पाँच भाग होते हैं—बृहत भगोष्ठ, लघु भगोष्ठ, भगांकुर, योनिद्वार और कामाद्रि। लेकिन प्रधानतः दो ही भाग हैं—बाह्यांग और अन्तरङ्ग। बृहत भगोष्ठ योनि के बगल वाले ओष्ठों को कहते हैं और अन्दर दो पतले चर्मपत्र हैं जिन्हें क्षुद्र भगोष्ठ कहते हैं। भगोष्ठ के ऊपरी भाग में एक छोटी-सी गुठली जैसी मांस पिंडी रहती है जिसको **कामाद्रि** कहते हैं। कामाद्रि के निम्न भाग में भगांकुर रहता है। मैथुन के समय भगांकुर में भी उत्तेजना होती है और काम-वासना शान्त होने पर पुरुष लिंग की तरह इसमें नरमी आ जाती है।

योनि के अन्दर जरायु और डिम्बकोष आदि स्थित हैं। जरायु को ही गर्भाशय कहते हैं। यह लगभग एक इञ्च मोटी और तीन इञ्च चौड़ी होती है। पहले तो यह संकुचित रहती है लेकिन गर्भ रहने पर इसका प्रसारण होने लगता है।

पुरुषों की तरह स्त्रियों की भी भग के अन्दर की ग्रंथियाँ **"डिम्बग्रन्थि"** के नाम से विख्यात हैं जिनकी लम्बाई प्रायः सवा इञ्च और चौड़ाई पौन इञ्च होती है।

जरायु से ही रजःस्राव होता है जो स्त्रियों के जवानी का प्रतीक समझा जाता है। प्रतिमास लगभग एक छटाँक से तीन छटाँक तक मासिक स्राव बाहर निकलता है। मासिक स्राव के समय स्त्रियों के पेड़ू में भार और आलस्य हो जाता है तथा गर्भाशय भी फैल जाता है।

अध्याय—३

रोग एवं रोगी परीक्षा

आरोग्य

किसी कवि ने बिल्कुल ठीक कहा है :—"प्रथम स्वर्ग है सुन्दर काया" वास्तव में विश्व में सर्वश्रेष्ठ सुख सुन्दर स्वास्थ्य ही है। इसके बिना विश्व की सभी विभूतियाँ हेय हैं। चरक में लिखा है—

धर्मार्थ काममोक्षाणमारोग्यम् मूलमुत्तमम्। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का उत्तम मूल आरोग्य में निहित है।

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

धातु, दोष, अग्नि तथा मल आदि शारीरिक वस्तुओं के समान रूप से (Normally balanced) रहने के साथ-साथ आत्मा, इन्द्रिय एवं मन की प्रसन्नता ही स्वास्थ्य है।

शरीर में जब तक पञ्चमहाभूत अथवा इनका प्रतिनिधित्व करने वाले त्रिधातु समान रूप से रहते हैं तब तक शरीर आरोग्य रहता है। जब इनमें न्यूनाधिकता हो जाती है तब शरीर में गड़बड़ी हो जाती है।

शरीर के उपादान, समस्त द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। ये द्रव्य अपने रस, गुण, वीर्य, विपाक एवं प्रभाव द्वारा शरीर में कार्य का वातादि दोषों की समानता अथवा वृद्धि या ह्रास को उत्पन्न करते है। पञ्चभूत एवं त्रिदोष की प्रणाली पूर्ण वैज्ञानिक है।

———

रोग

भाव प्रकाश में लिखा है—रोगस्तुदोष वैषम्यं रोग साम्यमरोगता। अर्थात्, वायु, पित्त एवं कफ के न्यूनाधिकता को रोग और इनकी समता को आरोग्य कहते हैं। रोग के चार भेद हैं, यथा—आगन्तुक, शारीरिक, मानसिक और स्वाभाविक।

अस्त्र, शस्त्र अथवा लाठी, ईंट, पत्थर इत्यादि से चोट लगने पर जिन रोगों की उत्पत्ति होती है उन्हें बाहर से आये हुए अर्थात् आगन्तुक रोग कहते हैं।

मिथ्या आहार-विहार से **त्रिधातु**—त्रिदोष के रूप धारण कर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार उत्पन्न हुए रोगों को शारीरिक रोग कहते हैं।

काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ एवं द्वेषात्मक बुद्धि द्वारा जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन्हें मानसिक रोग कहते हैं।

भूख, प्यास, बुढ़ापा तथा नींद इत्यादि के कुव्यवस्था से जिन रोगों की उत्पत्ति होती है उन्हें स्वाभाविक रोग कहते हैं। स्वाभाविक रोग को ईश्वर निर्मित भी कहा जाता है। उक्त चार भेदों से रोग, मन और शरीर के अधीन होते हैं। कुछ ऐसे भी रोग हैं जो केवल तन में ही होते हैं, यथाः—ज्वरातिसार आदि। बहुत से ऐसे भी रोग हैं जो शरीर और मन दोनों के अधीन होते हैं, जैसे—मृगी।

रोग के भेद

रोग के प्रायः चौदह भेद माने जाते हैं। माता-पिता के रजवीर्य के दोष से जिस रोग का आक्रमण सन्तान पर होता है, उसको सहज रोग कहते हैं। गर्भ से ही जो बालक, कुबड़ा या लँगड़ा होता है उस रोग को गर्भज रोग कहते हैं। गर्भ-काल में माता-पिता के मिथ्या विहार एवं माता के मिथ्या आहार से बालक को गूंगापन आदि रोग पैदा हो जाते हैं जिन्हें जन्मजात रोग कहते हैं। शस्त्रादि प्रहार से हड्डी फट जाती अथवा टूट जाती है, इस प्रकार के रोगों को पीड़ा-

जनित रोग कहते हैं। जाड़ा, गर्मी तथा बरसात में जलवायु की विपरीतता के कारण जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन्हें सामयिक रोग कहते हैं। श्रेष्ठ जनों के शापादि से जिन रोगों की उत्पत्ति होती है, उन्हे प्रभावज रोग कहते हैं। भूख, प्यास और वृद्धापन के कारण होने वाले रोगों को स्वभावज रोग कहते हैं। आबहवा के मुताबिक विभिन्न देशों में विभिन्न रंग के मनुष्य देखने में आते हैं उसी प्रकार किसी खास-खास देशों में खास-खास रोग भी हुआ करते हैं, जिन्हें देशज रोग कहते हैं। द्वेष एवं भूतादि बाधा से उत्पन्न रोग को आगन्तुक रोग कहते हैं। ज्वरादि-विष रोग पर्यन्त मुख्य रोग हैं जिन्हे कायिक रोग कहते हैं। चित्तभ्रम आदि रोग को अन्तर रोग कहते हैं। पूर्व जन्म के दुष्कर्मों द्वारा उत्पन्न रोगों को कर्मज रोग कहते हैं। वायु, पित्त एवं कफ के दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों को दोषज रोग कहते हैं। ब्रह्म इत्यादि तथा वायु, पित्त एवं कफ संयुक्त रोगों को कर्म दोषज कहते हैं।

उक्त रोगों के दो भेद हैं—साध्य और असाध्य। साध्य के भी दो भेद हैं—साध्य और कष्ट साध्य। साधारण उपचार से ही छूट जानेवाले रोग साध्य और काफी प्रयत्न द्वारा छूटने वाले रोग कष्ट साध्य कहलाते हैं।

असाध्य रोग के भी दो भेद हैं—याप्य अर्थात् जब तक चिकित्सा होती रहती है रोग शमन रहता है लेकिन चिकित्सा बन्द होते ही रोग का पुनः आक्रमण हो जाता है। जिन रोगों में दवा बिल्कुल काम नहीं करती, असाध्य कहलाते हैं।

रोगोत्पत्ति के कारण और भेद

साढ़े तीन हाथ का मानव-शरीर एक विचित्र यन्त्रस्वरूप है। इसकी विचित्रता अद्वितीय है। जिस प्रकार यह यन्त्र विचित्र है उसी प्रकार शरीर व्यापार का नियम भी विचित्र ही है। मानव-शरीर स्थित चौदह वेग हैं। इन वेगों को रोकने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। जिसका संक्षिप्त दिग्दर्शन निम्न प्रकार है—

अधोवायु के वेग को रोकने से चक्षु रोग, हृदय रोग एवं उदर विकार

आदि रोग उत्पन्न होते हैं। **मलवेग** रोकने से सिर, हाथ, पैर तथा हृदय में पीड़ा उत्पन्न होकर वायु ऊपर की ओर जाकर पीनस आदि रोग उत्पन्न करता है। **डकारवेग** रोकने से अरुचि, हिचकी, खाँसी, अफरा तथा शरीर कम्पन रोग उत्पन्न हो जाता है। **मूत्रवेग** रोकने से पथरी, हड्डी में दर्द और मल प्रतिबंध इत्यादि रोग पैदा होते हैं। **छींकवेग** रोकने पर शरीर के दर्द, गर्दन में अकडन, मुँह का टेढापन और इन्द्रियों की दुर्बलता के रोग होते हैं। **प्यास** का वेग रोकने पर मोह, भ्रम, हृदय में पीड़ा, शरीर मात्र में दर्द, मुँह सूखना तथा बहिरापन इत्यादि रोग पैदा होते हैं। **भूखवेग** रोकने पर अरुचि, शरीर में पीडा, इन्द्रियों की दुर्बलता, बायीं ओर पार्श्वशूल, शरीर का रंग बदल जाना वगैरह रोग उत्पन्न हो जाते हैं। **निद्रावेग** रोकने पर सिर और आँखों में भारीपन, अँगडाई, आलस्य तथा मोह इत्यादि रोग पैदा होते हैं। **खाँसी** का **वेग** रोकने पर हृदय श्वास तथा अरुचि रोग पैदा होते हैं। कसरत के समय **श्वांसवेग** रोकने पर वायुगोला तथा हृदय रोग उत्पन्न होता है। **जम्हाई** वेग रोकने पर पीनस, गोला, आँख तथा हृदय इत्यादि में पीड़ा होती है। **वमन वेग** रोकने पर रक्त-पित्त, कोढ़, आँख रोग तथा खुजली आदि रोग पैदा होते हैं। **'कामवेग'** रोकने से चित्त भ्रम, प्रमेह तथा अरुचि इत्यादि रोगों की उत्पत्ति होती है।

निदान (Diagnosis)

निदान शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है। एक तो रोग का निश्चय करना और इसी अर्थ में जन सामान्य इसका प्रयोग करता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में डायग्नोसिस (Diagnosis) शब्द से जो कुछ समझा जाता है वही निदान शब्द से समझा जाता है। उदाहरण के लिए एक रोगी ज्वर से पीड़ित है। उसके घर के लोग वैद्य को बुलाते हैं। वह रोग का निदान करता है। वह बतलाता है कि वातश्लैष्मिक ज्वर है, त्रिदोष ज्वर है,; अभिन्यास ज्वर है आदि। परन्तु इस निदान करने में जिन पाँच बातों का विचार करना पड़ता है उनमें सर्व प्रथम निदान ही है। इस निदान शब्द का अर्थ है कारण अन्य हैं पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति, यथा:—

निदानं पूर्व रूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पचधास्मृता ॥ अर्थात्—

निदान, पूर्व रूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति ये पाँच विधान रोग जानने के लिए हैं, जिनसे चिकित्सक रोगों को अच्छी तरह पहचान सकें। सुश्रुत में लिखा है—

रोग ज्ञानार्थ मेवादौ यत्नः कार्यो भिषाग्वरै ।
सति तस्मिन क्रियारभः पुण्याय यशसे श्रियै ॥ अर्थात्—

चिकित्सक को सर्वप्रथम रोग जानने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि रोग निश्चय कर लेने पर जो चिकित्सक, चिकित्सा प्रारम्भ करता है वही यश, पुण्य और द्रव्योपार्जन करने का भागी बन सकता है।

रोग होने के कारणों को निदान कहा जाता है। इसे निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय और उत्थान भी कहते हैं।

रोग के कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनका हम अनेक प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं।

(१) सान्निकृष्ट, विप्रकष्ट, व्यभिचारी और प्राधानिक। सन्निकृष्ट कारण वे हैं जो दोषों को संचय किये बिना ही प्रकुपित करते हैं जैसे बाल्य काल, दिन के पूर्व भाग, रात्रि के पूर्व भाग और भोजन के तुरन्त बाद कफ का प्रकोप होता है, यौवन में, मध्याह्न, मध्यरात्रि एवं पच्यमानावस्था में पित्त का प्रकोप होता है और इसी प्रकार वृद्धावस्था, सायंकाल, रात्रि के अन्तिम प्रहर और भोजन पच जाने पर वायु का प्रकोप होता है। इसी के लिए कहा गया है "वयोऽहोरात्रि भुक्तानाम् तन्तमध्यादिगाः क्रामात् ।"

विप्रकृष्ट कारण का उदाहरण है हेमन्त ऋतु में सञ्चित श्लेष्मा का वसन्त में प्रकुपित होना, ग्रीष्म में सञ्चित वात का वर्षा में प्रकुपित होना और वर्षा में सञ्चित् पित्त का शरद ऋतु में प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करना।

व्यभिचारी कारण वह है जो दुर्बल होने के कारण रोग उत्पन्न करने में असमर्थ होता है।

शरीर में शीघ्र व्याप्त होकर विकार उत्पन्न करने वाले कारण को प्राधानिक कहा जाता है। जैसे विष आदि।

(२) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का हीन, मिथ्या या अति मात्रा में ज्ञानेन्द्रियों से योग को असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहते हैं। अर्थात् श्रवणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, चक्षु, रसना और घ्राणेन्द्रियों से कार्य न लिया जाय, अत्यधिक लिया जाय अथवा अप्राकृतिक रूप में लिया जाय तो आसात्म्येन्द्रियार्थ संयोग होता है। धी, धृति और स्मृति से भ्रष्ट होकर जो कार्य किया जाता है उसे प्रज्ञापराध कहते हैं। इससे सभी दोषों का प्रकोप होता है। कर्म तीन प्रकार से किया जाता है मन, वचन और शरीर से। इनका हीन, मिथ्या और अतियोग इस प्रकार प्रज्ञापराध नौ प्रकार का होता है।

ऋतुओं के अपने-अपने स्वभाव से होने वाले शीत-ताप आदि का हीन योग, मिथ्यायोग और अतियोग परिणाम कहलाता है। परिणाम का अर्थ काल है। अधर्म का अन्तर्भाव भी परिणाम में होता है। अर्थात् अधर्म से होने वाला फल (रोग) कालान्तर में मिलता है। यौन रोग (सिफिलिस, सूजाक आदि) अधर्म से होने वाले प्रत्यक्ष रोग हैं। कुछ विद्वान् अधर्म को प्रज्ञापराध में मानते हैं। किसी में भी माने, रोग होता ही है।

(३) दोष हेतु, व्याधि हेतु और दोषव्याधि (उभय) हेतु। जो कारण अपने-अपने गुणों से दोषों का चय, प्रकोप और प्रशम करते हैं वे दोष हेतु हैं। जैसे हेमन्त ऋतु में मधुर रस श्लेष्मा का संचय करता है जो वसन्त ऋतु में प्रकुपित होता और ग्रीष्म में शमन होता है। व्याधि हेतु किसी व्याधि विशेष को उत्पन्न करते हैं जैसे मिट्टी खाने से पान्डु रोग होता है। मिट्टी खाने से दोष भी प्रकुपित होते हैं परन्तु उत्पन्न पाण्डु रोग ही करते हैं। उभय हेतु दोष को प्रकुपित कर व्याधि उत्पन्न करते हैं। जैसे ऊँट या घोड़े की सवारी से और विदाही अन्न से वातरक्त होता है। इनसे पहले दोष प्रकुपित होते हैं और बाद में व्याधि उत्पन्न होती है परन्तु ये करते दोनों को ही हैं। व्याधि उत्पन्न होने के उपरान्त दोषों का शमन करने पर भी व्याधि का शमन नहीं होता अतः दोषविपरीत और व्याधि विपरीत, उभयगुण युक्त औषधि देनी पड़ती है।

(४) उत्पादक और व्यञ्जक। दोष को बढ़ाने वाला हेतु उत्पादक कारण

कहलाता है जैसे हेमन्त ऋतु में मधुर रस की अधिकता कफ का उत्पादक कारण है। वसन्त ऋतु में सूर्य का सन्ताप इस कफ को प्रकुपित करता है। यह सूर्य का संताप व्यञ्जक कारण है। व्यञ्जक का अर्थ प्रेरक होता है।

(५) बाह्य और आभ्यान्तरिक हेतु। आहार विहार आदि बाह्य हेतु हैं। दोष और दूष्य आभ्यन्तरिक हेतु हैं।

रोग के लक्षण स्पष्ट प्रकट होने के पहिले जो अव्यक्त लक्षण होते हैं उन्हें पूर्व रूप कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं एक सामान्य दूसरे विशिष्ट। सामान्य पूर्व रूप से यह तो मालूम होता है कि कोई रोग होने वाला है या अमुक रोग विशेष होने वाला है परन्तु वह किस दोष से होगा यह स्पष्ट नहीं होता। जैसे ज्वर के पूर्वरूप के लिए लिखा है 'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वम्' आदि। श्रम अरति और विवर्णता होने पर ज्वर होने वाला है यह पता चल जाता है परन्तु ज्वर वातिक होगा, पैत्तिक होगा या श्लेष्मिक होगा इसका निश्चय नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सभी ज्वरों के पहिले श्रम, अरति और विवर्णत्व होता है। जिन पूर्वरूपों से दोष का ज्ञान भी हो जाय उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं। जैसे जंभाई अधिक आने से वातिक, आँखों में जलन होने से पैत्तिक और भोजन में अरुचि श्लेष्मिक ज्वर के निश्चयात्मक पूर्वरूप हैं। फिर भी इनसे दोष किन-किन भावों से प्रकुपित हुए हैं यह पता नहीं चलता।

पूर्वरूप अस्पष्ट होते हैं परन्तु जब वे स्पष्ट हो जाते हैं तो उनको ही रूप कहते हैं। रूप को संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, लक्षण, चिह्न और आकृति भी कहते हैं।

वह औषध, अन्न और विहार जो रोग के कारण के विपरीत हो या रोग के विपरीत हो या दोनों के विपरीत हो या इनके विपरीत कार्य करने वाले हो और उनके सेवन से चिरकाल तक सुख मिले उसे उपशय या सात्म्य कहते हैं। उदाहरण के लिए कफ ज्वर में सोंठ का प्रयोग हेतु विपरीत औषधि है, अतिसार में मसूर का प्रयोग व्याधि विपरीत अन्न है, और दिन में सोने से उत्पन्न स्निग्ध तन्द्रा में रात्रि का रूक्ष जागरण हेतु और रोग दोनों के विपरीत

है। पैत्तिक व्रण में उष्ण उपनाह (पुल्टिस) हेतु के विपरीत कार्य करने वाली, अतिसार में दूध का प्रयोग रोग के विपरीत कार्य करने वाला और ऊरूस्तम्भ से उत्पन्न मूढ़ वात में जल में तैरना हेतु और रोग दोनों के विपरीत कार्य करने वाला होता है। ये सब उपशय या सात्म्य के उदाहरण हैं। इसके विपरीत जो हो उसे अनुपशय या असात्म्य भी कहते हैं।

दोषों के दुष्ट होने का प्रकार, जिसमें दुष्ट होते हैं और जिस प्रकार उनका प्रसार होकर रोग उत्पन्न होता है उस शृंखला को सम्प्राप्ति कहते हैं। इसे जाति और आगति भी कहते हैं।

सम्प्राप्ति के पाँच भेद हैं, यथा—काल, बल, संख्या, विकल्प और प्राधान्य। वायु, पित्त और कफ के समय आदि के निश्चय को काल कहते हैं। जिन रोगों में—निदान, पूर्वरूप और रूप आदि सम्पूर्ण अंग रहते हैं, बल सम्प्राप्ति कहते हैं। प्रत्येक रोगों की संख्या (जैसे ज्वरों की संख्या ६ है) को संख्या संप्राप्ति कहते हैं। त्रिदोषों के आंशिक कल्पना को विकल्प कहते हैं और जो स्वतन्त्र रोग हैं उन्हें प्रधान संप्राप्ति कहते हैं, यथा—ज्वर स्वतन्त्र होने से प्रधान और उसके उपद्रव अप्रधान होने से परतन्त्र कहे जाते हैं।

रोग परीक्षा

आयुर्वेद मतानुकूल रोग परीक्षा चिकित्सा का विशिष्ट अङ्ग समझा जाता है। वास्तव में रोग का पूर्ण निश्चयात्मक ज्ञान हुए बिना चिकित्सा कार्य में सफलता मिलना कठिन है। आयुर्वेद में वातादि दोष एवं रस तथा रक्तादि-धातु और मूत्र इत्यादि मलों की न्यूनाधिकता को प्राकृत करना ही सफल चिकित्सा कहलाती है। कुछ ऐसे भी रोग हैं जिनकी पहचान सरलतापूर्वक नहीं होती अर्थात् वे सदृश्य पूर्व होते हैं। ऐसी हालत में चिकित्सक, रोग प्रकृति तथा उत्पादक आदि कारणों को लक्षित कर चिकित्सा मार्ग निर्धारित करता है।

जिस प्रकार स्वस्थ एवं अस्वस्थावस्था की पहचान में विभिन्न समस्याएँ उपस्थित होती हैं उसी प्रकार रोग परीक्षा भी एक कठिन एवं महान् विषय है।

आजकल **स्वास्थ्य की परीक्षा** का एक विचित्र मार्ग निकल पड़ा है, जिसको

तालिका पद्धति कह सकते हैं। इस पद्धति में आयु के साथ लम्बाई और वजन की सन्तुलना है। कहने का तात्पर्य यह कि इस उम्र के आदमी का वजन लम्बाई की अनुपात से (इतनी) होगी। यदि उम्र के साथ वजन का सन्तुलन और ऊँचाई का मसला हल हो जाता है तो उस व्यक्ति को स्वस्थ मान लिया जाता है। लेकिन इस प्रकार समस्या हल होते नहीं दिखलाई पड़ती। बहुत-से ऐसे आदमी हैं जो देखने में ही नहीं बल्कि वजन में भी काफी भारी होते हैं तथा लम्बाई चौड़ाई भी ठीक रहती है लेकिन उनकी अन्दरूनी हालत खराब होती है। खास कर स्त्री और पुरुष की बनावट को सामने रखकर उक्त प्रणाली से काम लेने में भारी सन्देह होता है। अतः स्वस्थ एवं अस्वस्थ की परीक्षा उम्र, लम्बाई और वजन के आश्रित रखना उचित नहीं जान पड़ता है। आयुर्वेद शास्त्र में इसके प्रमाणस्वरूप लिखा भी है—

सम मांस प्रमाणास्त सम संहन जो नरः।
दृढ़ेन्द्रियत्वाद व्याधिनां न बले नाभि भूयते॥
क्षुत् पिपासातपसहः शीत व्यायाम संग्रहः।
समपक्ता समजरः सम मांस चयो मतः॥ अर्थात्—

जिनकी मांसपेशियाँ और शारीरिक गठन सामान्य हैं तथा इन्द्रिय दृढ़ हैं वे व्याधि अर्थात् रोग द्वारा नहीं पछारे जा सकते हैं। वैसे मनुष्य—भूख, प्यास, शक्ति और धूप को आनन्दपूर्वक सहन कर लेते हैं उन्हें परिश्रम से हताश करने वाली थकावट नहीं उत्पन्न होती और मांस की पुष्टि भी होती है। अतः मनुष्य को समान रहना चाहिए।

आयुर्वेद मतानुसार शारीरिक दृष्टिकोण से आठ पुरुष निन्दित माने गए हैं, यथा—अत्यन्त लम्बा, विशेष छोटा, अत्यधिक केशों वाला, केश रहित, बहुत काला, बहुत गोरा, ज्यादा मोटा और ज्यादा पतला। पतले मनुष्य की अपेक्षा मोटा मनुष्य अधिक निकृष्ट माना गया है। मोटे और पतले दोनों प्रकार के मनुष्यों को रोग होने पर मोटे को विशेष कठिनाई एवं कष्ट का सामना करना पड़ेगा।

उक्त "**तालिका प्रणाली**" की तरह रोग परीक्षा में भी बहुत से मार्ग चल पड़े हैं लेकिन उन मार्गों को अच्छी तरह से समझकर प्रकृति की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता का ख्याल रखते हुए रोग परीक्षा मार्ग का निर्वाचन करना चाहिए।

साधारणतः रोग परीक्षा तीन भागों में विभक्त की जा सकती है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश। **अनुमान** का आधार प्रश्न और प्रत्यक्ष का आधार इन्द्रियाँ हैं। प्रश्न द्वारा रोगी का नाम, पिता का नाम, पता, जन्म-स्थान, उम्र, पेशा, धर्म, रोगोत्पत्ति, रोगह्रास एवं वृद्धिकाल, आहार, व्यसन-लक्षण, शारीरिक एवं मानसिक बल, रुचि, एवं मल-मूत्रादि की हालत मालूम की जा सकती है। "चरक" के सूत्रस्थान में अनुमान का लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—**व्याप्ति के ज्ञान के अनन्तर परोक्ष विषय जो सम्य-क्रिया निश्चयात्मक ज्ञान किया जाता है वह अनुमान कहलाता है।**

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष के बारे में चरक के सूत्रस्थान में निम्न प्रकार श्लोक है—

आत्मेन्द्रिय मनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्षं सा निरूच्यते॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा विषय (शब्द और रूप आदि) इनके सम्बन्ध से तत्काल जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। इनके परस्पर सन्बन्ध का क्रम निम्न प्रकार है, यथा—आत्मा मन के साथ, मन इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियाँ अपने विषय के साथ सम्बन्धित होती हैं और तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष की सरल भाषा :—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो स्वयं इन्द्रियों और मन द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

आप्तोपदेश—जो संशय रहित स्मरण द्वारा सम्पूर्ण त्रैकालिक भावों के सत्-असत् आदि विभाग को जानते हैं, अनुराग, विराग अथवा राग-द्वेष से रहित हैं वे आप्त होते हैं। आप्त पुरुषों के वचन को आप्तोपदेश कहते हैं। यथार्थ देखने वाले पुरुष को "**आप्त**" कहते हैं।

रोगी से प्रश्न

रोगो से प्रश्न करने के पश्चात् प्रेम एवं धैर्यपूर्वक उसका उत्तर सुनना चाहिए। चूँकि बहुत-से ऐसे रोगी होते हैं जो साधारण रोग से भयभीत होकर उसको तिल से ताड़ बना देते हैं और कुछ ऐसे भी दृढ़ हृदय रोगी देखने में आते हैं जो कठिन से कठिन रोगों को भी बिल्कुल साधारण समझते हुए भयानक कष्ट को भी खुशी-खुशी बर्दाश्त कर लेते हैं। कायर एवं कातर रोगी के उत्तर से चिकित्सकों को उकता नहीं जाना चाहिए।

चिकित्सक के प्रश्न भी प्रिय, संक्षिप्त एवं सारयुक्त होने चाहिए। रोगी से प्रश्न करते समय भाषा एवं उसकी शिक्षा-दीक्षा का भी ख्याल करना चाहिए क्योंकि वह अपनी बुद्धि एवं योग्यतानुकूल ही उत्तर दे सकता है।

गुप्ताङ्ग की बीमारियों के विषय में सभ्यता पूर्ण ढङ्ग से काम लेना नितान्त आवश्यक है। सामान्य एवं विशेष भेद से प्रश्न परीक्षा को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

सामान्य रूप :—साधारणतः नाम, जाति, उम्र, पेशा, निवास, जन्म-स्थान, रुचि, आहार तथा व्यसन इत्यादि के बारे में प्रायः सभी रोगियों से प्रश्न किया जा सकता है जिसको सामान्य रूप कहा जाता है।

विशेष रूप :—जिन प्रश्नों द्वारा रोग विषयक विशेष बातें प्रकाश में आती हैं, यथा:—निदान, पूर्व रूप, रोगी के स्वास्थ्य एवं कुल का वृतान्त, उपशय एवं रोगोत्पत्ति काल आदि उन्हें विशेष प्रश्न कहते हैं। चिकित्सक रोगी के मनोनुकूल उसको अपना बना कर चिकित्सा कार्य में सहायक बातों को अपनी युक्ति से अवश्य ही जान ले सकता है।

युक्ति—के बारे में चरक के विमानस्थान में लिखा है :—कार्य कारण संगति द्वारा अविज्ञात विषय के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैसे—रसोई आदि में धूएँ को देखकर अग्नि और धूएँ की कार्य कारण की संगति द्वारा, न दिखाई देने वाली अग्नि का, ज्ञान प्राप्त कर लिया, **यह ज्ञात अनुमान कहलाता है**। जहाँ

धुआँ होता है वहाँ अग्नि है। यह व्याप्ति कहलाती है और इसी व्याप्ति को युक्ति कहते हैं।

रोगोत्पत्ति कारणों को **निदान** कहा जाता है। **निमित्त, हेतु, आयतन प्रत्यय, उत्थान और कारण निदान के प्रर्यायवाचक शब्द हैं।** मिथ्या आहार-विहार से वातादि दोष ज्वरादि के कारणस्वरूप होते हैं। मिथ्या आहार का उपयोग वायु, पित्त एवं कफ की विकृति और वातादि दोषों की विकृति ज्वरादि रोगों का कारण होता है।

पारिवारिक वृतान्त

रोग निश्चय में रोगी के कुल का वृतान्त भी विशेष सहायक होता है। बहुत-से ऐसे रोग हैं जो माता-पिता के दूषित रक्त एवं शुक्र के प्रभावस्वरूप सन्तान में भी देखे जाते हैं, उदाहरणार्थः—कोढ़, यक्ष्मा, उपदंश, प्रमेह, श्वास, अर्श, उन्माद एवं अपस्मार आदि लिए जा सकते हैं। अत्यधिक मद्यसेवन करने वालों की सन्तान अपस्मार एवं उन्माद रोग से पीड़ित देखी जाती हैं।

पारिवारिक वृतान्त में पैत्रिक स्वास्थ्य, उनके मृत्यु के कारण; भ्राता, बहन तथा पति और स्त्री के पूर्व एवं वर्तमान रोग तथा मृत्यु आदि की पूर्ण जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। कुछ रोग तो ऐसे भी होते हैं जिनका प्रादुर्भाव माता कुल से ही हुआ करता है। इसके विषय में **मनुजी ने मनुस्मृति** में लिखा है :—

हीन क्रियं निष्पुरूषं निश्छन्दो रोमशार्श सम्।
क्षय्या मयाव्यपस्मारि श्वित्रिकुष्ट कुलानि च॥

यक्ष्मा एवं कुष्ठादि रोगों के बारे में कुछ लोगों का मत है कि ये रोग माता पिता के घनिष्ट सम्पर्क स्वरूप ही बच्चों में देखे जाते हैं, रक्त और शुक्र द्वारा उक्त रोगों के कारणस्वरूप जीवाणुओं का बालक में तनिक भी प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता है ऐसी हालत में यदि जन्म से ही बालक को उसके रुग्ण माँ-बाप से अलग रक्खा जाय तो उक्त रोग नहीं हो पाएंगे।

कुछ लोगों का मत है कि कुष्ठ तथा यक्ष्मा वगैरह के जीवाणुओं का एक भिन्न सूक्ष्म दर्शकातीत भेद होता है जिसका प्रभाव रक्त एवं शुक्र से सन्तान में

आता है। उक्त रोगों से पीड़ित माँ-बाप की सन्तान में उस रोग की प्रकृति जैसी प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार वायु, पित्त एवं कफ प्रकृति के व्यक्तियों में सामान्य भी विरुद्ध-आहार-विहार इत्यादि के होने से उनके अनुकूल रोग उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार यक्ष्मा और कोढ़ रोगियों में भी उन रोगों के सामान्य कारणों से भी उनकी उत्पत्ति होती है।

रोगी के स्वास्थ्य का पूर्व वृत्तान्त अर्थात् रोग होने से पहले रोगी का स्वास्थ्य किस अवस्था में था, इस बात को मालूम करना भी नितान्त आवश्यक है। रोग के पहिले का स्वास्थ्य ही नहीं बल्कि रोग के बारे में भी जानकारी प्राप्त करना चाहिए। चूँकि बहुत-से ऐसे भी रोग होते हैं जो किसी दूसरे रोग के उपसर्ग स्वरूप दूसरा स्वरूप लेकर सामने आते हैं।

उपदंश और प्रमेहादि के पुराने हो जाने पर गठिया वात तथा नेत्र विकृति आदि रोग पैदा हो जाते हैं ऐसी हालत में पूर्व वृतान्त का महत्व समझते हुए रोग होने के पहले के रोगों तथा स्वास्थावस्था का विवरण अवश्य लेना चाहिए।

रोगी के मुख-स्वाद की परीक्षा तो प्रश्न द्वारा ही की जा सकती है लेकिन प्रत्यक्ष परीक्षा आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा द्वारा ही संभव हो सकती है। आँख द्वारा परीक्षा को दर्शन परीक्षा; कान द्वारा परीक्षा को श्रवण परीक्षा, नाक द्वारा परीक्षा को घ्राणन परीक्षा और त्वचा द्वारा परीक्षा को स्पर्शण परीक्षा कहते हैं। दर्शन परीक्षा का अर्थ देखकर परीक्षा करना है।

आयुर्वेद शास्त्र में **"दर्शन परीक्षा"** का बहुत बड़ा महत्व समझा जाता है, चूँकि सैकड़े ७५ रोग उक्त परीक्षा द्वारा पहचाने जा सकते हैं। दर्शन परीक्षानुसार मानव शरीर के नख से शिख तक शरीर के अवयवों का निरीक्षण किया जाता है।

अवपीड़न, प्रपीड़न, आक्रोटन और आलुञ्चन परीक्षा

अवपीड़न परीक्षा—शोथ रोग तथा वायु एवं कफ प्राधान्य व्रण शोथ में पीव पैदा होने और जलोदर रोग में जल उत्पत्ति की परीक्षा की जाती है। इस परीक्षा की विधि यह है कि उँगली से दबाकर परीक्षा की जाती है।

प्रपीड़न परीक्षा—शरीर के अवयवों, जैसे यकृत, प्लीहा, गुल्म तथा मल-ग्रन्थियों की मृदुता और कठिनता का ज्ञान प्राप्त करना। रोगी को किसी कड़ी वस्तु जैसे चौका या बेंच पर लिटा कर उसके सिरहाने तकिया रखने के पश्चात् उसके दोनों पैर समेट कर रोगी से पेट को ढीला करने के लिए कहें। रोगी का पेट ढीला हो जाने पर उसके बगल में खड़ा होकर उक्त ग्रन्थियों की परीक्षा करें, इस प्रकार की परीक्षा को प्रपीड़न परीक्षा कहते हैं।

आक्रोटन परीक्षा—हृदय तथा फुफ्फुसादि रोगों की परीक्षा के लिए उक्त परीक्षा काम में लायी जाती है। हृदय, फुफ्फुसादि प्रदाहित स्थान पर बाम हाथ की तलहत्थी का ऊपरी भाग अथवा अँगुलियों को रखकर दाहिने हाथ की तर्जनी और बीच की अँगुलियों से मृदु, मध्य और तीव्र तीनों गति से ठोंक कर परीक्षा करने को आक्रोटन परीक्षा कहते हैं।

आलुञ्चन-परीक्षा—आलुञ्चन परीक्षा के साधन सूई, पीन, तृण, हाथ की उँगली एवं गर्म तथा ठंढी वस्तुएँ हैं। इसकी परीक्षा के लिए रोगी की आँखें ढक कर उसके प्रदाहित स्थान पर साधारण, मध्य एवं तेज स्पर्श द्वारा उसकी हालत जानी जाती है, इसका प्रयोग प्रायः कुष्ठादि रोगों के लिए होता है। प्रदाहित एवं सुन्न हुए स्थानों को स्पर्श कर, गर्मवस्तु का स्पर्श कराकर तथा आलपीन वगैरह चुभा कर वास्तविक बात जानी जा सकती हैं। हाँ, कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनमें एक का ज्ञान होता है लेकिन दूसरे का नहीं **उरु स्तम्भ** आदि रोग।

आजकल रोग का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार की भौतिक (Physical), रासायनिक (Chemical), जीवाण्वीय (Biological) और यान्त्रिक (Mechanical) परीक्षाएँ की जाती हैं

थर्मामीटर (Thermometer) और स्टेथोस्कोप (Stethoscope) का प्रयोग तो सर्वविदित है और सर्वत्र होता है। आँख के अन्दर देखने के लिए आफ्थैल्मोस्कोप (Ophthalmoscope), कान के अन्दर देखने के लिए ऑरोस्कोप (Auroscope), श्वास नली के अन्दर देखने के लिए ब्रांकोस्कोप

(Bronchoscope), नाक के अन्दर देखने के लिए नेजल स्पेकुलम (Nasal speculum), कण्ठ के अन्दर देखने के लिए फेरिंगोस्कोप (Pharyngoscope), मलद्वार के अन्दर देखने के लिए प्रोक्टोस्कोप (Proctoscope), सिग्मोइडोस्कोप (Sygmoidoscope), योनि में देखने के लिए योनिदर्शन (Vaginal speculum) आदि अनेक यन्त्र हैं ।

शरीर के अन्दर के अवयवों को देखने के लिए एक्स-रे (X-Ray) का प्रयोग बढ़ता जा रहा है । अस्थिभग्न (Fracture) फुफ्फुस के यक्ष्मा आदि रोग, पित्ताशय या मूत्र मार्ग की पथरी (Gall stone or renal calculus), बच्चे के पेट में गया हुआ सिक्का या अखाद्य ठोस पदार्थ, कपाल के अन्दर अर्बुद आदि इसके द्वारा बहुत सुविधा से देखे जा सकते हैं । पित्ताशय (Gall bladder), पित्तमार्ग (Bile duct), वृक्क (Kidneys), मूत्र मार्ग (Urinary tract), धमनियाँ अथवा शिराएँ रंग द्रव्य का प्रयोग करने के बाद स्पष्ट देखे जा सकते हैं । अपारदर्शक बेरियम (Barium) आदि खिला कर आमाशय एवं आन्त्रों की स्थिति, उनके अर्बुद या व्रण आदि का ठीक-ठीक निदान किया जा सकता है । हृदय में कैथेटर प्रवेश आदि अत्यन्त जटिल क्रियाओं को भी एक्स-रे द्वारा देखते हुए सुविधा से किया जा सकता है ।

ब्लडप्रेसर नापने का यन्त्र (स्फिग्मोमैनोमीटर-(Sphigmomanometer), विद्युत् हृल्लेख (Electrocardiogram), विद्युत् मस्तिष्क लेख (Electro-encephalogram) आदि जटिल यन्त्रों का प्रयोग भी आजकल आवश्यक हो गया है ।

सूक्ष्मदर्शक (Microscope) का प्रयोग, रक्त, मल, मूत्र, पूय, कफ, प्रमस्तिष्क मेरुद्रव, बायोप्सी आदि अनेक वस्तुओं को देखने के लिए होता है ।

मल, मूत्र, रक्त आदि तथा शरीर के अनेक द्रवों की रासायनिक परीक्षाएँ की जाती हैं ।

वास्तव में इस प्रकार की परीक्षाओं की संख्या इतनी अधिक है कि सभी परीक्षाएँ एक ही डाक्टर नहीं कर सकता । इनके अलग-अलग विशेषज्ञ होते हैं ।

आगे कुछ सामान्य यन्त्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में लिखा जाता है :—

थर्मामीटर

थर्मामीटर अंग्रेजी शब्द है। लेकिन कुछ खास लोगों ने इसको "यूनानी" शब्द-कोश के अन्तर्गत माना है, जैसे—यूनानी शब्द थर्मो का अर्थ ताप और **मीटरन** का अर्थ **पैमाना**। थर्मामीटर अर्थात् तापमापकयन्त्र।

थर्मामीटर—कई एक प्रकार के होते हैं। चिकित्सा कार्योपयोगी थर्मामीटर को डाक्टरी थर्मामीटर कहते हैं इसके द्वारा शारीरिक ताप का क्रम (उच्चता) मालूम होता है। यों तो इसके बगल, गुदा और मुँह में लगाकर ताप जानने की विधि बतलाई गई है लेकिन मुँह की गर्मी लेनी चाहिए। मुँह में थर्मामीटर देने के लिए थर्मामीटर को अच्छी तरह धोकर जीभ के नीचे पाँच मिनटों तक रखने के बाद ही ताप देखना चाहिए।

गर्मी के दिनों में अत्यधिक धूप होने के कारण अक्सर पारा ऊपर चढ़ जाया करता है, ऐसी हालत में एक गिलास ठंडा जल में थोड़ी देर तक थर्मामीटर रख देने से गर्मी कम हो जाती है। जर्मनी का हिक्स (Hicks) थर्मामीटर अच्छा समझा जाता है।

बगल की गर्मी से मुँह की गर्मी लगभग एक डिग्री अधिक मिलती है। पैदा होने के समय बच्चों की गर्मी १००.४°, तीन से पाँच रोज के बच्चे की गर्मी ९९.४°, युवावस्था की गर्मी ९८.४°, और वृद्धावस्था की गर्मी लगभग ९८° डिग्री तक रहती है। प्रातःकाल की अपेक्षा शाम को १° डिग्री अधिक ताप रहता है। गर्म देश के लोगों की गर्मी बनिस्पत ठंढा देश के लोगों से कुछ अधिक होती है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की गर्मी अधिक होती है।

शरीर का ताप १०१° होने पर साधारण ज्वर, १०३° होने पर तीव्र ज्वर और इससे अधिक होने पर अति तीव्र ज्वर समझा जाता है।

चेचक, मोहज्वर, मलेरिया तथा लू लगने पर शारीरिक तापमान अधिक बढ़ जाता है। हैजा में शारीरिक ताप घटकर ९३° डिग्री तक हो जाता है।

विशेष—प्रलाप के रोगियों के मुँह में थर्मामीटर देना अनुचित है क्योंकि प्रलाप की अवस्था में रोगी अपने दाँतों से दबा कर थर्मामीटर तोड़ डालते हैं

जिसके फलस्वरूप **"पारा"** पेट के अन्दर जाकर भयानक हानि पहुँचाने में समर्थ हो सकता है।

स्टेथोस्कोप

फ्रेंच निवासी डा० लेनेक द्वारा सन् १८१६ ई० में वक्षपरीक्षक यंत्र का आविष्कार हुआ। वर्तमान युग में यह यंत्र चिकित्सक चिह्न की प्रतीक समझी जाती है। उक्त डा० महोदय के मतानुसार इस यंत्र द्वारा फुफ्फुस परीक्षा का कार्य सुन्दर ढंग से हो सकता है।

वक्ष परीक्षक यंत्र द्वारा स्वरयंत्र, श्वासनली, स्तन देश, स्तन का निम्न-भाग, छाती का ऊपरी, नीचे और बीच का भाग, हँसली की हड्डी का निम्न भाग, तथा पंखा के समीपस्थ आदि स्थानों की परीक्षा की जाती है।

इस यंत्र द्वारा रोग परीक्षा करते समय रोगी को किसी बड़ी चीज, जैसे—चौकी अथवा ब्रेंच आदि पर सुला देना चाहिए। रोगी को चितान सोना चाहिए लेकिन उसकी गर्दन परीक्षक की ओर नहीं होकर दूसरी तरफ मुड़ी रहनी चाहिए। रोगी को स्थिर ढंग से जोर-जोर से श्वास-प्रश्वास की क्रिया जारी रखनी चाहिए ताकि श्वासध्वनि लेने में चिकित्सक को सुविधा हो।

ध्वनि[1]

फुफ्फुस में दो प्रकार की ध्वनि (शुष्क और तरल) होती है। शुष्क और तरल ध्वनि के तीन-तीन भेद हैं—शुष्क ध्वनि के भेद।

१—सर्प की फुफकार अथवा सीटी की आवाज जैसी ध्वनि को सत्कारी (Sibilant Rhonchi) कहते हैं। कबूतर की गुड़गुड़ाहट और मक्खी की भिनभिनाहट जैसी आवाज को (Sonorous Rhonchi) और कागज की खड़खड़ाहट जैसी आवाज को क्रेपिटेशन (Crepitation) कहते हैं।

---

१. स्टेथोस्कोप द्वारा निदान करने की सम्पूर्ण विधि विस्तार से 'स्टेथोस्कोप परीक्षा' पुस्तक में पढ़ें।

तरल ध्वनि के भेद—बुलबुला छूटने जैसी आवाज को (Large Crepitation), चरचराहट जैसी आवाज को (Fine crepitation) और सूप फटकने जैसी आवाज को (Gurgling) कहते हैं ।

उक्त ध्वनियों के अतिरिक्त रोगानुकूल और भी भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें सुनने में आती हैं ।

फुफ्फुस की स्वाभाविक आवाज **"मरमर"** जेसी होती है । स्वरयन्त्र और ट्रेकिया की आवाज को Bronchial breathing, शुष्क एवं खोखले शब्द को Cavernous breathing, फेफड़ा में विशेष गहराई पैदा होने पर शीशी में फूंकने जैसी आवाज को (Amphoric breathing), हिश, हिश, सायँ, सायँ जैसी आवाज को Rhonchi, बाँसुरी जैसी आवाज को Sibilant Rhonchi, कौए की बोली जैसी आवाज को Crowing Rhonchus, कफ की घड़घड़ाहट और खलखलाहट को Rabs और केश रगड़ने जैसी आवाज को Crepitation कहते हैं ।

स्टेथोस्कोप और हृदय गति—शरीरमात्र में हृदय द्वारा दूषित रक्त का आदान और शुद्ध रक्त का प्रदान क्रम निरन्तर जारी रहता है । उक्त प्रकार रक्त लेने और छोड़ने पर एक प्रकार का संकोचन प्रसारण होता है जिसकी ध्वनि को लब (Lup) डब (Dub) कहते हैं । उक्त ध्वनिकाल समाप्त होने में लगभग $\frac{१}{१०}$ सेकेण्ड लगता है ।

स्वस्थावस्था में हृदय पर स्टेथिस्कोप रखने पर लब-डब की आवाज सुनाई पड़ती है ।

रोगानुकूल ध्वनि

दमा में श्वास-प्रश्वास की ध्वनि कौए की बोली अथवा सीटी देने जैसी और **प्लुरिसी** (Pleurisy) में दो वस्तुओं के रगड़ने जैसी मालूम होती है । यक्ष्मा रोग में काँसे के बर्तन की आवाज और न्यूमोनिया में कागज फाड़ने, बाल

घिसने आदि तरह-तरह की आवाजें निकलती हैं। केपिलरी ब्रॉंकाइटीज में घर-घराहट की आवाज और पायोन्यूमोनिया में **सक्यूशन साउण्ड** होता है। रोगी के हिलने-डुलने से प्लुरा स्थित तरल पदार्थ का शब्द सुनाई पड़ता है उसी को (सक्यूशन Succussion) कहते हैं।

वक्ष परीक्षक यन्त्र द्वारा विशेष रूप से फुफ्फुस और हृदय गति की परीक्षा में सहायता मिलती है।

फुफ्फुस में निम्नलिखित रोग होते हैं—श्वास-कष्ट, पुनरोत्पन्न कास, स्वर-यन्त्र प्रदाह, स्वर यन्त्र रोग, न्यूमोनिया, क्रीपिङ्गन्यूमोनिया, मैसिव न्यूमोनिया, सेन्ट्रल न्यूमोनिया, डबल न्यूमोनिया, दमा, फेफड़े की सड़न, फेफड़े की वृद्धि, फेफड़े का संकोचन, फेफड़े में जल भर जाना तथा **फेफड़े की झिल्ली में पानी भर जाना** Hydrothorax आदि।

यद्यपि आधुनिक युग में स्टेथोस्कोप का उपयोग अत्यधिक रूप में देखने में आता है लेकिन नाड़ी-परीक्षा की तरह अध्ययन से अधिक महत्त्व अभ्यास का ही है। अगर इस यन्त्र द्वारा फुफ्फुस एवं हृदय गति परीक्षण पर ध्यान दिया जाय तो नाड़ी परीक्षा के अभ्यास से बहुत पहले ही इसकी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। नाड़ी-परीक्षा का स्थान तो सर्वश्रेष्ठ है लेकिन नाड़ी की ध्वनि गिनकर ही उक्त समस्या नहीं हल हो सकेगी उसके लिए वायु, पित्त एवं कफ को आधार बनाकर परीक्षा करने पर ही सफलता मिल सकेगी। अतः कहने का तात्पर्य कि स्टेथोस्कोप का प्रयोग अभ्यास पर निर्भर करता है।

———

नाड़ी-परीक्षा

नाड़ी-परीक्षा का महत्त्व केवल चिकित्सकों के लिए ही नहीं बल्कि शिक्षित से अपढ़ जनसाधारण के लिए भी विशिष्ट स्थान रखने वाला है। यों तो नाड़ी-परीक्षा प्रायः सभी प्रकार के चिकित्सक करते हैं लेकिन आयुर्वेद में इस परीक्षा का बहुत सम्मानपूर्ण स्थान है।

भाव प्रकाश—पुंसो दक्षिण हस्तस्य स्त्रियोबाम करस्यतु।
अंगुष्ट मूलगां नाड़ी परीक्षेत भिषग्वरः॥
अंगुलीभिस्तु त्रिस्तृभिर्नाडी भवहितः स्पृशेत।
तचष्टया सुख दुःखं जानीयात्कुशलोऽखिलम्॥ अर्थात्—

पुरुष के दाहिने हाथ की नाड़ी और स्त्री के बामहस्त की नाड़ी देखकर चतुर वैद्य को शारीरिक सुख और दुःख की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। दाहिने और बाएँ हाथ का प्रश्न उठने पर उक्त शंका के समाधान के लिए आयुर्वेद में निम्न प्रकार श्लोक आया है :—

कूर्मों वै देहिनामस्ति नाभिस्थाने सदा स्थितः।
स्त्रीणा मूर्ध्वमुखः पुंसामधोवक्रः प्रकीर्तितः॥
तस्यैव दक्षिणे भागे नाड़ी ज्ञेया भिषग्वरैः।
अनेन कारणेनैव नारी पुंसोव्यतिक्रमः॥ अर्थात्—

देहधारी मात्र के नाभिस्थान पर कच्छपाकार एक अवयव रहता है जो पुरुष के शरीर में अधोमुख और स्त्री के नाभिस्थान पर ऊर्ध्वमुख रहता है। उक्त अवयव के दाहिने भाग की नाड़ो देखनी चाहिए। पुरुष के शरीर में अधोमुख रहने के कारण उक्त कच्छप का दाहिना भाग दाहिना हाथ होता है और स्त्री के शरीर में ऊर्ध्वमुख रहने के कारण कच्छप का दाहिना भाग बायाँ हाथ होता है।

तुरन्त स्नान, भोजन और व्यायाम अथवा भूखे, प्यासे और कामातुर एवं पाखाना और पेशाब वेगयुक्त स्त्री और पुरुष की नाड़ी नहीं देखना चाहिए। उक्त दशाओं में नाड़ी की गति बिल्कुल अनियमित होती है, ऐसी हालत में उचित निर्णय पर पहुँचना बिल्कुल असंभव है।

नाड़ो-परीक्षा का अनुकूल समय, **सबेरे का समय** ही माना गया है। नाड़ी-परीक्षा के पहले रोगी और चिकित्सक दोनों को शौचादि से निवृत होकर स्वस्थिर हो लेना चाहिए। प्रातःकाल में नाड़ी की गति उचित अवस्था में रहती है। साधारणतः दोपहर को नाड़ी की गति मृदु और तीसरे पहर कुछ तीव्र हो जाया करती है।

नाड़ी-परीक्षा के लिए कलाई पर तीन अँगुलियाँ अनामिका, मध्यमा और तर्जनी रक्खी जाती हैं और कलाई के नीचे अँगूठा रहता है। कलाई के अतिरिक्त दोनों पैर, शिरोधीय-धमनी, कण्ठ एवं नाक के दोनों ओर के "स्थान" नाड़ी-परीक्षा के लिए प्रमुख हैं। नाड़ी देखते समय चिकित्सक को चाहिए कि दाहिने हाथ की अँगुलियों से रोगी की कलाई पकड़े और अपना बायाँ पहुंचा रोगी की केहुनी के नीचे रक्खे जिसके फलस्वरूप रोगी का हाथ उचित अवस्था में रह सके।

नाड़ी की स्वाभाविक गति अँगुलियों के नीचे मृदुल गति से अर्थात् मधुर प्रवाह की तरह प्रतीत होती है। बच्चा पैदा होते ही अगर उस नवजात शिशु की नाड़ी देखी जाय तो प्रति मिनट लगभग १४० बार, शैशवावस्था में १२० बार, युवावस्था में ८० से ९० बार तक, प्रौढ़ावस्था में ७५, वृद्धावस्था में ७० और विशेष वृद्धत्वकाल में नाड़ी की चाल में प्रायः ६० स्पन्दन होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि प्रायः सात वर्षों तक स्त्री और पुरुष की नाड़ी की गति समान ही रहती है लेकिन उसके पश्चात् स्त्री की नाड़ी की गति तेज होने लगती है। अतः पुरुष की अपेक्षा स्त्री की नाड़ी का स्पन्दन कुछ अधिक होता है।

चिकित्सक की तीन अँगुलियाँ जो रोगी की नाड़ी पर रक्खी जाती हैं, उनमें तर्जनी के नीचे वायु, मध्यमा के नीचे पित्त एवं अनामिका के नीचे कफ की गति जानी जाती है।

———

स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी

स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी प्रातःकाल में स्निग्धा, दोपहर को उष्ण और अपराह्न काल में वेगवती हो जाया करती है। जिस मनुष्य के शरीर में धातु और मल समावस्था में रहते हैं उसकी नाड़ी जड़ता रहित केंचुआ (Earth worm) की गति से चलती है। स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी बलवती एवं मधुर

होती है। त्रिधातु की प्रक्रिया सर्वव्यापी है। इसके विचार से प्रातःकाल में वात की नाड़ी, दोपहर को पित्त की नाड़ी और शाम को कफ की नाड़ी हो जाती है। **"वेद"** में उक्त विवरणानुकूल प्रातः में वायु, दोपहर को सूर्य और शाम को चन्द्रनाड़ी का वर्णन आया है।

वात की नाड़ी :—सर्प और जोंक की गति के समान चलनेवाली नाड़ी को वायु की नाड़ी कहते हैं।

पित्त की नाड़ी :—कौआ और मेढक की गति से अर्थात् उछल-उछल कर चलनेवाली नाड़ी की गति को पित्त की नाड़ी कहते हैं।

कफ की नाड़ी :—हंस, मोर, कबूतर, जंगली मैना तथा मुर्ग की भाँति मंद-मंद चलनेवाली नाड़ी को कफ की नाड़ी कहते हैं।

वात कफ की नाड़ी सांप और हंस की मिश्रित गति से चलती है, पित्त कफ की नाड़ी मेढ़क और हंस की चाल से और सन्निपात अर्थात् वायु, पित्त एवं कफ की नाड़ी कठफोड़वा पक्षी की गति—व्याकुल, मन्द, टेढ़ी और ठहर-ठहर कर मन्दता लिए हुए चलती है। त्रिदोष को **सन्निपात** कहते हैं। इसमें तीनों प्रकार की गति मिलती है।

ज्वर का प्रकोप होने पर उष्णता से नारी का वेग तीव्र हो जाता है। धातुक्षीणता, मंदाग्नि में तथा चिन्ताग्रस्त मनुष्य की नाड़ी क्षीण गति से चलती है। कामातुर, क्रोधित एवं परिश्रम किये हुए मनुष्य की नाड़ी वेगवती होती है। भूख रहने पर नाड़ी तेज और भोजन कर लेने पर नाड़ी मंद गति से चलती है।

यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र में नाड़ी परीक्षा के लिए कई एक प्रमाण द्वारा नाड़ी की गति पर प्रकाश डाला गया है लेकिन जिस प्रकार रोग परीक्षा में नाड़ी-परीक्षा का स्थान विशिष्ट है उसी प्रकार नाड़ी-परीक्षा के लिए अध्ययन से अभ्यास का स्थान श्रेष्ठ है।

———

डाक्टरी मतानुसार नाड़ी परीक्षा का संक्षिप्त विश्लेषण

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में नाड़ी की पाँच प्रकार से परीक्षा की जाती है वे हैं :—

१. गति (Rate)

२. ताल (Rhythm)

३. बल (Force)

४. आयतन (Volume)

५. तान (Tension)

गति (Rate)–एक मिनट में नाड़ी के स्पन्दनों की संख्या को नाड़ी की गति कहते हैं। जन्म के समय यह गति १४०, शैशव और बाल्यावस्था में १२०, किशोरावस्था में ९०, तरुणावस्था में ७२ और वृद्धावस्था में ७२ से कम ६० तक होती है।

ताल (Rhythm)—नियमित रूप से ठीक समय के अन्तर पर स्पन्दनों के होने को ताल कहते हैं। जब प्रत्येक दो स्पन्दन बराबर समय के अन्तर से होते हैं तो नाड़ी नियमित (Regular) कहलाती है। सामान्यतः एक स्पन्दन के प्रारम्भ से दूसरे स्पन्दन के प्रारम्भ तक ०.८ सेकण्ड का समय लगता है और इस प्रकार एक मिनट में ७२ स्पन्दन होते हैं। बच्चों या महिलाओं में, परिश्रम के बाद या ज्वर में नाड़ी की गति तेज हो जाती है परन्तु उनकी तालबद्धता बनी रहती है।

जब दो स्पन्दनों के बीच का समय कम या अधिक होता है तो नाड़ी अनियमित कहलाती है। यह अनियमितता दो प्रकार की हो सकती है। एक में प्रति दो, तीन-चार या पाँच स्पन्दनों के बाद एक बार स्पन्दन नहीं होता अर्थात् अनियमितता का प्रकार बराबर एक-सा रहता है। दो लुप्त स्पन्दनों के बीच के स्पन्दनों की संख्या सदैव बराबर रहती है। इसे नियमित अनियमितता

(Regular irregularity) कहते हैं। जब कभी दो कभी तीन-चार या पाँच स्पन्दनों के बीच में एक स्पन्दन लुप्त होता है तब उसे अनियमित अनियमितता (Irregular irregularity) कहते हैं।

बल (Force)—नाड़ी जितनी शक्ति से स्पर्श करने वाली उँगली को ठेलती है उसे नाड़ी का बल कहते हैं। नाड़ी कितनी जल्दी भरती और जल्दी खाली होती है इससे बल में अधिकता या कमी होती है। जब नाड़ी जल्दी भरती और जल्दी खाली हो जाती है तब बल अधिक होता है जैसे महाधमनी प्रत्यावहन (Aortic regurgitation), अवटुअतिक्रियता (Hyperthyroidism), अरक्तता (Anaemia) आदि में होता है। धीरे-धीरे भरने और देर से खाली होने में बल कम हो जाता है।

कभी अधिक बल और कभी कम बल होना भी ताल (Rhythm) की अनियमितता कहलाता है। यह अवस्था हृदय की दुर्बलता दर्शाती है। एक बार अधिक और एक बार कम बल वाली नाड़ी को एकान्तरित नाड़ी (Pulsus alternans), दो बार अधिक बल और एक बार कम बल वाली नाड़ी को द्विस्पन्दिक नाड़ी (Pulsus bigiminus) और तीन के बाद एक बार कम बल वाली नाड़ी को त्रिस्पन्दिक नाड़ी (Pulsus trigiminus) कहते हैं। ये सभी नियमित अनियमितताएँ (Regular irregularities) हैं।

आयतन (Volume)—प्रत्येक स्पन्दन में नाड़ी जितना फूलती है और जितनी देर तक फूली रहती है उसे आयतन कहते हैं। इससे हृदय के निर्गम (Output) का पता चलता है। अतिरक्तदाब में यह बढ़ जाता है। खिलाड़ियों में भी अधिक होता है।

तान (Tension)—नाड़ी में रक्त प्रवाह बन्द करने के लिए जितने बल की आवश्यकता पड़ती है उसे नाड़ी का तान कहते हैं।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त नाड़ी देखने से धमनी की भित्ति के कड़ेपन का भी पता चलता है। धमनी काठिन्य (Arteriosclerosis) में नाड़ी रस्सी के समान प्रतीत होती है।

रक्तदाबमापक यंत्र (Sphygmomonometer)

इसके एक भाग में थर्मामीटर की तरह काँच की नली रहती है जिस पर चिह्न बने रहते हैं और उसके अन्दर पारा भरा रहता है। दूसरे भाग में गद्दी-दार पट्टी रहती है जिसमें रबर की नली और छोर पर रबर का छोटा गेंद जैसा लगा रहता है। गद्दीदार पट्टी को बाँह पर बाँध कर गेंद जैसे आकार वाले भाग को दबा-दबा कर हवा भरी जाती है जिसके फलस्वरूप (थर्मामीटर जैसी) नली में पारा की उर्ध्वगति चढ़ाव होने लगता है। इस यन्त्र के व्यव-हार के समय श्रवण एवं स्पर्श दो तरह की परीक्षाएँ होती हैं। श्रवण को (Auscultatory method) और स्पर्श को (Palpatory method) कहते हैं।

रोगी की बाँह में गद्दीदार पट्टी लपेट देते हैं। इसकी नली यन्त्र की नली से जुड़ा देते हैं। जिस बाँह पर पट्टी लपेटी गई है उसी की कलाई पर नाड़ी का स्पर्श करते हैं और गेंद को बार-बार दबाते हैं। इससे पट्टी में हवा भरने लगती है और उसका दबाव बाँह पर पड़ने लगता है। साथ ही यन्त्र की नली में पारा ऊपर चढ़ने लगता है। एक ऐसी अवस्था आती है कि नाड़ी प्रतीत नहीं होती। अब हवा भरना बन्द कर गेंद का पेंच ढीला कर देते हैं। इससे हवा धीरे-धीरे निकलने लगती है और पारा भी नीचे उतरने लगता है। स्तर ध्यान से देखते रहें। जैसे ही नाड़ी का पहिला स्पन्दन प्रतीत हो पारे का स्तर पढ़ लें। यही रक्तदाब (Blood pressure) है। रक्तदाब दो प्रकार का होता है। एक हृदय के प्रकुञ्चन (संकोच) करने के समय का और दूसरा अनुशिथिलन करते (फैलते) समय का। पहिले को प्रकुञ्चन रक्तदाब (Systo-lic pressure) और दूसरे को अनुशिथिलन दाब (Diastolic pressure) कहते हैं। उपर्युक्त विधि से केवल प्रकुञ्चन दाब मालूम हो सकता है। अनु-शिथिलन दाब मालूम करने के लिए स्टेथोस्कोप (Stethoscope) का प्रयोग करना पड़ता है। इस दूसरी विधि को परिश्रवण विधि (Auscultatory method) कहते हैं।

परिश्रवण विधि (Auscultatory Method)—पट्टी को बाँह पर

लपेटने के बाद इतनी हवा भरें कि नाड़ी का स्पन्दन बन्द हो जाय। अब स्टेथोस्कोप का चेस्टपीस कोहनी के सामने वाली धमनी पर रखें और वायु को धीरे-धीरे कम करें। एकाएक कान में एक धमक (शब्द) सुनाई देगी। तुरन्त पारे का स्तर देख लें यही प्रकुञ्चन दाब है। हवा धीरे-धीरे और भी कम होने दें। ध्वनि बढ़ती जावेगी। एक स्थान पर ध्वनि एकाएक कम हो जायेगी। इस समय का पारे का स्तर अनुशिथिलन दाब बताता है।

एक स्वस्थ मनुष्य में प्रकुञ्चन दाब ११० से १४० मि० मि० पारद होता है और अनुशिथिलन दाब ६० से ९० मि० मि० पारद होता है। रक्त-दाब की अधिकता से सिरदर्द, चक्कर आदि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। लकवा और हार्टफेल भी हो सकते हैं। दाब कम होने पर भी चक्कर, दुर्बलता आदि होते हैं।[1]

श्वास-प्रश्वास और नाड़ी

श्वास लेने और छोड़ने को श्वास-प्रश्वास कहते हैं। चार बार नाड़ी के स्पन्दन होने पर मनुष्य केवल एक बार श्वास-प्रश्वास को काम में लाता है। नाड़ी और श्वास-प्रश्वास का संबंध अटूट है। अतः एक दूसरे के बढ़ाव पर दोनों का बढ़ाव निश्चित है। एक मिनट में १८ बार श्वास चलता है।

नाड़ी देखने के लिए भी लकीर बनाने वाली एक विचित्र यंत्र का आविष्कार हुआ है लेकिन इसमें अभ्यास के स्थान पर आकर्षण की ही विशेषता है।

जीभ परीक्षा

वायु प्रकोप होने पर जीभ—रूखी, खरखरी, नीला अथवा हरा रंग लिये हुए रहती है। पित्त प्रकोप में—लाल, पीली अथवा श्याम रंगयुक्त और कफ प्रकोप में चिकनी, तर और सफेद रहती है। दो दोष होने पर दोनों में पाये जाने वाले रंगयुक्त और त्रिदोष अर्थात् सन्निपात होने पर सर्व लक्षण एवं

---

१. रक्तदाब देखने और रोग की पूरी जानकारी के लिए 'ब्लड प्रेशर' पुस्तक पढ़ें।

दोषयुक्त, टेढ़ी और झुलसी जैसी हो जाती है। **उदर में विकार होने पर जीभ और दाँतों पर तरह-तरह की मैल जमा करती है।**

विशेष—चिकित्सा प्रारम्भ काल के कुछ ही वर्षों बाद मुझे एक रोगिणी को देखने के लिए बुलाया गया। उसको आठ रोज तक गुलबनफ्सा का काढ़ा दिया गया था पश्चात् मुझे देखने का मौका मिला। लगभग एक सप्ताह दवा करने पर जब ज्वर का वेग नहीं कम हुआ तब उसके परिवार के लोग घबराने लगे। मैंने उन लोगों से साफ कह दिया कि इसको मोतीझरा ज्वर हो गया है और बिलकुल चंगा होने में अभी एक सप्ताह से अधिक दिन लगेंगे। परिवार वालों की अधीरता देख कर मैंने साफ कह दिया कि आप लोग किसी अन्य चिकित्सक से भी दिखला सकते हैं। वे तो पहले से ही चाहते थे कि इसको किसी विशेष योग्य चिकित्सक को दिखलाया जाय। मेरे कहने पर भावना अधिक दृढ़ हो गयी।

दूसरे दिन लगभग ग्यारह बजे दिन को मुझे पुनः उस रोगी के यहाँ बुलाया गया। मेरे पहुँचते ही वहाँ पर एक सब असिस्टेण्ट सर्जन साहब आ पहुँचे। उक्त चिकित्सक महोदय चिकित्सा, पथ्य, परहेज इत्यादि व्यवस्था की बातों को जान लेने के पश्चात् मेरे साथ रोगिणी के यहाँ गये।

एलोपैथिक पद्धतिनुकूल रोगिणी की जाँच कर लेने पर डा० साहब ने प्रश्न किया, रोगिणी की हालत तो कोई वैसी खराब नहीं है। जिससे आप लोग इस कदर परेशान हैं? परिवार वालों से पूछताछ करने पर आपने कहा—क्यों पण्डितजी आप क्यों घबरा गये? आपकी घबराहट के फलस्वरूप भादों मास की इस कादाकीच कच्ची सड़क नापनी पड़ी!

थोड़ी देर बातचीत होने के बाद उक्त चिकित्सक ने रोगिणी को जीभ दिखाने के लिए कहा। रोगिणी जीभ दिखलाने में हिचकती थी लेकिन बाद में जीभ देखने पर पता चला कि गले में दही की छाली की तरह एक प्रकार का पदार्थ लिपटा हुआ है जिसके फलस्वरूप रोगिणी को बोलने, निगलने और खाँसने में कुछ कष्ट का सामना करना पड़ता है।

डाक्टर साहब के आदेशानुसार मैंने उस दूषित पदार्थ को नीम की दातून

जैसी टहनियों में लत्ता लपेट कर साफ कर दिया। उसको साफ करते समय जहाँ तहाँ से कुछ रक्तस्राव जैसा प्रतीत हुआ जिसके लिए डा० साहब ने बोरोग्लिसरिन का प्रयोग किया था।

डा० साहब के बार-बार दरियाफ्त करने पर मैंने साफ-साफ बतला दिया कि शर्मवश मैंने जीभ दिखाने के लिए नहीं कहा। इस पर डाक्टर साहब ने बतलाया ऐसे मारात्मक रोगों में आप जीभ ही नहीं बल्कि कण्ठ भी अवश्य देख लिया करे। उस दिन से मैं उनके आदेशानुसार ही किया करता हूँ।

नेत्र परीक्षा

जिस रोगी की आँख धूम्रवर्ण लिये हुए कुछ लाल एवं रूखी रहती है और भीतर से जल की झलक आती हो उसको वायु प्रकोप युक्त समझना चाहिए।

जिस रोगी की आँखें दाहयुक्त—लाल, पीली, हरी रंग वाली हों और रोशनी से जिसको तकलीफ मालूम होती हो उसको पित्त प्रकोप जानना चाहिए।

जिस रोगी की आँखें जल भरी, चिकनी और उजले रंग की हों उनको कफ प्रकोप जानना चाहिए। जिसकी आँखें दो रंगों वाली होंगी उससे दोनों के रंग और त्रिदोष वाली आँखों में वायु, पित्त एवं कफ तीनों के लक्षण मिलेंगे। त्रिदोष में आँखों से जल निकलने लगता है तथा आँखें भीतर की ओर धँस जाती हैं।

आज-कल स्वस्थ मनुष्य भी आँखों की परीक्षा करा कर चश्मा का उपयोग करते हैं। बहुत-से तो ऐसे भी आदमी हैं जो शून्य शक्ति (Zero power) का चश्मा शौकवश आँखों पर डालते हैं। उक्त सौन्दर्य वृद्धि करने वाली मनोवृत्ति के फलस्वरूप एक बेकार आदत छाया की तरह पीछे पड़ जाती हैं।

हाँ, कुछ लोगों की आँखें कमजोर भी होती हैं जिन्हें अधिक शक्तिवाला चश्मा लगाना पड़ता है लेकिन इसके लिए बहुत-सी ऐसी औषधियाँ हैं जिसके द्वारा रोगी रोग-मुक्त हो सकता है।

आँख की निम्नलिखित बनावट के अनुसार उक्त परीक्षा का मार्ग अवलम्बन किया जाता है,—

मनुष्य को खोपड़ो के दो गड्ढों में आँखें जुड़ी हुई हैं। यह गड्ढा हड्डी के सात टुकड़ों का एक मजबूत और सुरक्षित ढाँचा है। इसमें ललाटास्थि (Frontal bone), झर्झरास्थि (Ethmoid bone), जतूकास्थि (Sphenoid bone), अश्रुअस्थि— (Lachrymal bone), ऊर्ध्व हन्वास्थि (Superior Maxillary), तल्वारिस्थ (Palate bone) और गण्डास्थि (Malar bone)।

उक्त हड्डियों के बीच सुरक्षित ढंग से आँखें स्थित हैं। उनको सुरक्षा के वास्ते बाहर भी दो पलकें और ऊपर भी बनी हुई हैं। भौं, ललाट से टपकते हुए पसीना की बूंदों को रोकता है तथा पलकों से चोट इत्यादि का बचाव होता है।

पलकों के नीचे आँखें उजले पर्दे से जिसको (श्वेतपटल) कहते हैं, ढकी रहती हैं। इस पर्दा के नीचे एक दूसरा पर्दा है जिसमें पतली-पतली रक्तवहा नसें रहती हैं। उक्त नसें जाल की तरह बिछी हुई हैं जिनमें अनेक **"कोष"** हैं जिनसे आँखें काली, भूरी तथा हरी रङ्ग की जान पड़ती हैं।

आँखों के बीच में मध्यपटल है जिससे आँख का भीतरी भाग अंधकारमय दिखलाई पड़ता है। कॉर्निया के समीप आकर यह श्वेतपटल को छोड़ देता है और उसके पीछे एक गोलाकार परत बनाती है जिसको **"उपतारा"** कहते हैं। उपतारा का रंग काला भूरा अथवा नीलरंग युक्त होता है। इस उपतारा के मध्य भाग में छिद्र है जिसको पुतली कहते हैं। पुतली के द्वारा प्रकाश एकत्रीकरण एवं नियंत्रण होता है।

आँख का तीसरा पटल अन्तरीय पटल है, अन्तरीय पटल पर नसों एवं स्नायुओं का जाल-सा लगा रहता है। कॉर्निया और उपतारा के बीच जलीय रस रहता है। इसके बाद एक प्रकार का लसीला रस जिसको स्वच्छ "द्रव्य" कहते हैं, स्थित है। इन दोनों रसोंयुक्त काष्ठों के मध्य में एक पारदर्शीय दोहरे उन्नतोदर ताल हैं जिसके द्वारा प्रकाश अन्तरीय पटल पर सीमाबद्ध होता है। देखी हुई वस्तु की छाया **रेटिना पर** पड़ती है। पुनः प्रतिछाया

मस्तिष्क की चक्षुनाड़ी द्वारा जो रेटिना पर जल जैसी फैली हुई है पहुँच जाती है। इस प्रकार बाहर की वस्तुओं को देखते हैं। फोटो लेने वाला केमरा करीब-करीब आँख की बनावट से मिलता-जुलता यंत्र है।

मूत्र-परीक्षा

बच्चा पैदा होने पर चौबीस घंटों के अन्दर उसको लगभग दो औंस तक पेशाब हो सकता है, एक सप्ताह से दो मास तक के बच्चे को दस से तेरह औंस तक, ६ मास से दो साल तक के बच्चे को लगभग २० औंस, पाँच से आठ साल के बच्चे को लगभग ३० औंस और पूरी उम्र वालों को एक सेर से डेढ़ सेर तक पेशाब हो सकता है।

अवस्था की गत्यानुकूल भोजन का परिमाण भी बढ़ता जाता है। तदनुसार ही मूत्र परिमाण को भी समझना चाहिए। गर्मी के दिनों में विशेष गर्मी पड़ने पर पेशाब की मात्रा अवश्य ही घट जाती है और ठंडक के दिनों में पेशाब की मात्रा बढ़ जाया करती है।

स्वस्थ मनुष्य के पेशाब का रंग सूखी घास की तरह **"हलका पीलापन रंग लिए"** हुए होता है लेकिन नित्य के खानपान के अनुसार भी मूत्र का रंग और परिमाण बहुत कुछ अंशों में निर्भर है। पेशाब निकलते समय उसमें से तीव्र गंध होती है लेकिन थोड़ी देर बाद वह गंध नष्टप्राय हो जाती है।

मूत्र-परीक्षा के लिए प्रातःकाल का मूत्र काँस, काँच अथवा मिट्टी के बर्तन तक में ढक कर रखना चाहिए। सूर्योदय होने पर मूत्र को काँच के बर्तन में ढाल कर परीक्षा करना अच्छा होता है।

वायु का पेशाब—रूखा, नीला रंगयुक्त और जल के सदृश पतला, पित्त-का पेशाब लाल, पीला और थोड़ा तथा कफ का पेशाब गाढ़ा चिकना और उजला होता है। त्रिदोष की विकृति होने पर पेशाव का रंग काला तथा विभिन्न रंगयुक्त हो जाता है। पेशाब करते समय जिस रोगी को काले रंग की धारा निकलती है उसका रोग असाध्य समझा जाता है। अजीर्ण रोग में पेशाब का रंग बकरी के मूत्र जैसा और ज्वर होने पर लाल, पीला और उष्ण पेशाब होता है।

तेलद्वारा मूत्र परीक्षा

लगभग डेढ़ घंटों तक पेशाब को धूप में रखने के बाद उसमें रुई, कपड़ा अथवा अंगुली से सरसों का तेल टपका कर परीक्षा की जाती है। तेल की बूँद मूत्र में पड़ते ही फैल जाने पर रोग साध्य, बूँद देर से फैलने अथवा ज्यों की त्यों तैरते रहने पर कष्टसाध्य और बूँद डूब जाने पर रोग असाध्य समझा जाता है।

आकार गति से मूत्र परीक्षा—तेल की बूंद का आकार हंस, हाथी, चमर, छत्र तथा कमलाकार दिखलाई पड़ने पर रोग शीघ्र ही अच्छा होनेवाला समझा जाता है। पेशाब के ऊपर तेल की बूंद तैरते रहने पर भी बूंद में छिद्र पड़ जाने अथवा धनुषाकार और खड्ग की तरह आकार बन जाने पर रोग असाध्य समझा जाता है।

मूत्र परीक्षण का आधुनिक वैज्ञानिक विश्लेषण

प्रायः देखने में आता है कि आजकल बहुत-से लोग वायु, पित्त और कफ के लिए अंग्रेजी भाषा के **विण्ड** (Wind), **बाइल** (Bile) और **प्लाज्मा** (Plasma) शब्द के उपयोग करते हैं। लेकिन इस बेतुका मिलान से त्रिधातु और त्रिदोष की विशिष्टता की महत्ता ही नष्ट हो जाती है।

पेशाब की घनता—पेशाब की घनता द्वारा बहुत-सी बातें जानी जाती हैं। पेशाब की घनता देखने के लिए घनतामापक यन्त्र का उपयोग होता है। स्वस्थ मनुष्य का पेशाब पानी की तरह होता है। चीनी अथवा पित्त मिला पेशाब गँदला होता है। शीशी में थोड़ी देर तक पेशाब रखकर शीशी हिला देने पर फेन—अधिक देर तक ठहरता है तो अण्डलाल (Albumen) की अधिकता और पेशाब में ताजी घास की गन्ध आने पर बहुमूत्र रोग समझा जाता है।

घनता—साधारणतया जन्म से लेकर एक साल के बच्चे की घनता का परिमाण १००१ से १००५ तक समझी जाती है। लेकिन एक साल बाद ही

घनता का परिमाण १०२६ से १०३० तक पहुँच जाती है। पेशाब की घनता का परिमाण गर्मी एवं शीतलता के हिसाब से बढ़ती-घटती है। अगर गर्म पेशाब की घनता १०२० हो और उसी पेशाब को थोड़ी देर तक रखने याने ठंडा कर लेने पर उसकी घनता १०२५ तक पहुँच जाती है। वयस्क की अपेक्षा छोटे बच्चों के पेशाब की घनता अधिक होती है। स्वस्थ मनुष्य के पेशाब की घनता लगभग १०१० से १०२० तक होती है।

मूत्र की रासायनिक परीक्षा

पेशाब की रासायनिक परीक्षण द्वारा पेशाब में सम्मिलित पदार्थों एवं पदार्थांश का बोध होता है। पदार्थ विशेष के लिए अम्ल और क्षार की (जिसको अंग्रेजी भाषा में Acid और Alkali कहते हैं) परीक्षा होती है। अम्ल की अधिकता होने पर पेशाब का रंग गहरा और क्षार की मात्राधिक्य होने पर पेशाब का रंग कुछ फीका होता है।

उक्त परीक्षा के लिए निम्नलिखित सामानों की आवश्यकता होती है। युरिनोमीटर, फ्लास्क, तिपाई, ब्यूरेट, पिपेट, टेस्ट ट्यूब और स्प्रीट लैम्प।

युरिनोमीटर—यह थर्मामीटर जैसी चिह्न वाली पेशाब की घनता जाँच करने वाली यन्त्र है। इसके ऊपरी भाग में चिन्ह बने रहते हैं। पेशाब में डुबाने पर जिस चिह्न तक यन्त्र डूब जाती है उस परिमाण तक पेशाब की घनता समझी जाती है। फ्लास्क—एक प्रकार की लोटा जैसी पेंदे वाली और पतले काँच की शीशी है। इसका शीशा बहुत ही पतला होता है। फिर भी यह इतना मजबूत होता है कि आग पर चढ़ाने से भी नहीं टूटता। तिपाई—लोहे की बनी तीन पैर की होती है, जिसके नीचे स्प्रीट लैम्प रखकर पेशाब गर्म किया जाता है। स्प्रीट लैम्प—मिट्टी के तेल से जलनेवाला टुकड़ा जैसा आकार का शीशे से बना होता है जिसमें स्प्रीट भर कर बत्ती लगा देते हैं। इसके ऊपर एक अच्छा-सा ढक्कन रहता है जिससे स्प्रीट लैम्प अच्छी तरह बन्द हो जाता है। पेशाब गर्म करने के पश्चात् उक्त ढक्कन से तुरन्त ही लैम्प बन्द कर देना होता है वरना खुला मुँह छोड़ने से स्प्रीट उड़ जाता है। ब्यूरेट—शीशे की

लम्बी नली है जिसका निम्न भाग पतला एवं चिन्ह युक्त होता है इस पर बने चिन्ह क्यूबिक सेण्टीमीटर के हैं। ब्यूरेट जहाँ से पतला होता है उस जगह एक पेंच रहता है जिसको घुमाने से अन्दर की चीज नीचे गिरती है और बन्द करने पर रुक जाती है। पिपेट—२० या २५ क्यूबिक सेण्टीमीटर नापने के लिए बनी काँच की नली है जिसका बीच का हिस्सा फैला और दोनों ओर नुकीला और चिन्ह युक्त होता है। इसका निम्न भाग तरल वस्तु में रख कर ऊपर से मुँह द्वारा उस तरल वस्तु को ऊपर खींचा जाता है लेकिन इस क्रिया के समय सावधानी से तरल पदार्थ को खींचना चाहिए। ज्यादा जोर से सुरकने पर तरल पदार्थ मुँह में चला जायेगा। अतः सावधान। टेस्ट ट्यूब—काँच की पतली नली है जिसके एक ओर खुला होता है। इसमें पेशाब अथवा अन्य तरल पदार्थ रखकर गर्म किया जाता है।

उक्त सामानों के अलावे तथा विभिन्न प्रकार की औषधियों के अलावे एक प्रकार के कागज की आवश्यकता पड़ती है जिसको लिटमस पेपर (Litmus paper) कहते हैं। लिटमस पेपर एक प्रकार का कागज है जो रासायनिक ढंग से लाल और पीले रंग का तैयार किया जाता है।

पेशाब में तलछट

पेशाब के उजले रंग के तलछट में फास्फेट और मवाद, भूरे रंग के तलछट में यूरेट्स और यूरिक एसिड, म्युक्वाएड में कफ और कैलसियम आक्जलेट तथा घोर लाल रंग में रक्त का अंश रहता है।

लिटमस पेपर, जो लाल और नीले रंग का होता है। पानी में डुबाने पर ज्यों का त्यों रहेगा लेकिन लाल रंग वाला लिटमस क्षार युक्त वस्तु में डालने से नीला और नीला लिटमस अम्लयुक्त वस्तु में डालने पर लाल हो जाता है। लाल रंगवाला लिटमस अम्लयुक्त वस्तु में डालने से पानी में डालने जैसा ज्यों का त्यों लाल ही बना रहता है और नीले रंग का लिटमस क्षारयुक्त वस्तु में डालने से ज्यों का त्यों बना रहता है।

अण्डलाल (Albumen) परीक्षा

अलब्यूमेन की परीक्षा का स्थान बहुत ही महत्वपूर्ण समझा जाता है। यद्यपि मूत्र परीक्षा पर भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों के मतानुकूल विभिन्न प्रकार की अनेकानेक प्रणालियाँ हैं लेकिन ज्यादातर पेशाब को गर्म कर परीक्षा करने में ज्यादा सहूलियत रहती है। उक्त प्रकार परीक्षा करने पर सुगमतापूर्वक पेशाब में सम्मिलित वस्तुओं की पहचान हो जाती है।

परीक्षण नली (Test Tube)—में पेशाब डालकर उसको आहिस्ते से स्प्रीटलैम्प पर इस प्रकार गर्म करना चाहिए जिससे ट्यूब के ऊपरी खाली भाग में गर्मी नहीं लगने पावे, क्योंकि ऐसा होने से ट्यूब टूट जाने का डर रहता है। पेशाब उबलने के पश्चात् उसमें गन्दगी आने पर पेशाब में फास्फेट अथवा अंडलाल या दोनों का रहना समझा जाता है।

गर्म पेशाब में नाइट्रिक एसिड (Acid Nitr) की कुछ बूँदें मिला देने पर अगर गन्दगी दूर हो जाय तो फास्फेट की मात्रा अधिक समझी जाती है। गन्दलापन की कमी और ज्यों की त्यों रहने पर एलब्यूमेन की अधिकता समझी जाती है। उक्त गन्दगी का साधारण रूप में रहने पर फास्फेट और एलब्यूमेन दोनों समझे जायें।

टेस्टट्यूब में नाइट्रिक एसिड डालने के समय ट्यूब को आँखों के सामने रखना चाहिए। टेस्टट्यूब में रक्खे पेशाब में जहाँ बूँद और पेशाब का मिलान होता है उस स्थान पर छल्ला जैसा दिखलाई पड़ता है। यह छल्ला नीला अथवा हरा रंग युक्त होने पर पित्त, सफेद रंग का होने पर अलब्यूमेन और भूरे रंग का छल्ला बनने पर पेशाब स्वच्छ समझा जाता है।

नाइट्रिक एसिड से भी निम्नलिखित वस्तुओं के सोल्यूशन द्वारा अच्छी तरह जाँच होती है :—

क्लोराइड आफ मर्करी—चार भाग। टार्टारिक एसिड—दो भाग, ग्लिसरीन-दस भाग और पानी सौ भाग—इस सम्मिश्रण को स्पिगलस सोल्यूशन कहते हैं।

पेशाब में चीनी

फेहलिङ् सोल्यूशन नं० १ और नं० २ द्वारा पेशाब के चीनी को जाँच सहल समझी जाती है।

फेहलिङ सोल्यूशन नं० १ +	}	हरा +
		मिलाकर गर्म कर
,,——नं० २ और +		पीला + +
पेशाब————		लाल + + +

तूतिया को गलाकर परीक्षा करना और भी आसान है यथा—थोड़ी-सी तूतिया एक टेस्ट-ट्यूब में रखकर उसमें तूतिया से दूना कपड़ा धोने वाला सोडा मिलाने के पश्चात् दो इञ्च पानी डालकर गर्म करने पर उक्त सोल्यूशन तैयार हो जाता है। यह सोल्यूशन पेशाब में डालने पर लाल तलछट नजर आने पर चीनी का अंश और **उजला तलछट** जमने पर चीनी रहित समझना चाहिए। निम्न प्रकार भी बहुत ही सरलता से पेशाब की जाँच हो सकती है।

बेनीडिक्ट्स (Benidicts) ५ C.C.,	}	हरा +
	—गर्म—	पीला + +
पेशाब (Urin)——१० बूंद		लाल + + +

निम्नलिखित रोगों में तलछट में अण्डलाल निकलता है, यथा—हैजा, चेचक, न्यूमोनियाँ, विसर्प और डिप्थिरिया आदि कुछ ऐसे भी रोग हैं जिनमें तलछट नहीं जमता लेकिन पेशाब में अण्डलाल निकलता है यथा—हृद्रोग, गठिया, मधुमेह, गर्भ की अन्तिमावस्था में तथा शीशा, पारा एवं संखिया आदि के जहर की क्रिया होने पर।

पेशाब में पीव, रक्त, पित्त, खाद्यसार, मूत्रक्षार, क्लोराइड, फासफेट्स, शुक्रकीट, तलछट, मूत्राम्ल और कैल्सियम अक्सेलैट आदि द्रव्य निकलते हैं।

उक्त रीति से मूत्र परीक्षा करने पर बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं। लेकिन इसकी उपयोगिता के महत्व को, परीक्षण व्यय विषरूप होकर विकृत कर देता है।

आजकल बहुत-सी ऐसी परीक्षाएँ लेबुल और पैकिङ्ग जैसा आकर्षित बन

ऊँचे महलों में स्थान पाकर विश्व को चकाचौंध में डाल, चकमा दे रही हैं। उक्त परीक्षाएँ द्रव्योपार्जन के लिए एक विशिष्ट व्यापार बन गयी हैं। यद्यपि इस तरह की परीक्षाओं से बहुत गुप्त रोगों का भण्डाफोड़ होता है लेकिन व्यापार व्यवस्था की गति बिल्कुल बेढंगी और शोचनीय है।

अदृश्य किरण (X-ray) एक्सरे

एक्सरे एक प्रकार की अदृश्य किरण स्वरूप है जो विद्युत् धारा के प्रभाव से वायु शून्य शीशा के बल्ब को पार करती हुई आलमोनियम के पर्दे को लाँघ कर **"चेतना प्रधान चित्रपट पर**—Sensitive Photographic plate" शरीर के किसी भा अंग को भेद कर अस्थि छाया चित्र तैयार करने में समर्थ होता है।

एक्सरे का आविष्कार जर्मनी निवासी **मिस्टर रौन्टन,** द्वारा सन् १८९५ ई० में हुआ। मि० रौन्टन किसी अन्य खोज में व्यस्त थे तब तक इनके सामने इस यंत्र की प्रक्रिया झलक पड़ी। अभी आज तक प्लेट पर पड़ने वाली छाया का कारण तथा उन परमाणुओं की जाँच विशेष रूप से जारी है जिनके द्वारा इस अदृश्य किरण का प्रादुर्भाव हुआ।

इसके द्वारा तैयार चित्रों में शरीर के सभी अवयव छिप जाते हैं, केवल हड्डी का चित्र दृष्टिगोचर होता है। वस्त्र धारण करके भी फोटो तैयार कराने पर वस्त्र आदि का नामो-निशान तक नहीं रहता। मगर हाँ, वस्त्र में लगे बटन एवं जूतों में लगी काँटियों के चित्र साफ दिखलाई पड़ते हैं।

रोग परीक्षण कार्य में इस यंत्र की उपयोगिता—यक्ष्माग्रसित मनुष्यों के फुफ्फुस, टूटी हुई अस्थियों के संस्थान और सैनिकों के शरीर में घुसे हुए बुलेटों, गोली के छर्रे आदि के चित्र तैयार कर चिकित्सा का उचित प्रबन्ध किया जाता है।

हड्डी के सन्निकट पहुँचने वाले जख्मों की चिकित्सा के लिए इसका विशेष रूप से उपयोग हो रहा है। यद्यपि हमारे प्राचीन शल्यशालाक्य विज्ञानाचार्यों ने

श्रेष्ठतम विद्या प्राप्त की थी। लेकिन आज हम लोग उस कला से वंचित होकर अकर्मण्य से हो गए हैं।

एलोपैथी चिकित्सा पद्धति के दो प्रमुख आधार हैं, स्वच्छता एवं शल्य-चिकित्सा। यों तो राजसत्ता प्राप्त होने के कारण आज जितने भी योग निकलते जाते हैं सभी एलोपैथी के ही माने जाते हैं, लेकिन वास्तव में अगर एलोपैथिक में कोई चीज है तो आयुर्वेद से खोयी हुई शल्य चिकित्सा। बात ऐसी नहीं कि इसका वर्णन आयुर्वेद में नहीं हो, महर्षि सुश्रुत का ग्रंथ इसके लिए बहुत ही सुन्दर प्रमाण है। तक्षशिला, विक्रमशिला और नालन्दा में पुस्तक हवन यज्ञ होने के पश्चात् भी अभी बहुत-सी पुस्तकें देखने में आती हैं जिनमें शस्त्र-चिकित्सा का सुन्दर वर्णन देखने में आता है।

इतिहास साक्षी है, इस कला के लिए भारत के चिकित्सक Surgeon केवल देश में ही नहीं बल्कि विदेशों में जाकर बहुत कठिन-कठिन कार्य कर दिखलाए हैं।

बौद्ध काल के विशेष विकासयुग, सम्राट अशोक के जमाने में अहिंसा ने सीमोलंघन कर शवच्छेदन क्रिया तक पर परदा डालने का प्रयास किया। पश्चात् यवन काल के समय शल्यशालाक्य चिकित्सा अपढ़ जर्राहों के घर नेत्रहीन व्यक्ति जैसे कोने में छिप गयी। सुश्रुत में इस चिकित्सा के साथ-साथ सींगी, तुम्बी तथा जोंक आदि के जो वर्णन मिलते हैं, देखने ही योग्य हैं।

—:❀:—

शल्य चिकित्सा में जोंक कीट का स्थान

आयुर्वेद ग्रंथकारों द्वारा शल्य चिकित्सा पर केवल प्रकाश ही नहीं डाला गया है बल्कि इस कार्य में काम आने वाले औजारों के आकार, प्रकार, लम्बाई चौड़ाई तथा धातु वगैरह के विस्तृत वर्णन भी देखने में आते हैं।

शस्त्र दोष पर सुश्रुताचार्य ने लिखा है :—

तत्र वक्रं कुण्ठं खण्डं खरधार मतिस्थूल मत्यल्प मतिदीर्घ मतिह्रस्व मत्यष्टौ शस्त्र दोषाः—अर्थात्—बांका, भोथरा, खरधार, धारयुक्त, ज्यादा मोटा, ज्यादा

छोटा, ज्यादा लम्बा विशेष क्षीण ये आठ दोष शस्त्रों में पाये जाते हैं। इसके अपवाद स्वरूप आगे लिखते हैं :—

अतो विपरीत गुणमाददीता तान्यत्र कर पत्रातद्धि खरधारमस्थिच्छेदनम् अर्थात्:-करपत्र शस्त्र की धार खरधार और पैनी होनी चाहिए क्योंकि इसके द्वारा हड्डी काटी जाती है।

आयुर्वेद में शस्त्र के अलावे अनुशस्त्र का भी वर्णन मिलता है, यथा:- बाँस, स्फटिक, काच, कुरुविन्द, जोंक, अग्नि, खार, नख, सिवेड़ी, सेफालिस, शाकपत्र, करील, बाल और अंगुली। अस्त्र में नहीं बल्कि अनुशस्त्र में ही जोंक का नाम आया है।

जोंक बारह प्रकार की होती हैं, यथा—पिङ्गला, कपिला, मुषिका, पुण्डरीक मुखी, सावरिका, शङ्कुमुखी, कृष्णा, अलगर्दा, कर्बरा, समुद्रिका, गोचन्दना और इन्द्रायुधा। इनमें प्रथम से ६ तक निर्विषा और उसके बाद ७ से ११ तक सविषा अर्थात् विषैली होती हैं।

विषैली जोंकों के काटने से दंश-स्थान में खुजली और जलन पैदा हो जाती है, साथ ही मूर्च्छा, कम्पन, वमन, दाह तथा ज्वरादि उपक्रम भी पैदा हो जाते हैं। विषैली जोंकों के काटने पर दवा खिलाने के साथ-साथ नस्य एवं लेप का विशेष महत्त्व है। इन्द्रधनुष के समान चित्र-विचित्र रेखाओं से युक्त जोंक को इन्द्रायुध कहते हैं। यह भयानक विषयुक्त जोंक हैं, इसकी चिकित्सा बिलकुल कठिन है। जहरीली मछली और सर्प आदि कीटों के मलमूत्र से पैदा होने वाली, सड़े तथा दुर्गन्धयुक्त जल में निवास करने वाली जोंक प्रायः विषैली हुआ करती है।

निर्विषा जोंक—अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, दिल्ली, मथुरा के आस-पास नर्मदा नदी और गम्भीर जल एवं कमलों से सुसज्जित सरोवरों में पायी जाती हैं। चिकित्सा जगत में जोंक कीट का प्रयोग दूषित रक्त निकालने के लिए होता है। लेकिन बाल, वृद्ध, स्त्री, डरपोंक तथा अत्यन्त कोमल प्रकृति के मनुष्यों के लिए जोंक का प्रयोग सर्वथा वर्जित है।

प्रयोग प्रणाली—जिस स्थान का रक्त निकलवाना हो वहाँ पर एक बूँद दूध अथवा रक्त लगाकर जोंक को पकड़ा देना चाहिये अगर दूध और रक्त पर जोंक नहीं पकड़े तो किसी धारदार शस्त्र से हलका खँरोच देकर पकड़ाना चाहिए। जोंक पकड़ लेने के पश्चात् उसको भींगे हुए महीन वस्त्र से ढक देना चाहिये और वस्त्र पर जल छिड़कते रहना चाहिए। दंश-स्थान पर विशेष खुजलाहट अथवा पीड़ा होने पर जोंक हटा लेना जरूरी है। अगर खींचने से जोंक नहीं हटे तो उसके मुँह पर जरा-सा नमक का ,घोल लगाकर छुड़ा लेना आसान होता है। जोंक छूटने के पश्चात् दंश-स्थान पर मधु चुपड़ देना नितान्त आवश्यक है। रक्त निकालने के बारे में लिखा है कि—वात दोषयुक्त रक्त को सींगी, पित्त दोषयुक्त रक्त को जोंक और कफ दोषयुक्त रक्त को तुम्बी द्वारा निकलवाना चाहिए।

वर्तमान में सींगी और तुम्बी का प्रयोग नाई तथा नटों द्वारा और जोंक का प्रयोग मेस्तर आदि इतर जातियों द्वारा काफी मात्रा में हुआ करता है। खास कर देहातों में इन अनुशस्त्रों के विशेष प्रयोग होते हैं। शस्त्र चिकित्सा अष्टांग चिकित्सा का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अङ्ग है। लेकिन बृटिश विकास युग में जमीन आसमान एक करने पर भी आधुनिक शल्य चिकित्सा की उपयोगिता एक संकुचित दायरे तक ही सीमित रह गयी।

जोंक पालने वाले बहुत सावधानी से भींगे वस्त्र के सहारे जोंक को पकड़ कर घड़े अथवा मिट्टी के नाद में रखते हैं। इन कीटों को जीवित रखने के लिए प्रति तीन या चार दिनों के पश्चात् पानी बदल देना पड़ता है। इनके भोजन के लिए सूखे मांस, सेवार तथा जल में उगने वाली विभिन्न प्रकार की घास दी जाती है। दंश-स्थान से अलग होते ही जोंक के पेट से संचित रक्त निकाल, उसको चावल के आटा में लपेटकर जल में छोड़ा जाता है।

यद्यपि आज के सींगी, तुम्बी और जोंक लगाने वाले बिल्कुल अपढ़ ही हैं, लेकिन हैं कार्यकुशल और सिद्धहस्त। अगर इन प्रयोगों में स्वच्छता का

समावेश तथा इसके लिए उत्तम एवं विशुद्ध औजारों के उपयोग हों तो अवश्य ये प्रयोग सरल, सुलभ एवं खतरा रहित तथा उपयोगी सिद्ध होंगे।

जिस प्रकार डाकखाना तक को दवाखाना का रूप देकर कुनैन बेचने तक के प्रयास पर भी लगभग ६० प्रतिशत मलेरिया पीड़ितों की चिकित्सा **चिरैता, नीम तथा करंज** आदि के हो आँगन में खेलती रही उसी प्रकार शल्यचिकित्सा के अत्यन्त व्यापक बनाने पर भी देहात के लिए सींगी, तुम्बी, जोंक एवं जर्राहों की आवश्यकता बनी ही रह गयी :

अध्याय--४

भोजन, जल और हवा

आहार

जीवन का महान साधन भोजन ही है। भोजन शब्द से अन्न, दूध, वनस्पति एवं मांस इत्यादि का बोध होता है। अतः साधारणतः भात, रोटी, दाल दूध, दही, घी, तैल, तरकारी, फल, मांस, मछली तथा अण्डा इत्यादि पदार्थों को भोजन के लिए उत्तम समझा जाता है।

संस्कृति, संस्कार एवं अपनी-अपनी रुचि के मुताबिक संसार में भोजन की विभिन्न व्यवस्थाएँ देखने और सुनने में आती हैं लेकिन साधारणतः भोजन की दो श्रेणियाँ समझी जाती हैं, शाकाहारी वर्ग और मांसाहारी वर्ग। शाकाहारी वर्ग के लिए तो केवल शाक है हा लेकिन मांसाहारी वर्ग के लिए शाक की भी आवश्यकता पड़ती है। हाँ, संसार में कुछ ऐसे भी आदमी हैं जो केवल मांस खाकर भी तृप्त रहते हुए सन्तोषपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं।

अन्न, "कलियुग में अन्नमय प्राण" का वर्णन मिलता है। अन्न चार प्रकार के होते हैं **शालिधान्य, शुकधान्य और शमीधान्य**। शालिधान्य में साठी चावल, लाल चावल, शुकधान्य में गेहूँ, जौ, कुधान्य में मूंग, अरहर और शमीधान्य में मसूर को उत्तम कहा गया है।

साठी चावल के कई एक भेद हैं। यह रस और पाक में मधुर और वायु तथा पित्त को शमन करने वाला, बल, वीर्य और कफवर्धक तथा त्रिदोषनाशक है।

गेहूँ और जौ—गेहूँ—शीतल, मधुर, भारी, पित्त और वादी का नाश करने वाला, बल, वीर्य और रुचिवर्धक; कफकर्ता और दस्त लाने वाला है।

जौ ठंढा, कसैला, मधुर, वादी और दस्त के बढ़ाने वाला, रस और रक्त प्रसन्न कारक, रूखा और कटुपाकी है। काले रंग के यव को अतियव कहते हैं। इसका गुण कुछ न्यून समझा जाता है।

मूंग और अरहर—मूंग—दृष्टि को ठीक रखती है। हरी मूंग अच्छी समझी जाती है। अरहर—कफ और पित्त का नाश करने वाला लेकिन कुछ अंशों में वायु को बढ़ाने वाली है। मसूर—पाक में मधुर और मल को रोकने वाली है।

दूध

भोजन में दूध का स्थान सर्वश्रेष्ठ है और दूध में माता के दूध का स्थान। महाप्रभु की महिमा भी महान है। मानव मात्र के लिए ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र के भोजन का क्या ही सुन्दर प्रबंध है ? जन्म लेते ही मनुष्य को माता के दुग्धामृत को पान करने का सौभाग्य साधारण बात नहीं है।

यह उस समय की अवस्था है जब मानव शरीर बिल्कुल एक हाथ की लम्बाई से भी कम घेरे में सीमित रहता है। उस समय न तो मुँह में दाँत होते हैं और न उठने-बैठने की शक्ति हो। लेकिन भगवान ऐसे दयालु हैं कि उस हालत में भोजन प्रदान करते हैं। जिसका वर्णन "देखत बने बरनि नहिं जाई" जैसा है। दुर्भाग्यवश ऐसे दयालु एवं निराश्रितों की आशा के आगार को हम भूल जाते हैं

दूध-शीतल, मीठा मधुर, दस्तावर, भारी और अनेक रोगों का नाश करने वाला अमृत के समान है, यही कारण है कि यह प्राणी मात्र के लिए अनुकूल समझा जाता है। बहुत-सी ऐसी औषधियाँ हैं जो—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधी, घोड़ी, ऊँटनी तथा हाथिनी इत्यादि के दूध के साथ सेवन की जाती हैं। कुछ ऐसी औषधियाँ भी हैं जिनके लिए पथ्य एवं पान अर्थात् खाने-पीने के लिए केवल दूध का ही उपयोग होता है।

इसको हिन्दी और मराठी में दूध, संस्कृत में दुग्ध, बंगभाषा और गुजराती

में दूध, कर्नाटकी में हालु, तैलङ्गी में पालु, फारसी में शीरे, अरबी में अवनुल, अंग्रेजी में मिल्क और लैटिन भाषा में लैक्टस (Lactus) कहते हैं।

वैद्यक शास्त्र में धारोष्ण दूध (ताजा दूध) का बहुत बड़ा महत्व प्रदान किया गया है। लेकिन धारोष्ण दूध पान वही कर सकता है जो अपने हाथ से दूध निकाले अथवा अपने सामने दूध निकलवाये। अकसर देखने में आता है, कुछ लोग अशुद्ध पात्र तथा गंदे हाथों द्वारा प्राप्त दूध में भी धारोष्ण दूध की प्रखरता की प्रतीक्षा में अपनी धार्यशीलता का होम किया करते हैं। लेकिन यह महान भ्रम है।

शुद्ध तथा धुले पात्र में हाथ धोकर दूध निकालना चाहिए। अगर गाय के थन में मिट्टी चाहे गोबर लगा हो तो पहले साफ कर लेना चाहिए। ताजा दूध को भी छान कर पीना अच्छा होता है क्योंकि गोदोहन के समय बाल गिर कर पात्र में पड़ जाया करता है।

पहलवान लोग भैंस के दूध को ज्यादा पसन्द करते हैं क्योंकि इसमें अधिक पौष्टिक पदार्थ पाया जाता है। लेकिन गाय का दूध भैंस के दूध से अधिक गुण-दायक है खास कर स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के ख्याल से तो बहुत ही उत्तम है। दूध को ज्यादा गर्म करने से वह गरिष्ठ बन जाता है। अतः एक ही बार उफान आने पर थोड़ो-सी चोनो चाहे मिश्री देकर दूध खाना चाहिए। गर्म किया हुआ दूध ठंडा हो जाय तो उस हालत में उसको खाना अच्छा नहीं है। भात चाहे रोटी के साथ भी दूध का व्यवहार किया जाता है लेकिन कुछ लोगों के मतानुकूल भोजनोपरान्त औंटा हुआ दूध का सेवन उत्तम समझा जाता है। दूध से अनेक प्रकार की भोजन सामग्रियाँ तैयार होती हैं। दही, घी, राबड़ी तथा मलाई और छांछ इत्यादि दूध से हो बनते हैं लेकिन इनके भिन्न-भिन्न गुण होते हैं।

गाय का दूध रसायन, भारी, स्निग्ध, शीतला रस और पान में मधुर, वात, पित्तनाशक और प्राणपोषक है। भैंस का दूध जठराग्नि को मन्द करने वाला, अत्यंत ठंढा और आलस्य कारक तथा चिकना और भारी होता है। बकरी का दूध गो दुग्ध के समान ही होता है विशेष कर हलका, संग्राही और संदीपन तथा

श्वास, कास और उदर रोगों को नष्ट करने में समर्थ है। भेंड़ का दूध भारी, चिकना और मधुर, कफ, एवं पित्तनाशक तथा वायु के रोगों में लाभ पहुंचाने वाला है। गधी और थोड़ी का दूध-गर्म और बलकारक, वायु विकारनाशक, खट्टा, मधुर और हलका है। ऊँटनी का दूध-गरम, रुखा, नमकीन, हलका एवं रस में मीठा है। इसमें शोथ, कोढ़, बवासीर, कृमि, गुल्म तथा उदर रोग नाश करने की शक्ति होती है। हथिनी का दूध मधुर, भारी, बलकारक कसैला और नेत्रों को लाभ पहुँचाने वाला है। बासी दूध नुकसान पहुंचाने वाला और फटा हुआ दूध रोगोत्पादक है।

दही

दही—गर्म, स्निग्ध और कसैला तथा अरुचि, अतिसार पीन्नस, विषमज्वर एवं मूत्र रोग वगैरह को नाश करने वाला होता है। दही के चार भेद हैं-मीठा, खट्टा, विशेष खट्टा और मन्द। मीठा दही से कफ और मेद की वृद्धि होती है, खट्टा दही-कफ और पित्तकारक, विशेष खट्टा दही-रक्त बिगाड़ने वाला और मन्द जात का दही त्रिदोष और दाह कर्ता तथा मल-मूल को निकालने वाला होता है।

इसको संस्कृत में दधि, हिंदी में दही, बंग भाषा में दइ, मराठी में दहीं, गुजरातो में दहि, कर्नाटकी में मोसर, तैलङ्गी में हृगु, फारसी में दोग, अरबी में जुगरात और अंग्रेजी में कर्डल्ड मिल्क (Curd) कहते हैं।

गाय का दही—शुद्ध और निर्मल तथा बल और रुचि को बढ़ाने वाला और वायु को शमन करने वाला है। भैंस का दही—वायु-पित्त और बलवर्धक, चिकना और पाक में मीठा है। बकरी का दही—पित्त और कफ नाशक तथा श्वास, कास, क्षय एवं बवासीर को बढ़ाने वाला और अग्निवर्धक है। भेड़ का दही-वात, कफ और बवासीर को बढ़ाने वाला, रस और पाक में मधुर लेकिन दोष करने वाला है। घोड़ी और गधी का दही—गरम, कसैला, रूखा, कफ और मूत्र रोग का नाश करने वाला है। ऊँटनी का दही—खारा, कड़वा और भारी

तथा कृमि, कोढ़, बवासीर और उदर रोगों को नाश करने वाला होता है। हथिनी का दही—कसैला, मलवर्धक, हलका, कफ नाशक, उष्णवीर्य और शक्ति को कम करने वाला है। गाय का दही-सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। हेमन्त, शिशिर और बसन्त में दही सेवन करना उत्तम समझा जाता है और शरद, बसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में अनुचित।

मट्ठा—पाँच प्रकार का होता है—घोल—मलाई सहित बिना जल डाले मथ कर निकाला जाता है। मट्ठा—मलाई निकालकर बिना जल डाले मथा जाता है। तक्र—दही से चौथाई जल डालकर मथा जाता है। उदश्वित—जल और आधा दही डालकर मथा जाता है और छाछ—जिस दही में बिना अन्दाज जल मिला कर मथा जाता।

मट्ठा कहने से उक्त पाँचों प्रकार के पदार्थों का बोध होता है। यह मधुर, कसैला, उष्णवीर्य, रूक्ष, हलका, खट्टा और अग्नि को सन्दीप्त करने वाला है। इससे—ग्रहणी, बवासीर, शोथ, तिल्ली, कँवल, गुल्म, तृष्णा, वमन, शूल, विषम ज्वर, मेद रोग (मुटाई), कफ एवं वात रोगों का नाश हो जाता है। यह हृदय को हितकारी, पुष्ट और मूत्रदोष की शान्ति करने वाला है। वात व्याधि में खट्टा-मट्ठा नमक डाल सेवन करना चाहिए, पित्त व्याधि में मीठा मट्ठा मिश्री के साथ और कफ व्याधि में सोंठ, मिर्च, पीपल और सेंधा नमक के संयोग से सेवन करना चाहिए।

मक्खन—दूध और दही दोनों पदार्थों से मथ कर निकला जाता है। यह कोमल, शीतल, मीठा, साधारण खट्टा, पुष्टकर तथा श्वास, कास, क्षय, बवासीर, व्रण इत्यादि को नाश करने वाला हृदय को हितकारी है। बालकों के लिए "**मक्खन**" परम उपयोगी पदार्थ है। गाय के दूध का मक्खन सर्वोत्तम होता है।

घी

इसको संस्कृत और बंग भाषा में घृत, हिन्दी और गुजराती में घी, मराठी

में तूप, तैलङ्गी में नाई, फारसी में रोधने जर्द, अरबी में समन, अंग्रेजी में क्लेरीफाइड बटर (Clerified butter) और लैटीन में ब्युटीरम डेप्युरेटम (Butyrum depuratum) कहते हैं।

यह शीतल, मृदुल, सुस्वादु, चिकना, शीतवीर्य, विषनाशक और कान्ति, बुद्धि, स्वर, सुकुमारता, सौंदर्य, तेज, ओज़, बल तथा कफवर्धक है। इससे वायु और पित्त का नाश हो जाता है। मस्तिष्क को बल देने में यह एक ईश्वरी देन है। गोघृत को सर्वोत्तम समझा जाता है। यकृत दोष होने पर घृत का सेवन निषेध है।

तेल

यह खाने, लगाने, सूंघने और आंख कान तथा कान में छोड़ने एवं वस्ति-कर्म के कार्य में उपयोग होनेवाला बहुत ही उत्तम पदार्थ है। तेल वर्ग के अन्न तिल, सरसों तथा तीसी इत्यादि से फल एवं फलों तथा फूलों के बीज और विभिन्न प्रकार के जानवरों की चर्बी से तेल निकाला जाता है। तिल शब्द से तेल का आविर्भाव हुआ है और सभी प्रकार के तेलों में तिल तेल का स्थान प्रमुख है।

इसको संस्कृत में तैल, गुजराती, मराठी, हिन्दी और बंग भाषा में तेल, कर्णाटिकी में तैल, तैलंगी में नुने, फारसी में रोगन, अरबी में दोहनुसिमसिग, अँग्रेजी में आयल और लैटिन में ओलियम (Oleum) कहते हैं। प्रायः सभी प्रकार के तैल वातनाशक समझे जाते हैं। घी से तेल आठ गुणा अधिक गुणदायक होता है लेकिन खाने से नहीं बल्कि लगाने (मालिश) से।

तेल—गर्म, मधुर, तीखा, पतला, दस्तावर, भारी, विशद और पुष्ट करनेवाला है। इससे कोमलता, मांस और बुद्धि की स्थिरता होती है तथा चोट, मोच और घाव अच्छे होते हैं। यह कफनाशक तथा योनि, सिर, कान एवं शरीर मात्र के दर्द को हरने में समर्थ है। इसके बहुत से गुण हैं और विभिन्न प्रकार के तेल भिन्न-भिन्न गुण एवं दोष युक्त समझे जाते हैं।

मधु

मधु आठ प्रकार का होता है—पौत्तिक, भ्रामर, क्षौद्र, माक्षिक, आर्घ्य, छात्र, औद्दालक और दाल। पौत्तिक मधु उष्ण वीर्य, वायुवर्धक और मधुर होता है। भ्रामर मधु-स्वादिष्ट और भारी होता है। क्षौद्र मधु अत्यन्त शीतल, हलका और लेखन है। माक्षिक मधु-सर्वश्रेष्ठ मधु समझा जाता है। अर्घ्य मधु कफ, पित्त और आमवात को नाश करने में समर्थ है। छात्र मधु-श्वेत-कोढ़ रक्त, पित्त और कृमि का नाश करता है। औद्दालक मधु-कोढ़ और विष नाशक है, और दाल मधु-प्रमेह एवं वमन को मिटाता है। इसको संस्कृत, हिन्दी और बंग भाषा में मधु, गुजराती और मराठी में मधु, कर्नाटकी में जेनतुप्य, तैलंगी में तेनी, फारसी में शहद, अरबी में असलुल् नहल्, अंग्रेजी में हनी (Honey) और लैटीन में मेल (Mel) कहते हैं। उष्णकाल में उष्णद्रव्य के साथ तथा उष्णता से पीड़ित रोगी के लिए मधु, विष के समान है। मधु का गुण-त्रिदोष, कोढ़ आदि नाशक है।

•

ईख

इसको संस्कृत में इक्षु, हिन्दी में ईख, बंगभाषा में कुशिर, मराठी में ऊँस, गुजराती में शेरडी, कर्नाटकी में कबु, तैलंगी में चिकु, फारसी में नेशकर, अरबी में शक्कर करबुस, अंग्रेजी में सुगर केन (Sugar Cane) और लैटीन में सेक्केरम आफिसिनेरम कहते हैं।

ईख रक्त पित्त नाशक, बल, वीर्य और कफ बर्धक, पचने में मधुर शीतल और मूत्र कारक है। इसके रस से छोआ, राब, सीरा, गुड़, खाँड़, चीनी तथा मिश्री आदि अनेक पदार्थ तैयार होते हैं। उक्त पदार्थों में सबसे अधिक उपयोग गुड़ और चीनी का होता है। राजवल्लभ में लिखा है कि गुड़ भारी, स्निग्ध, वीर्यवर्धक, मूत्रशोधक और कफ, भेद एवं बलकारक है। चीनी से दाह, मूर्छा तथा रक्त पित्त की शान्ति होती है। एक वर्ष बाद का मधु तथा गुड़ भी अच्छा

समझा जाता है, भावप्रकाश में लिखा है—मधु, खाँड़ और गुड़ एक वर्ष के बाद पुराने गिने जाते हैं।

वनस्पति

मनुष्य के लिए वनस्पति प्राकृत भोजन समझा जाता है। इससे फल तथा शाक का बोध होता है। अखरोट, बादाम, पिस्ता, चिरौंजी, किसमिस, चिलगोजा, मूंगफली, खजूर, छुहाड़ा और गरी इत्यादि को मेवा कहते हैं। केला, सेव, अनार, अंगूर तथा नारंगी इत्यादि फल विशेष उपयोगी समझे जाते हैं; भोजन के ख्याल से आम और औषधि के ख्याल से छोटे फलों में आँवला और हर्रें का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। छोटे और बड़े फल, अनेक प्रकार के होते हैं।

साधारणतः फल कुछ खट्टा, वायुनाशक, बलवर्धक, पचने में भारी, उष्ण वीर्य, पित्तोत्पन्न कर्ता और जीवनी शक्ति को सहायता पहुँचानेवाला समझा जाता है। फल के अलग-अलग गुण और दोष हैं लेकिन उक्त परिभाषा फल विशेष के लिए लिखा गया है। हरएक फल मनुष्य की प्रकृति और अपने उत्पन्न स्थान के अनुकूल भी उपयुक्त और अनुपयुक्त हुआ करते हैं। कुछ लोग दूध को भी वनस्पति में शामिल करते हैं लेकिन यह ठीक नहीं है।

कुछ प्रमुख फलों के गुण और दोषों का संक्षिप्त दिग्दर्शन

पका आम वायुनाशक, कुछ कसैला, मीठा, वीर्यवर्धक एवं साधारण पित्तकर्ता है। अनार, यह दो प्रकार का होता है, खट्टा और मीठा। खट्टा अनार बादी और कफ को दूर करता है। मीठा अनार वायु, पित्त और कफ के दोषों को मिटाता है। आँवला, चरपरा, कड़वा, खट्टा, साधारण मीठा, दस्तावर, वीर्यवर्धक और आँखों की ज्योति बढ़ाने वाला है। हर्रें सात प्रकार की होती है। यह श्वाँस, कास, खाँसी, सूजन, कृमि, कोढ़ आदि को दूर करने में समर्थ करने वाली, रूखी, उष्णवीर्य तथा नेत्र की ज्योति बढ़ाने वाली है। बहेरा (इसकी गिरी काम में आती है) से कफ और वायु का नाश होता है तथा इससे साधारण नशा भी होता है। आँवला, हर्रें और बहेरा को त्रिफला कहते

हैं। त्रिफला से बहुत-से रोगों का नाश होता है। सेव कसैला, मीठा और संग्राही होता है। खजूररस पाक में मधुर तथा चोट, क्षय और पित्त दोष को शमन करने वाला है। केला कई एक प्रकार का होता है। पका केला वीर्यवर्धक कान्तिदायक होता है। लेकिन पचने में कुछ भारी होता है। अमरूद रक्त और दस्त रोकने वाला लेकिन कफकर्ता है। अंगूर शीतल, सुस्वादु और वीर्यवर्धक है। सूखे अंगूर को मुनक्का कहते हैं। जामुन कसैली, मधुर, शीतल और खाँसी को हरने वाली है। शरीफा मधुर और शीतल, लेकिन वायुकारक है। सुपारी—कच्ची सुपारी भारी, मधुर और अग्निनाशक है लेकिन सूखी सुपारी मधुर, कसैली और अग्निवर्धक है। पकी सुपारी रूखी, बादी और दस्तावर है। इसी प्रकार कच्चे-पक्के और सूखे फल प्रायः भिन्न-भिन्न गुण एवं दोषों से युक्त हुआ करते हैं।

प्रायः सभी प्रकार के फल पक जाने पर ही अच्छे होते हैं लेकिन कच्चे बेल की गुद्दी विशेष लाभदायक होती है।

सड़ा, गला, पशु एवं पक्षियों का जूठा और कुसमय में तैयार फलों को नहीं खाना चाहिए—

शाक वर्ग—पत्ता, फूल, फल, नाल, कंद और संस्वेदज ये ६ प्रकार के शाक होते हैं! काठ, और वंस इत्यादि से उत्पन्न शाक को संस्वेदज कहते हैं, जैसे जमीन में गड़ी हुई सूखी लकड़ी से उत्पन्न साँप का छत्ता।

———

मांस

मांस ६ प्रकार का होता है—जलेय, आनूप, ग्राम्य, क्रव्यभुज, एकशफ और जाङ्गल्य। जल में रहने वाले जीवों का मांस जलेय, जल के किनारे रहने वालों का मांस अनूप, गाँवों में रहने वाले जीवों का मांस ग्राम्य, मांस खाने वाले जीवों का मांस क्रव्यभुज, जुटे हुए खुर वाले जीवों का मांस एकशफ और जंगली जीवों का जाँङ्गल्य मांस कहलाता है।

चौपायों में स्त्री जाति; जैसे घोड़ी वगैरह का मांस उत्तम समझा जाता है। पक्षियों में पुरुष जाति का मांस प्रधान, बड़े जानवरों जैसे भैंसा, गेंडा इत्यादि जीवों का मांस और अल्प शरीर जैसे—मुर्गा, तीतर इत्यादिमें बड़े शरीर वालों का मांस उत्तम समझा जाता है। सम्पूर्ण प्राणियों के शरीर का मध्य भाग भारी होता है। पुरुष जाति के मध्यभाग का ऊपरी भाग और स्त्री जाति का निम्न भाग भारी होता है।

फल खाने वाले पक्षियों का मांस रूखा, मांस खाने वाले पक्षी, जैसे गिद्ध आदि का मांस अत्यन्त वृंहण, मछली खाने वाले बगले आदि का मांस पित्त करने वाला, अन्न खाने वाले पक्षी का मांस वायुनाशक, शूअर का मांस भारी; कसैला, वीर्यवर्धक और पित्तशान्तिकारक, बकरा का मांस साधारण चिकना और साधारण पित्तकर्त्ता और पीनस रोग करने वाला, खरगोश का मांस मधुर, कफपित्तनाशक और वायुकर्ता, मृग मांस भारी, मधुर पुष्टिकारक और नेत्रों को लाभ पहुँचाने वाले, गोह का मांस कसैला, कड़वा और वात पित्त का नाश करने वाला, साँप का मांस—साधारण साँप का मांस बादी में हितकर और अजगर साँप का मांस बवासीर इत्यादि में फायदा पहुँचाने वाला होता है।

मछली दो प्रकार की होती हैं—नादेय (नदी में उत्पन्न होने वाली) और सामुद्रिक (जो समुद्र में उत्पन्न होती हैं)। नदी की मछली भारी, मधुर, चिकनी तथा उष्ण और पुष्टिकारक, रक्तपित्त करनेवाली और वायुनाशक होती हैं। नदी में रहनेवाली मछलियों में रोहू, पोटला, पाठीन, राजीव, बम्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य, बांगूर, मुरल तथा सहस्रदंष्ट्र आदि जाति की मछलियाँ प्रधान समझी जाती हैं। उक्त मछलियों में रोहू मछली उत्तम समझी जाती है।

समुद्र में रहने वाली मछली—भारी, चिकनी और प्रबल पित्तकारक होती है। तालाब में रहने वाली मछली चिकनी, सुस्वादु बलकर्ता होती है। नदी में रहने वाली मछली सामुद्रिक मछलियों से अच्छी समझी जाती हैं। कछुआ और केंकड़ा का मांस भी साधारणतः अच्छा समझा जाता है।

सूखा और सड़ा हुआ मांस, वृद्ध और निहायत बच्चा का मांस, विषयुक्त माँस, सर्पदंश तथा कुत्ता इत्यादि के काटे हुए जीवों का मांस, मरे हुए जीवों का मांस तथा रोगी जीवों का माँस त्रिदोष कर्ता समझा जाता है। सूखा मांस भारी तथा जुकाम और अरुचि पैदा करनेवाला है। उक्त अन्य दूषित मांस मृत्यु-कारक हैं।

मांस का जूस :—रोगों के लिए मांस का जूस ही उत्तम समझा जाता है। मांस के छोटे टुकड़ों को थोड़ी देर तक जल में भीगों कर पश्चात् जल सहित धीमी आँच पर रख कर इस प्रकार पकाना चाहिए कि उसमें उबाल न आ जाय। धीमी आँच पर जूस तैयार करने से माँस का पोषक द्रव्य नष्ट नहीं होने पाता है। जूस, आरोग्य मनुष्य के लिए भी उत्तम वस्तु है। इसके साथ गर्म मसाला मिला देने पर जायकेदार हो जाता है।

मांस की पाचन क्रिया बहुत विचित्र है। यह आमाशय में जाकर उचित रूप से पकता है। मांस सूत्र पहले फूलकर बाद में गलत हैं। अतः इसका अन्तिम पाक **अग्न्याशय रस** (Pancreatic Juice) द्वारा पक्वाशय में होता है। मछली के मांस में बहुत कम प्रोटीन मिलती है। लेकिन मछली की वस एवं प्रोटीन का शोषण और पाचन मांस की अपेक्षा विशेष पूर्ण होता है। मछली को दिमागी ताकत पैदा करने में श्रेष्ठ समझा जाता है। लेकिन वास्तव में इसमें इस प्रकार की क्षमता केवल नाममात्र एवं विश्वास कर लेने तक के लिए सीमित है।

मांस तथा मछली के विशेष सेवन से भी विभिन्न प्रकार के रोग पैदा होते हैं। मांस एवं रक्त के विचूर्ण व्यवसाय अंग्रेजों के लिए विशेष लाभकर और भारतवासियों के लिए खर्चीला और स्वास्थ्य विकृतकारी था। जिन रोगों की चिकित्सा साधारण जड़ी-बूटियों द्वारा सुन्दर ढंग एवं सस्ती लागत पर हो सकती है उसके लिए भी कीमती रक्तविचूर्ण एवं मांस सत्व आदि से करने की व्यवस्था की गयी है। अपने जीवन के अन्तिमकाल में भी बापू ने कहा था,

गोवध पर हिन्दू क्रोधित होते हैं लेकिन गोमांस चूर्ण के डिब्बा से नहीं बल्कि गोमांस चूर्ण से भी सम्बन्ध रखने में नहीं हिचकते।

आहार के अनुरूप ही मानव प्रवृत्ति हुआ करती है। अतः सर्वदा सादा आहार ही करना चाहिए। अमेरिका निवासी श्री एडोशन ने लिखा है कि मन एव शरीर पर विजय प्राप्त करने के लिए, जिह्वा पर विजय प्राप्त करना जरूरी है। सात्विक भोजन से शान्ति, राजसी भोजन से आराम एवं श्रृङ्गार तथा तामसी भोजन से क्रोध एवं वीभत्सा की अभिवृद्धि होती है।

आहार के विषय में श्री मनु महाराज कहते हैं:

आनारोग्यं अनायुष्यं अस्वर्ग्यं चाऽतिभोजनं।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत॥

अन्दाज से अधिक भोजन रोगों को बढ़ाने वाला, आयु को क्षीण करने वाला, नरक में भेजने वाला, पापोन्मुख प्रगति में वृद्धि करने वाला तथा जग में मानव का उपहास कराने वाला होता है। अतः सात्विक भोजन के साथ-साथ स्वल्पाहार पर विशेष ध्यान देना जरूरी है।

जल

जीवन के लिए जल अत्यावश्यक वस्तु है, भोजन नहीं मिलने पर बहुत काल तक प्राणी जीवित रह सकता है, लेकिन जल के बिना तो केवल दो-तीन दिनों के अन्दर ही प्राण की बाजी लग जाती है। प्यास लगने पर तो क्षणमात्र में ही जीना कठिन हो जाता है। प्यास से पीड़ित मनुष्य को "मोह" उत्पन्न होता है और मोह से प्राणों का नाश हो जाता है।

इसको संस्कृत में सलिल, हिन्दी और बंगभाषा में जल, गुजराती और मराठी में पाणी, कर्णाटकी में मुनीक, तैलङ्गी में नीरु, फारसी में आब, अरबी में माय, अंग्रेजी में वाटर (Water) और लैटिन में एक्वा (Aqua) कहते हैं।

पचा हुआ भोजन जल में घुल कर ही रक्त में पहुँचता है। पानी के बिना भोजन अधूरा जैसा हो जाता है। पानी की आवश्यकता की विशिष्टता स्वयं सिद्ध है; क्योंकि हमारे शरीर की बनावट में लगभग ७५ प्रतिशत जल ही है।

जल हलका, शीतल, हितकारी एवं प्यास, वमन, मूर्च्छा, निद्रा इत्यादि का नाश करने वाला तथा अजीर्णहारक और बलकारक है।

"भाव प्रकाश" में दो प्रकार के जल, दिव्य और भौम नाम से बतलाये गये हैं। दिव्य जल चार प्रकार का बतलाया गया है—धाराज, करकाभव, तौषार और हेम। इन जलों में धार जल को उत्तम समझा जाता है।

भौम जल अर्थात् जो भूमि पर होता हैं। भौम जल सात प्रकार का होता है:—कुएँ का जल, नदी का जल, बावली का जल, तालाब का जल, झरना का जल, सोते का जल और समुद्र का जल।

कार जल—वायु और बिजली के टक्कर से ओला स्वरूप जल गिरता है। यह, रूक्ष, भारी, स्थिर, शीतल, गाढ़ा एवं पित्तनाशक जल है। लेकिन इससे वायु और कफ की वृद्धि होती है।

तौषार जल—यह नदी से समुद्र तक विद्यमान अग्नि से उत्पन्न जल जो धुएँ के अंश से रहित होता है। यह प्रायः जीवधारियों के लिए अहितकर और वृक्षों के लिए लाभदायक जल है। तोषार जल रूखा, ठंढा एवं वायु कारक तथा कफ और गलगण्ड को दूर करने वाला है।

हेम जल—(अर्थात् बर्फ का जल)–अत्यंत शीत के कारण हिमालय की चोटियों पर जो पानी जम कर आता है उसी को हेम या हिम जल कहते हैं। यह शीतल, पित्तनाशक और गुणकारी जल है।

अत्रेय संहिता और सुश्रुत संहिता में जल का विशेष वर्णन मिलता है। उक्त संहिताओं में भी जल के गुण और भेद के साथ-साथ दो प्रकार के जल— नदी और समुद्र के जल का विश्लेषण मिलता है। नदी का जल उत्तम और समुद्र का जल खारा बतलाया गया है। नदियों में गंगा नदी का जल उत्तम है। सालिग्राम निघण्टु में लिखा है कि लगभग नौ सौ नदियाँ गंगा में मिलती हैं।

समुद्र के जल के बारे में वैद्य निघण्टु में लिखा है:—यह दाह एवं रक्त विकार उत्पन्न करने वाला तथा दोषजनक और मंदाग्नि तथा कफ को नाश करने वाला होता है। पृथ्वी के अनुकूल भी जल के रङ्ग तथा गुण का वर्णन

मिलता है । अत्रि संहिता में लिखा है, पृथ्वी काली, लाल, सफेद, पीली और नीली इन भेदों से पाँच प्रकार की है । काली पृथ्वी मधुर और खारी, पीली पृथ्वी कसैली, लाल पृथ्वी कड़वी, सफेद पृथ्वी मधुर और खट्टी तथा नीली पृथ्वी चरपरी है । इसी प्रकार पृथ्वी के विभिन्न भाग का पानी—विभिन्न गुण एवं दोषयुक्त होता है ।

काली पृथ्वी का जल गाढ़ा और मधुर, पीली पृथ्वी का जल कसैला, लाल पृथ्वी का जल खारा और मधुर, सफेद पृथ्वी का जल अम्ल और मधुर होता है । ऐसे ही पृथ्वी भूमि के उक्त विचार से जल के स्वाद का विश्लेषण मिलता है । आकाश से पानी बरसता है उसमें **"अगस्त तारा"** उदय होने के पश्चात् वर्षा हुआ जल लाभदायक होता है । सुश्रुत संहिता में वर्षा के जल को श्रेष्ठ माना गया है ।

"गुरु कीजिए जान और पानी पीजिए छान" यह कहावत बिलकुल ठीक है । बिना छाने हुए जल कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिए । ताजा जल पीना उत्तम समझा जाता है लेकिन कुछ लोगों का मत है कि औंटा कर ही जल पीना चाहिए । कुछ लोगों का मत है कि औंटा देने पर जल की पोषण शक्ति नष्ट हो जाती है लेकिन औंटा हुआ जल उपयोगी होता है । राज निघण्टु में लिखा है-जल औंटा कर फेन रहित हो जाता है उससे वायु, कफ, कास, ज्वर तथा आमदोष का नाश होता है तथा वस्ति क्रिया की शुद्धि होती है । उष्ण जल के एक पाद को जला देने पर वायुनाशक और एक ही भाग रख कर और जला देने पर वह जल कफनाशक हलका और अग्निप्रदीपक हो जाता है । जिस जगह पर हैजा, प्लेग अथवा चेचक इत्यादि के प्रकोप हों, वहाँ का पानी तो जरूर औंटा लेना चाहिए । दिन का औंटा हुआ रात में और रात का औंटा हुआ जल दिन में नहीं पीना चाहिए ।

औंटा हुआ जल एक पहर में पचता है, ठण्ढा जल दो पहर में पचता है और गर्म जल केवल डेढ़ घण्टों के अन्दर ही पच जाता है । भोजन करते समय विशेष जल नहीं पीना चाहिए, क्योंकि ज्यादा जल पी लेने से नियम विरुद्ध पाचन होता है । भोजन के मध्य में थोड़ा जल पी लेना जरूरी है ।

श्वाँस, खाँसी, हिचकी, संग्रहणी, पार्श्व शूल, वात रोग तथा नवीन ज्वर में शीतल जल पीना भयानक भूल है।

उषापान—(अर्थात् ब्राह्म मुहूर्त में जल पीना)। वैद्यक शास्त्र में उषापान का बहुत बड़ा महत्त्व है। प्रातःकाल उठ कर पहले अच्छी तरह से कुल्ला कर लेने के बाद जल पीना चाहिए। नाक द्वारा जल सेवन को विशेष लाभप्रद बतलाया गया है। अभ्यास के लिए पहले थोड़ा जल से प्रारम्भ करना उचित है! जल पी लेने के बाद कम से कम दस पन्द्रह मिनट लेट जाना चाहिए।

उषापान से उदर रोग, जुकाम और मूत्र दोष का समूल नाश हो जाता है लेकिन जल पीने के पहले जल के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के आचार्यों के मतानुकूल उषापान का कोई विशेष महत्व नहीं है, वहाँ तो केवल शीतऋतु का ही अखण्ड साम्राज्य है और हमारे देश में छः ऋतु हैं।

आयुर्वेद में जल को दोष रहित करने के लिए निम्नलिखित तरीका बतलाया गया है—जल को अच्छी तरह से औंटा कर धूप में रख देवें पश्चात् सोना, चाँदी, लोहा अथवा पत्थर गर्म करके उस जल में बुझा देवें। इस प्रकार शुद्ध जल को मिट्टी के पात्र में रखकर कपूर चाहे चमेली के फूलों से बास देवें। वर्षाकाल में नदी तथा बाहर इत्यादि के जल में फिटकरी छोड़ रखने से जल का गँदला अंश तली के रूप में नीचे बैठ जाता है और ऊपरी भाग का जल स्वच्छ हो जाता है।

पाश्चात्य चिकित्सकों के मतानुकूल जल को शुद्ध करने के लिए कम से कम पन्द्रह-बीस मिनट औंटाना चाहिए। कुएँ का पानी शुद्ध करने के लिए उसमें परमैंगनेट आफ पोटास या ब्लीचिङ्ग पाउडर छोड़ना चाहिए। उक्त द्रव्यों से जल में रहने वाले छोटे कीटाणुओं की मृत्यु हो जाती है। ऐसा करने पर भी बिना छाने हुए जल हर्गिज काम में नहीं लाना चाहिए। सादा चूना डालने से भी जल अच्छी तरह शुद्ध हो जाता है।

(फिल्टर) द्वारा जल शोधन—इसके लिए चार घड़ों की आवश्यकता

होती है। चारों घड़ों को एक टिकठी (जिसमें खाने बने रहते हैं) पर रखा जाता है। ऊपर के तीन घड़ों की पेंदी में पतला छेद बना कर उसमें साफ कपड़े की बत्ती लगा दी जाती है जिसके सहारे बूंद-बूंद करके जल टपकता रहता है।

ऊपर वाले घड़े में औंटाया हुआ जल, उसके नीचे वाले अर्थात् दूसरे घड़े में लकड़ी का साफ कोयला और तीसरे घड़े में साफ बालू भर दिया जाता है। चौथे घड़े (अर्थात् जो सबसे नीचे रहता है) के मुंह पर स्वच्छ वस्त्र लपेट दिया जाता है जिस पर ऊपर से टपकने वाला जल छन कर घड़े में जमा होता है। इस प्रकार शुद्ध किया हुआ जल स्वच्छ और पूर्ण निर्दोष हो जाता है लेकिन घड़ा, कोयला, बालू और वस्त्र की सफाई पर पूर्ण ध्यान देना नितान्त जरूरी है। विशेष—दो सप्ताह बाद कोयला और बालू को बदल देना चाहिए तथा उक्त वस्तुओं को बदलते समय घड़ों को खाली करके धूप में सुखा लेना चाहिए।

स्नान—स्नान प्रायः दो प्रकार का जलस्नान (Bath) और धूप स्नान (Sunbath) समझा जाता है। स्नान के लिए ठंढा जल काम में लाना चाहिए। अगर किसी रोग विशेष के लिए गर्म जल से स्नान करना हो तो ठीक है लेकिन भारत जैसे देश के लिए ठंढा जल ही स्नान के लिए विशेष उपयोगी है। बाग्भट्ट में लिखा है—"गर्म जल से सिर धोने पर आँखों की दृष्टि कम होती है सिर के बाल कमजोर हो जाते हैं तथा मस्तिष्क को भी नुकसान पहुँचता है। स्नान के लिए ठंढे जल का उपयोग पाश्चात्य देशवासी भी करते हैं। लेकिन वहाँ शीत साम्राज्य होने के कारण बहुत ही कम। जर्मनी निवासी डा० लुईकुनी की जल चिकित्सा ने एक चिकित्सा-प्रणाली का रूप धारण कर लिया है। वास्तव में जल चिकित्सा द्वारा भी लाभ पहुँचता है। धर्म की दृष्टि से स्नान को बहुत ही महत्वपूर्ण बतलाया गया है लेकिन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी स्नान का बहुत बड़ा महत्त्व है।

स्नान करने के पश्चात् गमछे से शरीर को अच्छी तरह पोंछ लेना चाहिए ऐसा करने से समस्त लोमकूप खुल जाते हैं—जिसके द्वारा शरीर का दूषित मल अनायास ही बाहर निकल आता है।

सुबह के समय खुले बदन धूप में बैठने को धूप स्नान कहते हैं। हमारे देश में जाड़े के दिनों में इसकी आवश्यकता होती है। कितने प्रकार के रोगों में पसीना निकालने के लिए भाप का प्रयोग किया जाता है। भाप द्वारा पसीना निकालने की क्रिया को वाष्प-स्नान कहते हैं।

हवा

प्रायः प्राणीमात्र के लिए, भोजन आवश्यक, जल विशेष आवश्यक और हवा परमावश्यक है।

पुरवाई हवा खारी, मधुर और शीतल तथा सर्दी, सूजन, सन्निपात विष, बवासीर, कोढ़, कृमि, मंदाग्नि, आमवात एवं वायुविकार में वृद्धि करनेवाली है। पछवाँ हवा निर्मल, विशद, कसैली और स्वरशोधक तथा दाह; व्रण, तृष्णा, सूजन और मंदाग्नि हरनेवाली एवं आरोग्यदायिनी है। उतरही हवा मधुर, मुलायम, कसैली, कफ बढ़ानेवाली और जलयुक्त बादलों को पैदा करनेवाली है। दक्षिण दिशा की हवा नेत्रों को बल देनेवाली, कृषि बिगाड़नेवाली तथा अन्न और जल में कसैले रस की उत्पत्ति करने वाली रक्तपित्त नाशक लेकिन वायुप्रकोप को बढ़ाने वाली है। कुछ लोगों का कथन है कि पश्चिम दिशा की हवा का गुण बहुत अंशों में दक्षिण दिशा की हवा में वर्तमान रहता है और पूर्व दिशा की हवा का गुण उत्तर दिशा की हवा में। अग्निकोण, नैऋत्यकोण, वायव्यकोण एवं ईशान कोण की हवा के गुण भी भिन्न-भिन्न हैं। विश्वग्यायु—अर्थात् चौतर्फी हवा निकृष्ट समझी जाती है।

शिशिर ऋतु में पुरवाई हवा उत्तम समझी जाती है। बसन्तऋतु में दक्षिण की हवा, ग्रीष्मऋतु में नैऋत्य की हवा, वर्षा ऋतु में पछुवा हवा और शरद ऋतु में वायव्य कोण की हवा उत्तम समझी जाती है। शिशिर और वसन्त ऋतु में उत्तर की हवा भी श्रेष्ठ है।

दिन रात २४ घंटों में ६ ऋतुओं की हवा

सूर्योदय के समय हेमन्त ऋतु, दोपहर को ग्रीष्म ऋतु, दिन के पूर्व भाग

का वसन्त ऋतु, तीसरे पहर की वर्षाऋतु; अर्धरात्रि को शरद ऋतु और आधी रात के बाद के समय को शिशिर ऋतु कहते हैं। उक्त समय की हवा को ऋतु से मिलान किया गया है।

यन्त्रों की हवा (पंखा)

ताड़ एवं केले के पत्तों के पंखों की हवा दाह, पित्त श्रम और ग्लानि को दूर करने वाली, निद्रावर्द्धक एवं साधारण मात्रा में कफवर्धिनी है। बाँस के पंखे की हवा गर्म, रूखी तन्द्रा और निद्राकारक तथा कसैली और वायु को कुपित करने वाली है। खस और मोरपंख के पंखों की हवा शीतल, मन्द तथा ग्लानि, मूर्च्छा, श्रम, विष, विसर्प एवं शोष को नाश करने वाली है। बेंत के पंखा की हवा भी उत्तम है। बिजली पंखा (Electric fan) की हवा आरामदेह तो है लेकिन उसमें गुण बिलकुल साधारण है।

पृथ्वी के चारों तरफ लगभग दो सौ मील तक हवा फैली हुई है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि उसके बाहर हवा नहीं है पृथ्वी पर जितने प्राणी हैं प्रायः सभी पृथ्वी के वायुमंडल में श्वास लेते हैं। इसी वायुमण्डल से मानव शरीर के मध्य भाग में स्थित फेफड़े में भी श्वास-प्रश्वास के रूप में वायु प्रवेश करती है और निकलती है।

अग्नि भी वायु के सहारे ही जलती है। वायुहीन स्थान पर अग्नि नहीं जल सकती। वायु कई एक पदार्थों का सम्मिश्रण होकर गैस के रूप में उपस्थित है। साधारणतः इसको ऑक्सीजन (Oxygen) और नाइट्रोजन का सम्मिश्रण समझा जाता है। **कार्बन डाई ऑक्साइड** (Carbon dioxide) भी कुछ न कुछ अंश में प्रायः सभी स्थान के वायु में पायी जाती है। वायु की रासायनिक परीक्षा में निम्नलिखित गैस निम्न परिमाण में पायी जाती है—

खुले स्थान की वायु	....
ऑक्सीजन	२०.९४ भाग

नाइट्रोजन (Nitrogen)	७९.०२ भाग
कार्बन डाइ ऑक्साइड	०.०४ भाग
	१००.०० भाग

वायु में—ऋतु और स्थान के अनुकूल भाफ (Vapours), कीटाणु (Germs) और धूल के कण पाये जाते हैं।

शुद्ध हवा में प्राणवायु उचित मात्रा में वर्तमान रहता है। इसी प्राणवायु को अंग्रेजी में ऑक्सीजन कहते हैं। शुद्ध हवा में श्वास लेने से प्रचुर मात्रा में **"ऑक्सीजन"** मिलता है। अशुद्ध वायु में श्वांस लेने से शरीर में नाना प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। प्रश्वास के जरिये रक्त के दूषित पदार्थ बाहर निकला करते हैं। जिनको **"कार्बन-डाई-ऑक्साइड"** कहते हैं। श्वांस से रक्त साफ होता है और शरीर में शक्ति का वृद्धि होती है। श्वास द्वारा **"नाइट्रोजन"** के जितने भाग शरीर में प्रवेश करते हैं—प्रश्वास के साथ प्रायः उतने ही अंशों में बाहर निकल आते हैं। यह गैस शरीर के किसी भी कार्य में नहीं आती है। कार्बन-डाइ-आक्साइड वायु के १००,०० भागों में ४ भाग रहने पर कोई हानि नहीं पहुँचा सकती है। लेकिन सभा, सिनेमा एवं भीड़ जहाँ का वायु दूषित हो जाया करता है उक्त कार्बन डाइ ऑक्साइड की मात्रा अधिक बढ़ जाया करती है जिसके फलस्वरूप अनेक रोगों की पैदाइश हुआ करती है।

श्वास द्वारा वायु का ऑक्सीजन शरीर में प्रवेश कर कार्बन तथा अन्य अवयवों से मिलकर ताप एवं कार्बन-डाइ-ऑक्साइड उत्पन्न करता है। साधारणतः, एक साधारण आदमी प्रति घंटा ½ घन फुट कार्बन-डाइ-ऑक्साइड प्रश्वास द्वारा बाहर निकालता है। फल, पत्ता एवं शव (लाश) इत्यादि के सड़ने पर वहाँ उक्त गैस (का० डा० आ०) अत्यधिक मात्रा में तैयार हो जाती है। लेकिन गैसों में एक विशेष प्रगति जिसके सहारे गैस आपस में मिल कर विभिन्न स्थानों में यथा सम्यक् मिलावट में बँट जाती है। गैसों की इस प्रगति को विसर्जन (Deffusion) कहते हैं। वर्षा के जल एवं वृक्ष द्वारा भी का० डा० आ० का खातमा होता है।

ऑक्सीजन एवं ओजोन, (जो ऑक्सीजन का ही एक रूप है) इनके द्वारा बहुत से रोग कीटाणुओं का नाश हो जाता है। प्रश्वास द्वारा निष्कासित कार्बन-डाइ-ऑक्साइड को बहुत अंशों में वृक्ष वर्ग ही ग्रहण कर के अपना भोजन तैयार करते हैं, जिसको मनुष्य खाते हैं। इस क्रिया द्वारा वायुमण्डल स्वच्छ हो जाता है। श्वास एवं प्रश्वास गत वायुक्रम निम्न प्रकार है—

श्वास वायु क्रम

ऑक्सिजन	२०.९४
नाइट्रोजन	७९.०२
का० डा० आ०	.०४
	१००.००

प्रश्वासवायु क्रम

ऑक्सिजन	१६.४०
नाइट्रोजन	७९.१९
का० डा० आ०	४.४१
	१००.००

उक्त आँकड़ों से पता चलता है कि ४.४५ प्रतिशत ऑक्सिजन शरीर में रह जाती है और ४.३७ भाग का० डा० आ० बाहर निकलती है। शरीर में बचा हुआ ऑक्सिजन दूषित रक्त को साफ कर देता है अर्थात् रक्त के "लाल कण" स्थित हिमोग्लोबिन ऑक्सिजन को सोख लेते हैं। सर्वाङ्ग में ऑक्सिजन की नितान्त आवश्यकता बनी रहती है जो इस प्रकार श्वास-प्रश्वास की प्रगति से प्राप्त होता रहता है।

हवा में भाफ, कीटाणु और धूल

इसकी परीक्षा के कई एक नियम हैं। धातु या शीशा के गिलास में बर्फ भर देने पर उस पात्र के बाहरी सतह पर जल के छोटे-छोटे कण इकट्ठे हो

जाते हैं। अतः ज्ञात होता है कि भाफ हवा में मिश्रित थी जो ठंढ के कारण जम गयी।

अणुवीक्षण यंत्र द्वारा कीटाणुओं को परीक्षा की जाती है। लेकिन सर्व-साधारण के अनुभव द्वारा भी यह बात स्वयं सिद्ध है कि हवा के सहारे रोग फैलते हैं।

कमरों की खिड़कियों में सूर्य की रोशनी प्रवेश करती है। उस रोशनी में धूल के निहायत नन्हें-नन्हें कण उड़ते रहते हैं। उन्हीं कणों के साथ-साथ जीवाणु भी उड़ा करते हैं। उक्त धूल के कण एवं जीवाणु स्वास्थ्य के लिए महान घातक हैं।

अशुद्ध वायु

वायु की साधारण और प्रधान अशुद्धि कार्बन-डाइ-ऑक्साइड ही है—सभा, सिनेमा अथवा किसी भी संकीर्ण स्थान में जिस जगह पर बहुत से आदमी एकत्रित हो जाते हैं वहाँ पर दूषित गैस पैदा होना बिल्कुल सम्भव हो जाता है। वैसे स्थानों में गैस और श्वास द्वारा निकले हुए जलवाष्प, ऐन्द्रिक पदार्थ और श्वास के द्वारा उक्त स्थान के वायुताप का बढ़ जाना स्वाभाविक है। इन दोषों की अभिवृद्धि के फलस्वरूप सिर में चक्कर आना अथवा दर्द होना, जी मचलाना, मूर्छा तथा वमन आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। उक्त उपद्रव वायुमण्डल में कार्बन-डाई-ऑक्साइड की १.५ प्रतिशत मात्रा होने पर उपस्थित होते हैं। अगर यह मात्रा ७५ प्रतिशत तक बढ़ जाय तो किसी प्रकार का जीवन नहीं रह सकता।

स्वास्थ्य और वायु

पहले ही बतलाया जा चुका है कि शुद्ध वायु मानव जीवन के लिए परम-उपयोगी ही नहीं बल्कि साक्षात् प्राणस्वरूप है। शुद्ध वायु से ही शारीरिक

क्रिया सुन्दर ढङ्ग से संचालित होती है। रोग के जीवाणु और कीड़े, शुद्धवायु एवं सूर्य के प्रकाश से नष्ट हो जाते हैं। बालकों तथा स्त्रियों को अशुद्ध वायु सेवन से बहुत ही दिक्कते उठानी पड़ रही हैं। अशुद्ध वायु के फलस्वरूप यक्ष्मा तथा सूखा रोग आदि में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। जिस मकान में वायु प्रवेश की सुन्दर व्यवस्था नहीं रहती है उसमें रहनेवाले प्रायः विशेष रूप से रोगग्रस्त पाये जाते हैं। मुँह ढक कर अथवा घर का दरवाजा एवं सभी खिड़कियाँ बन्द कर सोना खतरनाक है। ऐसा करने से प्रश्वास द्वारा बाहर निकली हुई **कार्बन-डाई-ऑक्साइड** पुनः श्वास द्वारा फेफड़े में पहुँच कर रक्त परिष्कृत-कारक प्रणाली में बाधा उपस्थित करती है। जिसके फलस्वरूप नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं।

शुद्ध वायु के सेवन का महत्व हमारे महर्षियों में अच्छी तरह से समझा था। पुराने जमाने में महान् से महान् आविष्कार एवं अनुसंधान कार्य से लेकर साधारण जीवनयापन तक का कार्य शुद्ध वायु में ही सम्भव था। हाँ, पहले की शिक्षा-प्रणाली एवं अनुसंधान भी आज से कुछ भिन्न थे। उस समय वेद, शास्त्र एवं पुराण तथा आत्मबल की विशिष्टता थी। आज के औषद्योगिक युग में अखबार चाट कर ही अपने को प्रकाण्ड पण्डित मानने में गर्व समझा जाता है।

उस युग में आज की परावलम्बी भावना नहीं थी बल्कि शिक्षा प्राप्त काल से ही स्वावलम्बन एवं आत्मबल का परिचय प्राप्त होने लगता था। गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध शिक्षा-प्रणाली की तरह विमल एवं सराहनीय था। वर्तमान युग की परीक्षा-प्रणाली जो अभिशाप की ताण्डव नृत्य से वह युग पूर्णरूपेण सुरक्षित एवं वंचित था।

रासायनिक विश्लेषण द्वारा भोजन की संक्षिप्त व्याख्या

मानव शरीर पर भोजन के निम्नलिखित तीन प्रमुख प्रभाव देखने में आते हैं—

भोजन द्वारा {
- शरीर में गर्मी कायम रहती है और शक्ति का संचार होता है।
- शरीर के भीतर रहने वाले सेल्स और तन्तुओं की क्षति पूर्ति होती है शरीर के बढ़ने के लिए आवश्यक पदार्थ मिलते हैं।

रासायनिक परीक्षण द्वारा खाद्य सामग्रियों में निम्नलिखित ६ पदार्थ पाये जाते हैं :—

१ श्वेतसार—(Carbohydrates) कार्बोहाइड्रेट्स ।
२ मांस वर्धक पदार्थ—(Proteins) प्रोटीन्स ।
३ वसा (Fats) फैट्स
४ पानी (Water) वाटर ।
५ खनिज नमक (Mineral Salts) मिनरल साल्ट्स और
६ भोजन सार (Vitamins) विटामिन्स ।

श्वेतसार (Carbohydrates) में कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन मिले रहते हैं । इम पदार्थों को अच्छी तरह से चबाने पर सफेद रंग की लेई की तरह वस्तु तैयार होती है, जिसमें चीनी का अंश रहता है । श्वेतसार कई एक प्रकार के अन्न जैसे गेहूँ, जौ, चावल और बाजरा आदि, फल वर्ग में अमरूद एवं केला आदि और कन्द वर्ग में आलू इत्यादि में पाया जाता है । लेकिन उक्त वस्तुओं में अन्न पदार्थों का भी सम्मिश्रण रहता है । ईख, मुनक्का, खजूर छुहाड़ा इत्यादि में श्वेतसार की अधिक मात्रा है चीनी तो श्वेतसार के उदाहरण का स्वरूप ही है ।

मांसवर्धक पदार्थों (Proteins)—में आक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, कार्बन और गंधक पाये जाते हैं । इनके द्वारा शरीर में गर्मी कायम एवं शक्ति-संचार के कार्यों के अलावे सेलस एवं तन्तुओं के टूटने और घिसने की मरम्मत भी होती है ।

वसा (Fats)—में ऑक्सिजन, हाइड्रोजन और कार्बन का सम्मिश्रण रहता है । इससे शरीर को गर्मी और ताकत मिलती है और शक्ति संचार क्रिया सुदृढ़ रहती है तथा शरीर के बाहरी भाग में भी चिकनाई बनी रहती है ।

पानी (Water)—यह दूध, शाक एवं फलवर्ग से भी प्राप्त होता है । इसके द्वारा पचा हुआ भोजन घुलता है तथा रक्त तरल रहता है और शरीर के

विकार बाहर निकलते हैं। मानव शरीर से प्रतिदिन लगभग डेढ़ सेर पानी मैल के रूप में बाहर निकलता है।

खनिज लवण (Mineral Salts)—खाद्य पदार्थों में भी पाया जाता है। वनस्पति वर्ग में विभिन्न प्रकार के लवण मिलते हैं। दूध में चूने का अंश मिलता है जिससे हड्डी मजबूत होती है और फलों में लौह का अंश मिलता है जिससे रक्त को शक्ति मिलती है।

भोजनसार (Vitamins)—प्रायः पाँच प्रकार के पाये गये हैं—ए, बी, सी, डी और ई।

(ए) भोजनसार—अण्डे की पीली वस्तु, कॉड नामक मछली के तेल एवं वनस्पति की हरी पत्तियों में मिलता है। खाद्य पदार्थ में इसके रहने से पाचन-शक्ति ठीक रहती है, शरीर तन्दुरुस्त रहता है और रोग से बचने की ताकत होती है। (ए) भोजनसार नेत्र, गला एवं श्वास-प्रश्वास की क्रिया को ठीक रखने के लिए नितान्त आवश्यक वस्तु है। यह चिकनाई के साथ घुलनेवाली है।

(बी) भोजनसार—अनछँटे चावल, मटर, अण्डे को जर्दी, फल एवं पौधों के बीज इत्यादि में मिलता है। इससे भूख बढ़ती है, पाचन-क्रिया ठीक रहती है और स्नायविक रोगों में लाभ पहुँचता है। हृदय एवं मस्तिष्क पर भी इसकी बहुत अच्छी क्रिया होतो है। लेकिन मिल के छँटे चावल चाहे पिसे हुए आटे में यह खाद्यसार प्रायः नष्ट हो जाता है। (बी) भोजनसार पानी में घुलने वाला पदार्थ है।

(सी) भोजनसार—रसदार फलों और भाजियों में मिलता है। नीबू, नारंगी, अनार, सन्तरा एवं नाशपाती में इसकी मात्रा अधिक होती है। यह दाँत एवं हड्डियों को ठीक रखता है। इससे रक्त दोष, रक्त पित्त एवं चर्मरोग इत्यादि अच्छे होते हैं। यह भोजनसार भी पानी में घुलने वाला है।

(डी) भोजनसार—घी, दूध, मक्खन, अण्डे की जर्दी और कॉड नामक मछली के जिगर के तेल इत्यादि पदार्थों में मिलता है। यह हड्डियों के पोषण

करने का महान साधन है। इसके सेवन से सूखा रोग (Rickets) नहीं होता। यह चिकनाई में घुलने वाला खाद्यसार है।

(ई) **भोजनसार**—भाजियों और अन्न के अंकुरों में मिलता है। सन्तान उत्पन्न करने वाले अवयवों पर इसकी प्रधान क्रिया होती है। यह भी चिकनाई में घुलने वाला खाद्यसार है। इन पाँच भोजनसारों के अलावे दो और भी प्रकाश में आये हैं लेकिन उनकी परीक्षा हो रही है। F. P. K. का भी वर्णन मिलता है

आवश्यक भोजन

शरीर जितना कार्य करता है उसी अनुपात से भोजन की आवश्यकता पड़ती है, कार्य करने पर उसके सेल्स एवं तन्तुओं की क्षति होती है जिनकी पूर्ति भोजन द्वारा होती है। भोजन के भिन्न-भिन्न अवयवों द्वारा उत्पन्न हुई **"शक्ति"** का ज्ञान भी रखना निहायत जरूरी है। शक्ति को ताप के रूप में नापा जाता है। ताप की इकाई को **कैलोरी** (Calory) कहते हैं। एक कैलोरी ताप वह शक्ति है जो एक ग्राम जल के ताप को एक डिग्री सेण्टीग्रेड बढ़ा देवे। दफ्तर में बैठकर लिखने वाले बाबुओं के लिए अनुमानतः लगभग **ढाई हजार कैलोरीज शक्ति** उत्पन्न करने वाला भोजन चाहिए। उसके साथ-साथ निम्नलिखित हिसाब भी लगाया गया है—

एक ग्राम, प्रोटीन वसा अथवा कार्बोहाइड्रेट जलने से निम्नलिखित शक्ति का प्रादुर्भाव होता है—प्रोटीन—४.१ कैलोरीज

वसा——————९.०१ ,,

कार्बोहाइड्रेट-४.०१ ,,

कुछ प्रमुख पदार्थों में प्रोटीन, वसा, का० हा०, लवण और जल की मात्रा का दिग्दर्शन

पदार्थ	प्रोटीन,	वसा,	कार्बोहाड्रेट,	लवण	जल
गेहूँ का आटा	१२.२४	२.१८	७०.९२	२.२७	१८.८३

जौ का आटा	१०.०	२.२	७३.३	१.३७	११.१३
चावल	६.८६	०.८	७८.८	१.२३	११.०४
अरहर की दाल	२७.६७	२.३१	५७.२७	५.५०	१८.०८
मूंग की दाल	२३.६२	२.६९	५३.४५	६.५७	१०.८७
उड़द	२५.५	१.७	५३.४	३.३	१३.१
आलू	१.२	०.१	२१.४	०.८	९३.४
गो दुग्ध	४.८	३.७	४.८	०.७	८६.०
भैंस का दूध	४.४	९.०	४.०	०.८	८८.०
बकरी का दूध	३.६२	४.२	४.०	०.५६	८७.५७
स्त्री का दूध	२.४९	२.९०	५.८७	०.१६	८८.०
गोभी (बंधा)	०.८	०.४	६.८	१.३	८९.१
गाजर	०.५	०.३	१०.१	१.०	८५.७
बैंगन	०.८६	०.६४	३.४८	०.२६	६३.९८
टमाटर	०.९	०.४	३.९	०.५	१४.१
मछली	१५.००	७.००	×	२.००	७६.००
मुर्गी	१६.७२	१.४२	×	१.३७	७६.२२
हिरन	१७.११	५.७७	×	१.३	७५.९
अंडा (पीलाभाग)	१६.२	३१.७५	०.१३	१.०९	५०.९

कुछ प्रमुख पदार्थों में खाद्योज की मात्रा

	A.	B.	C.	D.
मैदा	०	सूक्ष्म	०	—
आटा	+	+ +	०	—
चावल	सूक्ष्म	सूक्ष्म	०	—
गो दूध	+ + +	+ +	+	+
स्त्री दूध	+ +	+	+	—

मलाई	+ + +	+	०	+
गाजर	+	+	+ +	—
बैंगन	०	+	+	—
टमाटर	+ +	+ + +	+ + +	—
मछली	+ + +	+	०	—
मुर्गा	+	+	०	०
अण्डा	+ +	+ + +	०	+
मछली का तेल	+ + +	सूक्ष्म	०	+ +

आवश्यक भोजन में ख्याल करना होगा कि दिन रात मिल कर अर्थात् २४ घंटों में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा की कितनी मात्रा अनिवार्य है। इसके लिए काम, ऋतु और आयु इत्यादि का भी ख्याल करना निहायत जरूरी है। साधारणतः एक युवक के लिए तीनों पदार्थों का निम्नलिखित मात्रा उचित कही जा सकती है :—

साधारण परिश्रम करनेवाले युवक के लिए, प्रोटीन सौ ग्राम, वसा साठ ग्राम और कार्बोहाइड्रेट ५०० ग्राम की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन कठिन परिश्रम करनेवाले युवक के लिए प्रोटीन १६० ग्राम, वसा ६८ ग्राम और कार्बोहाइड्रेट ६०० ग्राम की आवश्यकता होगी। एक ग्राम ७$\frac{3}{4}$ रत्ती के बराबर होता है।

उक्त मात्रा में परिश्रम, शरीर के आकार प्रकार, अवस्था, देश एवं ऋतु के अनुकूल कमो-बेशी भी होती है जैसे :—

सग्गड़ एवं नाव को रस्सी खींचनेवालों तथा कुली जिन्हें अधिक बोझ ढोना या खींचना पड़ता है। ऐसे आदमियों के लिए कार्बोहाइड्रेट की अधिक मात्रा की आवश्यकता पड़ती है। जिन लोगों को विचार सम्बन्धी काम करने पड़ते हैं, कार्बोहाइड्रेट कम और प्रोटीन की विशेष आवश्यकता होती है।

शारीरिक आकार प्रकार के मुताबिक नाटे और मोटे आदमियों की अपेक्षा दुबले और लम्बे आदमियों को अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है, चूँकि उनके शारीरिक "ताप" की अधिक हानि होती है।

बच्चे और बालकों को अधिक प्रोटीन और वसा की आवश्यकता पड़ती है। एक दस वर्ष के बालक को जवान स्त्री के आधा और चौदह वर्ष के बालक को जवान स्त्री के बराबर भोजन की आवश्यकता पड़ती है। स्त्री का शरीर भार पुरुषों की अपेक्षा कम होता है। अतः भोजन की मात्रा भी पुरुष से कम होती है। युवावस्था वाले पुरुष से अधिक भोजन की आवश्यकता बच्चों को होती है, चूँकि उनके शरीर में वृद्धि होती है जिसके चलते ताप और शरीर के साथ-साथ बढ़ने वाले अंगों के लिए उचित सहायता की आवश्यकता पड़ती है। बुढ़ापा में अधिक भोजन से हानि पहुँचती है।

जर्मनी, इङ्गलैंड और नार्वे इत्यादि शीत प्रधान देशों में भोजन की अधिक मात्रा आवश्यक है और भोजन की मात्रा में वसा और प्रोटीन की। चीनी और चावल से बहुत कम ताप की उत्पत्ति होती है लेकिन जैसे उष्णप्रधान देशों के लिए कार्बोहाइड्रेट की अधिक आवश्यकता पड़ती है। चीनी, चावल, खाँड़ और बाजरा आदि में कार्बोहाइड्रेट की अधिक मात्रा रहती है। गर्मी के दिनों की अपेक्षा सर्दी के दिनों में अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है।

भोजन का पाक

भोजन पक जाने पर स्वादिष्ट हो जाता है, साथ ही भोजन सामग्रियों में रहने वाले कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। जिन पदार्थों में कार्बोहाइड्रेट रहता है उनके पाक हो जाने पर वह पदार्थ सुन्दर ढंग से पच जाता है। भोजन का पाक हो जाने से प्रोटीन जम जाता है। माँस को तो बिना पकाए खाना एक प्रकार से असम्भव-सा है।

भोजन का पाक लकड़ी, कोयला, पत्थर का कोयला, तेल एवं भाफ इत्यादि द्वारा होता है। भोजन को इस अन्दाज से पकाना चाहिए कि उसके पोषक पदार्थों का नाश न होने पावे। आलू वगैरह को छिलका के साथ ही उबालना

चाहिए। छिलका हटा कर उबालने से प्रोटीन, वसा एवं लवण में कमी आ जाती है, यथा—

		प्रोटीन	वसा	लवण
उबालने पर	छिलका युक्त आलू—	१.२	०.१	२१.४
	छिलका रहित आलू—	×	×	×

जल और कार्बोहाइड्रेट के अंश बच जाते हैं।

चावल का माँड़ फेंक देने से भोजन निस्सार हो जाता है। अतः माँड को हर्गिज नहीं निकालना चाहिए। लेकिन इस बात का अच्छी तरह से ध्यान रखना जरूरी है कि चावल पकाने के लिए इस अन्दाज से जल दिया जाय कि जल को चावल सोख लेवे। मधुर आँच पर पका हुआ भोजन मुलायम, स्वादिष्ट और स्वास्थ्यवर्धक होता है।

स्टार्च (Starch)

यह अन्न, फल एवं कन्द इत्यादि में विभिन्न रूपों में मिलता है। उक्त पदार्थों को उबालने पर स्टार्च का आवरण फट जाता है और उसके कण विभिन्न रूप में बाहर निकल आते हैं। इन कणों की परीक्षा सूक्ष्म दर्शन यन्त्र द्वारा की जाती है।

ग्लुकोज (Glucose)

मानव शरीर में एक प्रकार की चीनो पायी जाती है उसी को ग्लूकोज कहते हैं। ईख की चीनी मानव शरीर स्थित पाचक रस द्वारा ग्लूकोज बन जाता है। चीनी शुद्ध कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate) है। चीनी का उपयोग स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है क्योंकि यह ग्लूकोज के रूप में परिवर्तित होकर यकृत में एकत्रित होता है और पेशियों में पहुँच कर उन्हें शक्तिशाली बनाता है। मगर हाँ, ज्यादा चीनी का उपयोग लाभ से कई गुना अधिक हानि पहुँचाता है। इसके चलते मधुमेह जैसा भीषण रोग पैदा हो जाता है (जिसको अँग्रेजी में Diabetes

डायबिटीज कहते हैं।) शारीरिक परिश्रम करने वालों को इसकी अधिक मात्रा भी विशेष हानि नहीं पहुँचा सकेगा। लेकिन जिनको बैठकर लिखने-पढ़ने में ही दिन रात बिताना है उनके लिए अधिक मात्रा का उपयोग भयानक हानिकारक होता है।

धान्य, दाल, शाक, कन्द, फल, दूध, मांस, मछली एवं अण्डा इत्यादि में विभिन्न प्रकार के मानवोपयोगी पदार्थ पाए जाते हैं जिसका संक्षिप्त दिग्दर्शन तालिका के रूप में दिखलाया जा चुका है।

पानीय भोजन

पीने वाली वस्तुओं जैसे—काफी, कोको, लस्सी, शर्बत, चाय, लेमनेड और मद्य इत्यादि तरल पदार्थों को पानीय भोजन कहते हैं।

लस्सी, लेमनेड तथा शर्बत का उपयोग विशेष कर गर्मी के दिनों में होता है। इनमें कुछ सारता है लेकिन काफी, कोको तथा मद्य इत्यादि चीजें उत्तेजक और विशेष सेवन से शरीर को भीषण क्षति पहुँचाने वाली वस्तु हैं।

शर्बत—गुड़, चीनी और मिश्री से शर्बत तैयार किया जाता है। चीनी के शर्बत में कागजी नीबू का रस छोड़कर सेवन करने से उदर रोग में लाभ होता है। शर्बत तैयार करने के लिए फलों के रस को मिश्री अथवा चीनी के शीरे में मिलाकर पकाया जाता है। इस कृत्रिम पसन्द युग में शर्बत का रूप भी विकृत हो गया है, प्रायः देखने से आता है कि फलों के एसेन्स निकाल कर उसमें कुछ सुगन्धित द्रव्यों का सम्मिश्रण कर दिया जाता है। इस शर्बत का रंग एवं गन्ध तो अवश्य ही आकर्षक बन जाता है लेकिन गुण तो नहीं के बराबर ही पाया जाता है।

लस्सी—दही में ठण्ढा जल मिलाकर मथनी से मथ देने के पश्चात् उसमें बर्फ और चीनी मिलाकर लस्सी तैयार करते हैं। मट्ठा और छाछ को भी लस्सी कहा जाता है।

चाय—इसकी पैदावार के वास्ते भारतवर्ष का प्रमुख स्थान है—आसाम, बिहार तथा नीलगिरि और विदेश में लंका, जापान तथा चीन आदि स्थानों में

चाय की खेती होती है । चाय दो प्रकार की होती है, हरी और काली । चाय की नर्म पत्तियों को एकत्रित कर वैज्ञानिक ढंग से सुखायी जाती है । इसमें कॉफीन, टैनीन और थीन नामक वस्तुएँ भी पायी जाती हैं । कौफीन उत्तेजक, टैनीन संकोचन और थीन बहुत ही सूक्ष्म मात्रा में उत्तेजना देने वाली है । उत्तम चाय की पत्तियाँ उबलते हुए जल में छोड़ते ही फैल जाती हैं । चाय के सेवन से क्षणिक स्फूर्ति होती है तथा पेशाब ज्यादा होता है । इसके अधिक सेवन से अग्नि मान्द्य तथा आलस्य आदि कई एक प्रकार के उपद्रव पैदा हो जाते हैं ।

काफी—यह एक प्रकार के वृक्ष का (जिसका नाम **जोकेफ्रिया एरेबिका** है) बीज चूर्ण है । बीज को भून कर चूर्ण तैयार किया जाता है । अतः चूर्ण का रंग भी भूरा हो जाता है । इसमें—

कॉफीन—१.२१

टैनीन—३२.९४

शर्करा—८.३५

नाइट्रोजनयुक्त द्रव्य १२.०७

जल १९.२३ प्रतिशत पाया जाता है ।

इसके प्रयोगाधिक्य स्वरूप निद्रा नाश तथा हृदय धड़कन आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं ।

कोको—यह भी थियोब्रोमीन कोकोड़म नामक वृक्ष के बीज को पीस कर तैयार किया जाता है । इसके चूर्ण में स्टार्च १० प्रतिशत पाया जाता है । इसमें पोषक शक्ति एवं उत्तेजना की मात्रा बिल्कुल साधारण है। इसका विशेष उपयोग मद्रासी लोग करते हैं ।

●

शराब

प्रायः विश्व के सभी भागों में मद्यपान का प्रचलन है, इसका प्रमाण हिन्दू शास्त्रों में भी देखने में आता है । मादक द्रव्यों में मद्य की व्यापकता प्रधान

है। आज भी हमारे देश में मद्य के प्याला की पहुँच झुलते हुए झोल युक्त झोपड़ी से मुस्कराते हुए महलों तक एक समान है। इसकी साधारण मात्रा से मस्ती और विशेष मात्रा, विष से भी भयानक विकृति उत्पन्न हो जाती है।

गरीब से अमीर तक में इसकी पहुँच होने के कारण वर्णानुकूल इसके रूप भी विभिन्न प्रकार के हैं। बड़े लोगों के लिए साधारणतः अंगूर की शराब अच्छी समझी जाती है। लेकिन दरिद्र नारायणों के लिए कहना ही क्या है ?

अंगूर शर्करा जल में घोल उसमें खमीरा मिला कर कुछ दिनों तक रख छोड़ने पर उसमें एक प्रकार की **रासायनिक क्रिया** (Fermentation) होने लगती है। घोला हुआ शर्करा सुरा एवं कार्बनडाइआक्साइड के रूप में परिवर्तित होने लग जाता है। कार्बनडाइआक्साइड तो उड़ जाती है लेकिन अल्कोहल ज्यों का त्यों बना रह जाता है। स्टार्च को **गंधकाम्ल** (Acid Sulph) के साथ उबाल कर शराब तैयार की जाती है। विभिन्न प्रकार के अन्न जैसे जौ, चावल आदि तथा विभिन्न प्रकार के फलों के रसों द्वारा भी कई एक प्रकार की शराब तैयार होती है। यद्यपि अपने देश में भी नाना प्रकार की शराबें तैयार होती हैं लेकिन विदेश पसन्द बाबुओं के लिए तो वही चीज चाहिए जिसके लागत अधिक से अधिक हों, साथ ही देश के नहीं बल्कि विदेश के व्यक्ति एवं व्यापर को लाभ पहुँच सके।

उच्चकोटि की शराबों में आल्कोहल की निम्नलिखित मात्रा पाई जाती है—

ब्राण्डी में ५५%, ह्विस्की ५४%, रम ५३%, शैरी २३%, पोर्ट २२% और बीयर में ३%।

रक्त में एल्कोहल शोषण शक्ति होती है। अतः एल्कोहल का शोषण आमाशय में ही हो जाती है। रक्त में इसके पहुँचते ही उत्तेजना शुरू हो जाती है। यही कारण है कि इसका प्रयोग हृदयोत्तेजना के लिए विशेष रूप से होता है। इसके सेवन से चर्म की रक्तबहा सूक्ष्म नालियों में प्रसारण क्रिया होती है जिससे शारीरिक ताप का ह्रास होने लगता है, क्षणमात्र के लिए इससे मस्तिष्क

चेतना विशेष रूप से जागृत हो उठती है। लेकिन इस प्रकार के दक्षिण लाभ के आवरण में भयानक हानि की चिनगारियाँ छिपी रहती हैं।

औषधि के रूप में मद्य सेवन सर्वथा उचित और पेय एवं नशा के लिए इसका उपयोग केवल हानिकर ही नहीं बल्कि जघन्य पाप है। स्वास्थ्य, धन एवं प्रतिष्ठा आदि की मिट्टी पलीद करने में वेश्या, जूआ और शराब के स्थान विशेष महत्वपूर्ण हैं। नशावाली वस्तुओं की तरह शराब का भी साधारण मात्रा से ही चसका लगता है फिर साधारण से विशेष की नौबत आ पहुंची है जिसके फल स्वरूप झोपड़ी को कौन कहे बल्कि महल भी दहल उठते हैं। उसके विशेष सेवन से अपव्यय तथा निर्लज्जता के अतिरिक्त शरीर में नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। अगर स्फूर्ति के खयाल से इसको आवश्यक समझा जाय तो वैसी हालत में शराब के स्थान पर आयुर्वेदिक सिद्धान्तानुकूल प्रस्तुत "मृतसंजीवनी" का सेवन करना चाहिए।

शराब के अत्यधिक सेवन के फलस्वरूप यकृत, आमाशय, आमाशयिक झिल्ली तथा शरीर के अन्य भी कई एक अवयव विकृत हो जाते हैं। इसके चलते पित्त प्रक्रिया में विकृति के साथ-साथ पागलपन और रक्तबहा नालियों में भी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। अगर आमाशय में १०% आलकोहल पहुंच जाय तो पाचन क्रिया ठप प्राय हो जाती है। आलकोहल की बिल्कुल साधारण मात्रा से पाचन में सहायता मिलती है लेकिन विशेष मात्रा से पाचन बिल्कुल बन्द-सा हो जाता है। पारद एवं कुनैन आदि के अपव्यवहार से मद्य की अधिक मात्रा का सेवन विशेष हानिकर साबित हुआ है।

दुःख के साथ व्यक्त करना पड़ता है कि मद्यपान एवं धूम्रपान आदि का चसका फौज के सिपाहियों को भी लगाया जाता है। ब्रिटिशराज्यकाल में अफीम से रुपया पैदा करने के ख्याल से अफीम को मुफ्त बाँटने का प्रबन्ध किया गया था। इसके चलते अफीम प्रसार से अर्थ लाभ तो हुआ ही। ब्रिटिश सरकार को भारतवासियों के बिगड़े स्वास्थ्य पर अपना व्यापार भी अच्छी रीति से चला।

यद्यपि औषधि के लिए भिन्न-भिन्न रूप से गाँजा, अफीम, तम्बाकू तथा भाँग आदि का संग्रह अवश्य होता है लेकिन नशा की मस्ती के लिए प्रायः सभी वस्तुओं का परित्याग परमावश्यक है। ब्रिटिश वेष-भूषा, रहन, चलन और रियाज की इतनी बोल बाला थी कि अंग्रेज शासकों के चले जाने पर उनकी देन अभिशाप बन, प्रतिबिम्ब की तरह पीछे लगकर परेशान कर रही है।

●

अध्याय--५

ऋतुचर्या, रात्रिचर्या, दिनचर्या

देश विवरण

आयुर्वेद मतानुकूल देश दो प्रकार के माने जाते हैं, यथा :—देह देश और भूमिदेश।

देह-देश—से शारीरिक अवयवों जैसे:-हाथ, पैर, सिर तथा ऊँगली आदि का बोध होता है। भूमिदेश के विषय में कुछ ऐसी बातें हैं जिनका अध्ययन ही नहीं बल्कि सांगोपांग मनन करना बहुत ही आवश्यक है।

"भूमिदेश"—भूमिदेश तीन प्रकार का होता है, जांगल देश, आनूपदेश और साधारण देश।

जिस देश में जल, पर्वत और वृक्ष कम होते हैं उसको जांगल देश कहते हैं। इस प्रकार के देशों में वादी का विशेष प्रकोप होता है जिसके चलते वहाँ के निवासी ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी आदि भी, यहाँ तक कि वहाँ पैदा होने वाली वायु प्रधान होती है। "औषधि के विषय में औषधि संग्रह प्रकरण में विशेष व्याख्या की गयी है।"

जहाँ पर जल और वृक्ष ज्यादा होते हैं, हवा कम चलती है तथा धूप बहुत कम आती है उसको अनूप देश कहते हैं। इस प्रकार के देश कफ प्रधान होते हैं और तदनुकूल ही वहाँ के निवासी, पशु-पक्षी तथा औषधि आदि के गुण भी होते हैं।

जिस देश में सर्दी, गर्मी और वर्षा समान रूप में होती है उसको साधारण अथवा मिश्र देश कहते हैं। चिकित्सा करते समय देश-विचार भी करना चाहिए। चूंकि जो मनुष्य जिस देश में पैदा होते हैं उनकी प्रकृति तदनुकूल ही होती है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि उसके जन्म एवं निवास-स्थान

के साथ ही प्रकृति तथा गुण आदि पर भी ध्यान रखकर निदान एवं चिकित्सा-मार्ग का निर्वाचन हो। यद्यपि निदान एवं चिकित्सा प्रकरण में तद्विषयक चर्चा का समावेश है फिर भी त्रिदोषानुकूल वात प्रकृति, पित्त प्रकृति और कफ प्रकृति के मुताबिक देश विवरण की बातों से मिलान कर कार्य करने में विशेष सहूलियत होगी।

●

अवस्था और काल

अवस्था के बारे में तो बहुत ज्यादा लिखने की आवश्यकता है। अवस्था के कई एक भेद हैं, लेकिन चिकित्सा के लिए साधारणतः बाल, तरुण और वृद्ध ये तीन प्रमुख समझी जाती हैं। विभिन्न दृष्टिकोण जैसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति की महत्ता समझी जाती है। इसी प्रकार अन्य दृष्टिकोण से अन्य अवस्थाओं की।

अवस्थानुकूल वायु, पित्त एवं कफ का निम्न प्रकरण सम्बन्ध है, यथाः—बाल्यावस्था में कफ, युवावस्था में पित्त और वृद्धावस्था में वायु की बाहुल्यता होती है।

काल से भी कई एक अर्थ निकलते हैं जिसमें चिकित्सा के लिए दो अर्थ—समय और मृत्यु को लिया जा सकता है। समय शब्दानुकूल भी काल के तीन भाग हैं, जैसे—शीत काल, उष्ण काल और वर्षा काल। मृत्यु शब्द विषयक काल की परिभाषा ही निदान और चिकित्सा दृष्टिकोण से बहुत ही महत्वपूर्ण है।

मृत्यु की परिभाषा पर तो बहुत बड़ा ग्रंथ लिखा जा सकता है लेकिन यहाँ पर केवल इतना ही ग्रहण करना है कि किन-किन रोगों में किन अवस्थाओं में रोग पहुँचने पर मृत्यु हो जाती है। आयुर्वेद शास्त्र में इसके लिए बहुत से लक्षण वर्णन किए गए हैं जैसेः—जिस रोगी को दिन को जाड़ा और रात को गर्मी मालूम हो, नाक टेढ़ी हो जाय, इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जायँ और जिस रोगी का सूर्योदय के समय दाहिना और सूर्यास्त के समय बायाँ स्वर चले उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। मेरा अपना अनुभव है

कि निम्नलिखित नक्षत्र, तिथि एवं वार तीनों के मध्य रोगोत्पति होने पर रोगी अवश्य मर जाता है।

चौथी, षष्ठी, अष्टमी और द्वादशी तिथि; रवि, शनिश्चर और मंगलवार तथा तीनों पूर्वा, आर्द्रा, स्वाती, भरणी, मूल, शतभिषा और अश्लेषा नक्षत्र में। अगर नक्षत्र तिथि और वार तीनों प्रतिकूल हों तो मृत्यु में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। इसके लिए मैं खुद बहुत बार परीक्षा कर देख लिया हूँ।

●

ऋतुचर्या, रात्रिचर्या, दिनचर्या

आयुर्वेदशास्त्र में ऋतु, रात्रि और दिनचर्या का बहुत बड़ा महत्व है। इसकी उपयोगिता पर एक अंग्रेज विद्वान ने लिखा है कि पाश्चात्य देश-वासियों को अभी भारतवर्ष से बहुत कुछ सीखने की आवश्यकता है। उसने साफ लिखा है कि पाश्चात्य देशवासी पाखाना फिरने भी नहीं जानते हैं। पाश्चात्य देश के अधिकांश लोग (जो सभ्य कहे जाते हैं) खड़े-खड़े मल त्याग करते हैं जिसके चलते बनिस्वत भारतवर्ष के पाश्चात्य देशों में अन्त्रवृद्धि रोग की बाहुल्यता देखने में आती है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे शास्त्रों में सभी बातों का सविस्तार वर्णन है लेकिन अध्ययनाभाव के कारण आज का अखबारी वहक उन बातों को पिछड़ी पीढ़ियों का पचड़ा कह कर टाल देने में अपनी शान समझता है।

पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यतानुकूल भारतवासी स्वास्थ्य एवं चिकित्सा विषयक प्रायः, वे ही नियम अपनाने लग गए हैं जिनके लिए कुछ व्यय करना पड़े। प्रातःकाल विस्तरे से उठते ही हरिस्मरण का स्थान (Bed tea) विस्तरे की चाय ने ग्रहण कर लिया है। विश्ववंद्य पूज्य बापू ने (Young India) यंग इंडिया में ता० २९-९-२० को लिखा था—

मैं वेद, पुराण, उपनिषद्, धर्मग्रन्थ एवं वर्णाश्रम धर्म को मानता हूँ। गोरक्षा पर भी मेरा विश्वास है तथा मूर्तिपूजा पर भी।

अपने "नव जीवन" में लिखा है—रामनाम के प्रताप से पत्थर तैरने लगे, रावण जैसे महाप्रतापी के छक्के छुड़ाने में बन्दर समर्थ हुए, रामनाम के सहारे ही श्री हनुमान जी ने पर्वत उठा लिया और राक्षसों के घर अनेक वर्ष रहने पर भी सती सीता अपने सतीत्व को बचा सकी। भरत ने चौदह साल तक प्राण धारण कर रक्खा क्योंकि उनके कण्ठ से रामनाम के सिवा कोई शब्द नहीं निकलता था। इसलिए तुलसीदास ने लिखा है—कालकाल का मल धो डालने के लिए रामनाम जपो। महात्मा गांधी आगे लिखते हैं—मैं व्यभिचारी होने से बचा हूँ तो रामनाम की बदौलत। जब-जब मुझ पर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने रामनाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटों से रामनाम ने मेरी रक्षा की है!

"करोड़ों हृदयों का अनुसन्धान करने और उनमें ऐक्य भाव पैदा करने के लिए एक साथ रामनाम की धुन के सिवा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।" ये उद्‌गार हैं प्रातःस्मणीय महात्मा गांधी के। ऋतु, रात्रि और दिनचर्यानुकूल आचरण करने पर वर्तमानयुग में प्रचलित स्वास्थ्य परिचय और स्वास्थ्य सहचर देखने तथा मन को रोग सिन्धु में डूबने की कत्तई आवश्यकता नहीं होगी। स्थानाभाव के कारण उक्त विषयक चर्या यहाँ संक्षेप में अंकित की जाती है। लेकिन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए अन्य ग्रन्थों का अवलोकन करना नितान्त आवश्यक है।

ऋतु—हेमन्त, शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद ये ६ ऋतुएँ हैं। बारह महीने का वर्ष होता है जिसमें निम्नलिखित दो-दो मास एक-एक ऋतु में व्यतीत होते हैं, यथा—

अगहन और पौष हेमन्त, माघ और फाल्गुन शिशिर, चैत और बैसाख बसन्त, जेठ और अषाढ़ ग्रीष्म, सावन और भादो वर्षा तथा आश्विन और कातिक शरद ऋतु में।

शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उत्तरायण और वर्षा, शरद एवं हेमन्त ऋतु में दक्षिणायन हो जाते हैं। उत्तरायण में तिक्ति, कषाय और कटु

पराक्रमी होते हैं और दक्षिणायन में खट्टा, खरा और मधुर। पानी बरसने और ठंढी हवा के चलने से पृथ्वी पुष्ट और शीतल हो जाती है जिसके फलस्वरूप चन्द्रमा बलशाली और सूर्य बलहीन हो जाते हैं। अतः इन ऋतुओं में क्रमशः खट्टे, खरे और मधुर बलवान हो जाते हैं।

बल और ऋतु सम्बन्ध

हेमन्त और शिशिर ऋतु में उत्तम बल, वर्षा और ग्रीष्म ऋतु अल्पबल, और शरद तथा बसन्त ऋतु में मध्यम बल की प्राप्ति होती है।

ऋतु एवं वायु पित्त और कफ से सम्बन्ध—ग्रीष्म ऋतु में "वायु" का सञ्चय, वर्षाऋतु में कोप और शरद ऋतु में शान्ति रहती है। वर्षा ऋतु में **"पित्त"** का सञ्चय; शरद ऋतु में प्रकोप और हिम ऋतु में शान्ति रहती है। इसी प्रकार शिशिर ऋतु में **"कफ"** का सञ्चय, बसन्त में प्रकोप और ग्रीष्म ऋतु में शान्ति रहती है।

त्रिदोष का सञ्चय, प्रकोप एवं शान्ति प्रगति विशेषकर आहार-विहार से ही हुआ करती है। आहार विषयक विश्लेषण इसी ग्रन्थ में अन्यत्र अङ्कित है लेकिन ऋतुओं के अनुकूल आहार-विहार का संक्षिप्त दिग्दर्शन निम्न प्रकार है—

हेमन्त का आहार-विहार—गेहूँ, उर्द, तिल, मिश्री, गाय और भैंस का नया घी, मीठा दही तथा सोंठ युक्त हर्रे का सेवन करना, तेज वायु से रहित स्थान में निवास तथा गर्म ऊनी वस्त्रों का धारण करना लाभपद है। इस ऋतु में शीत बाहुल्यता के कारण शरीर की अग्नि भीतर रुकी रहती है जिसके फल स्वरूप जठराग्नि तेज हो जाती है। अतः पुष्ट भोजन के अभाव में शरीर स्थित धातुओं का ह्रास होने लगता है। जठराग्नि की प्रबलता के कारण ही इस ऋतु में पौष्टिक पाक, मेवा तथा वाजीकरण पदार्थों का सेवन विशेषरूप से होता है। हेमन्त में धूप का सेवन भी लाभप्रद है।

अन्य ऋतुओं की अपेक्षा इस ऋतु में आहार के साथ-साथ तेल मर्दन-व्यायाम तथा मैथुन की अधिक मर्यादा है। यद्यपि आहार की तरह व्यायाम

और मैथुन प्रकरण अलग लिखा गया है फिर भी उक्त विषयक संक्षिप्त चर्या निम्न प्रकार है :—

इस ऋतु में दिन की अपेक्षा रात्रि बड़ी होती है। अतः प्रातःकाल शौचादि से निवृत होकर दन्त धावन, स्नान एवं संस्कारानुकूल व्यायाम, हवन, पूजन और प्राणायाम आदि के निवृत्त होकर भोजन कर लेना चाहिए। तैल मर्दन और शरीर ढंके रहने के कारण लोमकूप बन्द हो जाना सम्भव है। अतः स्नान करते समय शरीर को खद्दर के गमछे अथवा मोटी तौलिया से अच्छी तरह से पोंछ डालना अत्यावश्यक है। रात्रि में रुई, ऊन अथवा भेड़ के रोएँ युक्त वस्त्र, अंगीठी रक्खा हुआ कमरा तथा बलाबलानुकूल व्यायाम एवं मैथुन का महत्त्व है। **"मैथुन के विषय में ब्रह्मचर्य प्रकरण पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।"**

शिशिर ऋतु :—इस ऋतु में अदरख, काली मिर्च, सेंधा नमक, गुड़ नवीन, घी, पिपलीयुक्त हर्रे और दही आदि का सेवन करना चाहिए। हेमन्त ऋतु की अपेक्षा इस ऋतु में जाड़ा की अधिकता रहती है। अतः इस ऋतु में विशेषकर वही पदार्थ सेवन योग्य हैं जिनकी चर्चा हेमन्त ऋतु में की गयी है।

बसन्त ऋतु :—शिशिर ऋतु में स्निग्ध और मधुर पदार्थों के सेवन स्वरूप अत्यधिक कफ संचय हो जाता है जो बसन्त ऋतु में सूर्य के प्रभाव से पिघल कर जठराग्नि को मन्द कर देता है जिसके फलस्वरूप नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। इस ॠतु में मधु-युक्त हर्रे, चित्रक चूर्ण तथा अन्य ऐसे पदार्थों का सेवन करना चाहिए जिनमें कफ नाशक गुण वर्तमान हों। कफ शमनार्थ वमन, नस्य, हलका और रूखा भोजन लाभप्रद है।

बसन्त की दिनचर्या के मध्याह्न काल निवास के विषय में लिखा है :— जिस स्थान में शीतल वायु का मन्द बहाव दक्षिणी दिशा की ओर से होता हो, जिसके चारों ओर जल की नालियाँ बहती हों, जहाँ झुरमुट की झिलमिली झरोखे से सूर्य भगवान के झाँकने का निरन्तर प्रयास जारी हो, जहाँ मनोहर पुष्पों की सुगन्ध से आनन्द मग्न कोकिल कुहू-कुहू करते हुए आमोद-प्रमोद की

स्वर लहरी से मन को सराबोर कर देती हो उसी स्थान पर बसन्त ऋतु के मध्याह्न काल में निवास करना चाहिए। इस ऋतु में दिन को सोना रोग को आमंत्रित करना है।

ग्रीष्म ऋतु—इस ऋतु में कफ का नाश और वायु की वृद्धि होती है। अतः तिक्त, कटु और अम्ल रसों का परित्याग परमावश्यक हो जाता है। भोजन के लिए शीतल, मधुर एवं स्मिग्ध पदार्थों को ही लेना चाहिए। सफेद चावल एवं जङ्गली पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन फायदेमन्द होता है। सत्तू और शक्कर घोल कर पीना हितकर है। मिट्टी के पात्र, सुराही आदि में रक्खा हुआ शीतल जल का सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में मद्यपान और कसरत करना हानिकर है। रात को गाय अथवा भैंस का औंटा हुआ दूध पीना चाहिए। इस ऋतु में रात को खुली छत चाहे खुले मैदान में चन्द्र किरण का आनन्द महीन वस्त्र पहन कर लेना चाहिए। कमलयुक्त सरोवरों के समीप दिन अथवा रात को निवास करना स्वास्थ्यवर्धक है। इस ऋतु में दोपहर के सोने को भी अच्छा कहा गया है। इस ऋतु में बल का ह्रास होता है।

वर्षा ऋतु :—इस ऋतु में आकाश बादलों से ढक जाता है, जलकणों के प्रभाव से वायु शीतल हो जाता है तथा पृथ्वी की गर्मी के सम्मिश्रण से जल-कीचड़ युक्त गंदला हो जाता है। अतः विपाक खट्टा हो जाने से अग्नि मंद पड़ जाती है जिसके फलस्वरूप वर्षाकाल में **"त्रिदोष"** एक साथ ही न्युनाधिकता को प्राप्त होकर उपद्रव करने में समर्थ होते हैं। इस ऋतु में वमन-विरेचन द्वारा शरीर शुद्ध करना चाहिए। सेंधा नमक युक्त हर्रे, गेहूँ, जौ, नमक; खटाई, सोंठ, मिर्च, पीपल, कुएँ का पानी, औंटा हुआ जल, हलका भोजन और सफेद वस्त्र का सेवन लाभप्रद और जंगल में निवास, दिन को सोना, श्रम तथा विशेष मैथुन भयानक हानि करने वाला है।

शरद ऋतु :—वर्षा ऋतु का शीत मानव शरीर के अनुकूल हो जाता है लेकिन शरद ऋतु में सूर्य की किरणों से तप्त होकर **"पित्त"** अत्यन्त कुपित हो जाता है। ऋतु में अच्छी तरह भूख लगने पर तिक्त, मधुर, कषाय रस युक्त

बिल्कुल हलका भोजन करना चाहिए। सांठी का चावल, मूंग, मधु, परवल, रमतरोई, आँवला, चीनी एवं जंगली पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करना लाभदायक है।

सूर्य किरण से दिन भर तप्त और चन्द्र ज्योति में रात भर ठंढा होने वाला जल अगस्त तारा के उदय होने पर स्वच्छ हो जाता है। इस प्रकार के जल को **"हंसोदक"** कहते हैं। इस पवित्र जल का सेवन लाभदायक होता है।

शरद ऋतु के सायंकाल में सुगंधित द्रव्यों का सेवन, श्वेत वस्त्र धारण तथा रात्रि के प्रथम प्रहर में कुछ देर तक चन्द्र ज्योति में रहना स्वास्थ्यवर्धक है। इस ऋतु में मिश्री युक्त हर्रे का सेवन लाभ और दिन में शयन, विशेष भोजन, ओस, क्षार, मद्य, दही, तेल, चर्बी, गर्म मसाला के सेवन से भयानक हानि होती है।

ऋतु संधि

दो ऋतुओं के बीच का समय जैसे जानेवाली ऋतु का अन्तिम सप्ताह और आनेवाली ऋतु का प्रथम सप्ताह ऋतु सन्धि के नाम से विख्यात हैं। इस बीच के समय में पहली ऋतु की कही हुई विधि का त्याग और आनेवाली ऋतु की चर्यानुकूल आचरण करना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व अभ्यास को एक-एक बदल देने से असात्म्यज रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अत अभ्यस्त विधि को धीरे-धीरे परित्याग और अनभ्यस्त को क्रमशः ग्रहण करना ही स्वास्थ्य के अनुकूल होगा।

ऋतु, रात्रि एवं दिनचर्या की तरह भोजन के विषय में भी बहुत सुन्दर बातें लिखी गयी हैं लेकिन इस युग में उन बातों की भी खिल्ली उड़ाई जाती है। यद्यपि प्राचीन ग्रंथों में भी हलवाई तथा भोजन गृह (जिसको होटल भी कह सकते हैं) का उल्लेख मिलता है। लेकिन भोजन करने की रीति में बहुत बड़ी असमानता उपस्थित हो गयी है। भोजन के बारे में लिखा है कि अपने यहाँ आए हुए अतिथि को पहले भोजन कराकर खुद कुटुम्बसहित भोजन करना

चाहिए। भोजन के स्थान के बारे में लिखा है कि भोजन-गृह एकान्तमय और हवादार होना परमावश्यक है। भोजन करते समय माता, पिता, मित्र, वैद्य, रसोइयादार के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं रहना चाहिए, सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि—मोर, चकोर, मुर्गी, कौआ, बन्दर, कुत्ता आदि की दृष्टि भोजन पर नहीं पड़नी चाहिए।

जहाँ हमारे शास्त्रों में भोजन विषयक इस प्रकार की बातों का वर्णन है वहीं पर आज के सभ्य कहलाने वाले लोग जूता कस कर कुत्ता के साथ-साथ भोजन करने में अपनी साहबी शान की शोभा बढ़ाने में व्यस्त देखे जाते हैं।

भोजन करने के समय सर्वप्रथम नमकयुक्त अदरख के दो तीन छोटे टुकड़े खाने के पश्चात् मधुर, चिकना हितकारी पदार्थ जैसे—गेहूँ, चावल तथा मूंग से बने पदार्थ और शाक भाजो शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे चबा-चबा कर खाना चाहिए। भोजन के पश्चात् अथवा रात के सोने के समय मिश्री मिला हुआ गर्म दूध का सेवन करना चाहिए।

भोजन करते समय जल सेवन के बारे में लिखा है कि भोजन के आदि में जल सेवन से मन्दाग्नि और अन्त में जल सेवन से उदर सम्बन्धी कई एक प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। अतः भोजन करते समय बीच में ही थोड़ा-थोड़ा जल पीना अच्छा होता है।

भोजन के उत्तम पाक के लिए उक्त नियमों के साथ-साथ भोजनोपरान्त महाबलशाली भीम तथा अगस्त आदि का स्मरण करना चाहिए। भोजनोपरान्त ऋतुअनुकूल वस्त्र के अलावे पान तथा इलायची आदि मुख शुद्ध करने वाले द्रव्यों का उपयोग लाभप्रद है। भोजनोपरान्त बाएँ करवट सोना चाहिए क्योंकि पीठ के बल सोने से बल और बाएँ करवट सोने से आयु वृद्धि होती है। अगर सोने की आदत न हो तो भोजनोपरान्त कम से कम सौ डेग अवश्य चलना चाहिए। भोजन के बाद बैठे रहने से शरीर भारी हो जाता है और दौड़ने से मृत्यु का ही आगमन होता है। जैसा कहा भी गया है कि :—

भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा, शयानस्य तु पुष्टता।
आयुश्चंक्रममाणस्य, मृत्युर्धावतिधावतः॥

अर्थात् भोजन के बाद बैठने से तन्द्रा, सोने से स्थूलता और टहलने से आयु की वृद्धि होती है। जो भोजन के बाद दौड़ता है उसके पीछे उसकी मृत्यु दौड़ती है और भोजन के बाद कठिन श्रम नहीं करना चाहिए। अधिक अवस्था के और सुकुमार शरीर वालों के लिए लिखा है कि भोजन के बाद आराम से तब तक बैठें जब तक कि अन्न पच न जाय 'भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्न क्लमोगतः'। रात्रि के भोजन के बाद लिखा हैं कि 'भुक्त्वा शतपदं गच्छेत् वाम पार्श्वे तु संविशेत' भोजन के बाद सौ पग चले और बाईं करवट सोवे।

संध्या समय अर्थात् गोधूलि में भोजन-अध्ययन, मैथुन और निद्रा का निषेध है।

एतानि पञ्चकर्माणि सन्ध्यायां, वर्जयेद्बुधः।
अहारं मैथुनं निद्रा सम्पाठम् गतिमध्वनि ॥

उक्त समय में भोजन से रोगोत्पत्ति, अध्ययन से दृष्टि मांद्य और आयु का नाश, मैथुन से भयंकर संतान और निद्रा से आलस्य तथा दरिद्रता का प्रादुर्भाव होता है। प्रातःकाल तथा सायंकाल ईश्वराधना करने का बहुत ही सुन्दर समय है।



वमन, विरेचन, स्वेद, वस्तिकर्म, धूम्रपान और रक्तनिष्कासन

वमन—भोज्य पदार्थ को मुख द्वारा बाहर निकलने को वमन कहते हैं। अगर स्वतः वमन होने लगता है तो इसके चिकित्सा की आवश्यकता होती है लेकिन अजीर्ण, विष सेवन और कई एक अवस्था में उदर स्थित मल निष्कासन के लिए वमन अनिवार्य हो जाता है। शरद्, बसंत और वर्षा ऋतु में प्रायः प्रत्येक मनुष्य को वमन की आवश्कता हो सकती है।

इस प्रक्रिया से हृद्रोग, कफ, कास, कुष्ठ, श्वास, मृगी, मंदाग्नि, श्लीपद, विसर्प, भ्रम, पीनस तथा उन्माद, अतिसार, अजीर्ण एवं मेद वृद्धि आदि रोगों

का नाश हो जाता है। उदर रोग, वात रोग, क्षुधित मनुष्य तथा गर्भिणी को वमन कराना हानिकर है।

विरेचनः—विधिपूर्वक वमन कराने के पश्चात् कफ को पकाने वाली औषधियों को सेवन कराने के पश्चात् विरेचन की क्रिया उत्तम एवं लाभप्रद होती है। खासकर शरद् और बसंत ऋतु में विरेचन का प्रयोग विशिष्ट समझा जाता है। विरेचन से वात रक्त, भगंदर, पाण्डुरोग, उदररोग, गुल्म, नेत्र, कृमि और योनिरोग, नाक, कान के रोग, शोथ, मूत्रघात, प्रमेह, विसूचिका, व्रण, हृद्रोग तथा कुष्ठ आदि रोगों का शमन होता है।

बालक, वृद्ध, प्यासे, भूखे, भयभीत, कमजोर और रूक्ष शरीर वाले मनुष्य तथा प्रसूता और गर्भिणी स्त्री को विरेचन देना हानिकर है। अगर किसी प्रकार ऐसा करने की नौबत आ जाय तो बहुत ही साधारण विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् वैसी औषधियों का प्रयोग करना चाहिए जिसमें मल निःसरण करने की साधारण शक्ति हो।

वात प्रकृति वाले मनुष्य को कड़ा, पित्त प्रकृति वाले मनुष्य को कोमल और कफ प्रकृति वाले मनुष्य को मध्यम गुणवाला विरेचन हित कर होता है।

स्वेदः—ताप, उष्ण, उपनाह और द्रवस्वेद इनके प्रयोग से पसीना निकलता है। शोथ, दर्द एवं चोट आदि प्रदाह पर भी स्वेद से लाभ होता है।

बालू, नमक तथा वस्त्र की पोटली हाथ को अँगीठी पर गर्म कर स्वेद करने को "**ताप स्वेद**" और ईंट, पत्थर तथा लोहा को गर्म कर उससे पसीना निकालने को "**उष्ण स्वेद**" कहते हैं। ताप और उष्ण दोनों के संयुक्त स्वेद को "**उपनाह स्वेद**" और वातनाशक औषधियों को औंटकर वस्त्र से ढके शरीर का प्रक्षालन एवं वाष्प स्वेद को "**द्रव्य स्वेद**" कहते हैं।

वस्तिकर्मः—वात प्रकोप के उपद्रव-स्वरूप पाखाना और पेशाब रुक जाने पर मलद्वार और मूत्र-द्वार में सोने अथवा जस्ता की बनी यंत्रों द्वारा मलमूत्र निकालने को वस्ति कर्म कहते हैं। उक्त यंत्रों के आकार का भी सविस्तार वर्णन है लेकिन धातु के अलावे अब रबर की बनी '**एनिमा एवं कैथेटर**' का उपयोग होने लगा है।

जिन रोगियों को उक्त यंत्रों द्वारा वस्तिकर्म करना हो उन्हें अल्प और सूखा भोजन देना चाहिए। चिकने और विशेष भोजन में हानि 'नुकसान' पहुँचता है। मल-मूत्र उतारने के लिए पिचकारी की प्रयोग विधि में लिखा है कि—पिचकारी लगाते समय चिकित्सक अथवा रोगी को छींकना, खाँसना तथा जँभाई नहीं लेनी चाहिए।

वस्ति कई एक प्रकार की होती है, यथा—निरूहवस्ति, मधुतैल वस्ति, पिच्छिलवस्ति, बृंहणवस्ति, स्थापनवस्ति, शोधनवस्ति, लेखन वस्ति उत्क्लेदन-वस्ति शमनवस्ति, दोषहरण वस्ति, सिद्धवस्ति और फलवस्ति आदि। इन वस्तियों में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का प्रयोग होता है और तदनुकूल प्रक्रिया भी होती है यथा—वात रोग के शमनार्थ बारह अंगुल लम्बी कड़ी पिचकारी द्वारा गुदा के अन्दर और बाहर धार देने को फलवस्ति कहते हैं। इस प्रकार की यांत्रिक प्रक्रिया केवल वस्ति कर्म के लिए ही नहीं बल्कि सूचीवेध के लिए भी प्रयोग की जाती थी।

●

वर्तमान युग की सूचिवेध प्रणाली (Injection)

वस्ति चिकित्सा सूचिवेध चिकित्सा का ही एक अंग है। बात ऐसी नहीं कि आयुर्वेद शास्त्र में सूचिवेध की प्रक्रिया चिन्ह नहीं हो, लेकिन इसको परिष्कृत ढंग से विश्व के सामने रखने का श्रेय पाश्चात्य देशवासियों को ही है। किसी कारण वश रोगी का कण्ठ बंद हो जाता है अथवा कै-दस्त की प्रबलता हो जाती हैं तो सूचिवेध का अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। यद्यपि उन हालतों में भी दवा का बाहरी प्रयोग जैसे-अभ्यंग और नाक द्वारा दवा सूंघ कर चिकित्सा व्यवस्था के प्रचुर साधन हैं फिर भी सूचिवेध्य द्वारा कुछ विशेष लाभ अवश्य होते देखा गया है। यद्यपि इसकी विशेष प्रतिष्ठा देखने में आती है फिर भी प्रत्येक रोग में इसका उपयोग अनुचित ही कहा जा सकता है। कठिन रोगों में भी (जैसे हृदय गति रुकने की परिस्थिति आदि में) **कोरामीन** की क्रिया ठीक नहीं होने पर पुनः **"मकरध्वज"** का ही सहारा लेना पड़ता है जो केवल

आयुर्वेद चिकित्सक ही नहीं बल्कि एलोपैथिक विज्ञानी भी निःसंकोच ऐसा करते हैं। यह बात केवल कपोलकल्पित नहीं बल्कि मैं अपनी आँखों देखी बात लिखता हूँ।

Inject शब्द का हिंदी भाषान्तर वेध होता है। इसी आधार पर Injection सूचिवेध अर्थात् चमड़ा वेध कर शरीर में औषधि भरने को इन्जेक्शन कहते हैं।

सूचिवेध के लिए पिचकारी की आवश्यकता होती है जो धातु या काँच अथवा धातु और काँच दोनों से बनी होती है। यह तीन भागों में विभक्त होती है। यथा—**पिस्टन**—जिसके द्वारा दवा ठेली जाती है, **बैरल**—जिसमें दवा रहती है और **निडल** जिसके द्वारा चमड़ा छेदा जाता है। सूचिवेध करने के पहले और बाद में सूचिवेध यंत्र को अच्छी तरह से गर्म जल से धो लेना परमावश्यक है। गर्म जल से धोने के अलावे अब्सोल्यूट अलकोहल (Absolute Alcohol) से यंत्र को अच्छी तरह साफ करना चाहिए। सूचिवेध्य यंत्र की सफाई के साथ-साथ चिकित्सक को अपने हाथों की सफाई का भी पूर्ण ख्याल रखना चाहिए साथ ही रोगी के शरीर के वेध्य स्थान का भी। इन्जेक्शन लगने के पहले चिकित्सक को अपना हाथ अच्छी तरह से साफ कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् सूई की पिचकारी को निर्विष करके वेध्य स्थान को गर्म जल से साफ कर लेने के बाद अब्सोल्यूट अलकोहल लगाकर मुलायम बना लेना चाहिए।

सूचिवेध की औषधियाँ—गोली, चूर्ण एवं तरल रूप में प्राप्त होती हैं। गोली और चूर्ण वाली दवाओं को परिश्रुत जल अथवा अन्य तरल औषधियों के सम्मिश्रण से प्रयोग किया जाता है। तरल औषधियाँ एम्पूल और रबर की डाटदार शीशियों में मिलती हैं। एम्पूल को तो काटकर पिचकारी के सहारे दवा खींच ली जाती है लेकिन डाटदार शीशी में पिचकारी के पिस्टन के दबाव द्वारा वायु प्रवेश कराने पर उसके सहारे पिचकारी में दवा आ जाती है। साधारणतः खाने की मात्रा से बहुत ही कम मात्रा सूचिवेध के लिए ली जाती हैं।

सूचिवेध के प्रायः दो भेद हैं—

सरल (Simple)—जो प्राकृतिक छिद्रों में दी जाती है और—

हाइपोडरमिक (Hypodermic)—जो चमड़ा छेद कर दी जाती है। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों को वेध कर सूई लगाने से सूचीवेधन कला निम्न भागों में विभक्त की जा सकती है, यथा—

अन्तस्त्वक्-इण्ट्राक्यूटानियस (Intracutaneous)—यह भी टीका का ही एक भेद है।

अवत्वक्-हाइपोडरमिक (Hypodermic) **सबक्यूटानियस** (Subutaneous)-चमड़ा के नीचे सिरा और धमनी बचा कर दी जाती है।

अन्तःपेशी (Intramuscular)—मांशपेशी में दी जाती है।

अन्तःशिरा (Intravenous) शिरा में दी जाती है।

अवश्लेष्मकला (Submucus)—श्लेष्मिक झिल्ली के नीचे दी जाती है।

अन्तःपर्युदर्या (**इण्टर पोरिटोनियल** Interporitonial)-इसके द्वारा सैलाइन का प्रयोग होता है।

अवनेत्रश्लेष्मला सबकंजक्टिवल (Subconjuctival)—आँख के ऊपरी पर्दे में दी जाती है।

अन्तर्हृद (**इंट्राकार्डियल** Intracardial)—हृत्पिण्ड की मांसपेशी में दी जाती है।

अन्तःकपाल (**इण्ट्राक्रेनियल** Intracranial)—खोपड़ी भेद कर दी जाती है।

अन्तर्निलय (Intraventricular)—मस्तिष्क के निलयों में दिया जाता है।

अन्तर्मेरुनाल-इण्ट्रास्पाइनल (Intraspinal)—मेरुदण्ड में दी जाती है।

सबड्यूरल (Subdural)—मस्तिष्क और "ड्यूरला" के बीच दी जाती है।

अन्तर्भित्तिक इण्ट्राम्यूरल (Intramural)—शिरा के ऊपरी पर्दा में दी जाती है।

अन्तःसन्धि-इण्ट्राआर्टिक्युलर (Intra-articular)—हड्डियों की संधि-स्थान में दी जाती है।

अन्तःसीरमीकला-इण्ट्रासिरस (Intraserous)—**सिरस मेम्ब्रेन कैविटी में** दी जाती है। और—

सिम्पल (Simple)—"साधारण" जो प्राकृतिक छिद्रों में दी जाती है।

पिचकारी में दवा भरते समय पिचकारी में हवा भर जाना स्वाभाविक है। अक्सर देखने में आता है कि दवा भर लेने पर पिचकारी में बूंद-बूंद आ जाते हैं जो हवा के प्रतिसूचक हैं। इंजेक्शन लगाते समय उन बूंद-बूदों को बिलकुल निकाल देना चाहिए वरना औषधि के साथ-साथ हवा के प्रवेश में भयानक हानि होती है। अतः इन्जेक्शन लगाने के पहले हवा को निकाल देने के पश्चात् दो एक-बूंद दवा निकाल दी जाती है ताकि उक्त हानि का जरा भी भय नहीं रह जाय। बच्चों को सूई लगाने के लिए अत्यन्त बारीक नीड्ल लेनी चाहिए।

इन्जेक्शन लगाते समय बहुत धीरे-धीरे दवा को ठेलना चाहिए। इन्जेक्शन की पिचकारी निकालते समय ख्याल रखना चाहिए कि पिचकारी में बची दवा वेध्यस्थान में नहीं लगने पावे। सूचिवेध की विशिष्टता विशेषकर विज्ञापन एवं व्यापार की असर देन है। इसका विशेष प्रचार होने के कारण प्रायः सभी प्रणाली के विशेष चिकित्सक इसको अपनाने लग गये हैं। वास्तव में कोई कला अथवा विज्ञान किसी खास जाति अथवा देश की चीज नहीं है बल्कि वह विश्व की वस्तुएँ हैं। फिर भी उपयोग के विषय में कम से कम उक्त विधायक ज्ञानार्जन आवश्यक ही नहीं बल्कि विशेष अनिवार्य है। अतः सूचिवेध करने के पहले तद्विषयक किसी संस्था अथवा शिक्षण संस्था में ज्ञानार्जन कर लेना चाहिए।

यद्यपि इस प्रसंग में अनेक प्रकार की भेदन विधि बतलाई गई है लेकिन

साधारणतः, साधारण अवत्वक् अन्तःपेशी और अन्तःशिरा प्रयोग बहुतायत से होता है। लेकिन इन इंजेक्शनों के लगाने के पहले ही साक्षात् ज्ञानार्जन की परमावश्यकता है।

हर्ष की बात है कि आज हमारे कतिपय आयुर्वेद शास्त्री भी सूचीवेध की औषधियाँ तैयार करते हैं लेकिन इसमें विशेष प्रगति एवं परीक्षा की आवश्यकता है जिसके चलते पाश्चात्य देश की ओर मुँह कर भगीरथ प्रयत्न-स्वरूप प्रतीक्षा का अन्त हो जाय।

धूम्रपान

धूम्र का दो प्रकार से प्रयोग होता है, यथा धूम्रपान और हवन। धूम्रपान से हुक्का आदि का बोध होता है और हवन से धूनी आदि का।

हुक्का आदि विषयक धूम्रसेवन को ६ भागों में विभक्त किया जाता है। इलायची आदि का धूम्र शमन करने वाला, शरपत आदि का बृंहण, तीक्ष्ण औषधियों का रेचन, चमड़े आदि का धूम्र वमन कारक, काली मिर्च आदि का धूम्र श्वास खांसीहारक और नीम तथा बच आदि का धूम्र व्रणोपद्रव निवारक होता है।

श्रम, भय, उदर, तालु, पाण्डु, प्रमेह, प्रहार तथा शिरोग्रह के रोगियों को तथा बालक, वृद्ध, एवं गर्भिणी को धूम्रपान का नाम तक नहीं लेना चाहिए। दुःख के साथ लिखना पड़ रहा है कि आज नन्हें-नन्हें बच्चों के हाथ बीड़ी और सिगरेट की भरमार नजर आती है। सिर्फ इतना ही नहीं धूम्रपान सामग्री पर एक बहुत बड़ा व्यापक व्यापार खड़ा है जिसके चलते भयानक हानियाँ हो रही हैं। पाठशालाओं में स्वास्थ्य परिचय पढ़ाने के बदले धूम्रपान का निस्त-नाबूद कर दिया जाता तो बहुत ही अच्छा था। पाश्चात्य सभ्यतानुकूल किसी के दिए हुए सिगरेट को अस्वीकार करना प्रायः देने वाले व्यक्ति का अपमान समझा जाता है। बलिहारी है इस सभ्यता और व्यापारवृद्धिन्मुख भावना को।

रक्त निष्कासन

रक्त निष्कासन अर्थात् रक्त विमोचन। अक्सर देखने में आता है कि रक्त के कारण भी कई एक प्रकार के रोगोपद्रव पैदा हो जाते हैं। ऐसी हालत में रक्त विमोचन अनिवार्य हो जाता है। आयुर्वेद शास्त्र के मतानुसार शरद ऋतु में रक्त विमोचन का विशेष महत्त्व है। रक्त निकालने के लिए जोंक, तुम्बी, सिंगी तथा छूरा आदि साधन काम में लाना चाहिए।

नपुंसक, अर्श, पाण्डु, श्वास, वमन, अतिसार, पीनस के रोगी और भयातुर तथा क्षीणकाय मनुष्य एवं बालक, विशेष वृद्ध, गर्भिणी एवं प्रसूती स्त्री का रक्त विमोचन वर्जित है।

शल्य चिकित्सा की विशेषता के कारण उक्त निष्कासन साधनों को बेकार समझा जाने लगा है। लेकिन देहात के कोने में जहाँ पर इस कृत्रिम पसन्द युग की छाप नहीं पड़ी है अभी तक व्यवस्था जारी है। आवश्यकता इस बात की है कि उन जर्राहों, नटों तथा नाइयों को इस विषयक कुछ विशेष ज्ञान के साथ भाषा का बोध करा दिया जाय।

आनन्दपूर्वक जीवनयापन के लिए—निवास, निद्रा, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, मैथुन एवं आचार-विचार

भारतवर्ष विश्वगुरु कहलाता है। वास्तव में विश्व का सर्वश्रेष्ठ देश भारतवर्ष ही है। केवल रहन-सहन, अध्ययन एवं अध्यापन दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि निवास, आचार-विचार, व्यायाम, ब्रह्मचर्य एवं सदाचार आदि के लिए भी भारत का स्थान सदा से श्रेष्ठ समझा जाता है।

मगर हाँ, आज की रहन-सहन एवं आचार-विचार विषयक प्रगति में बहुत कुछ पाश्चात्य देशाभिमुखता देखने में आती है। स्वाध्याय का स्थान अखबारी बहक, स्नेह का स्थान कुत्सित संघर्ष और त्याग का स्थान स्वार्थ इसी प्रकार से विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों की अधिकता देखने में आती है। वेद, पुराण एवं

शास्त्रादि चर्या को बाजारू बातें कहकर टालने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती। यही कारण है कि सभ्य कहलाने वाले इस युग में भारतवासी भी संस्कृति एवं सभ्यता से दूर हटते जा रहे हैं।

निवासः—हमारे ऋषि महर्षियों के निवास स्थान की चर्चा सुनते ही बनती है। उनके आचार-विचार एवं रहन-सहन से आज की तुलना जमीन को आकाश से मिलान करना है, फिर भी वर्तमान युग के अनुकूल ही निवास का सुप्रबन्ध नितान्त आवश्यक है। परिवार के साथ निवास करने के लिए ऐसे गृह की आवश्यकता है जिसमें पाकशाला, भण्डार तथा आवागमन का सुन्दर दरवाजा आदि के प्रबन्ध हों। बातों की चर्चा हमारे शास्त्रों में प्रचुर रूप से मिलती है। शरीर की आयु के अनुकुल ही गृह-निर्माण का भी प्रसंग है। लिखा भी है :—

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिध्यन्ति गृहं बिना।
यतस्तस्मादगृहरंभ समयः प्रोच्यते बुधैः॥

ऊँची और चौकोर जमीन में घर बनाना उत्तम है। हमारे शास्त्रकारों ने केवल गृह का ही नहीं बल्कि ग्राम, नगर एवं राज्य प्रासाद से लेकर साधारण गृह, पथ एवं गली आदि का भी वर्णन बहुत ही विस्तृत ढंग से किया है। राज्य प्रासाद, राजा के सेनापति, मंत्री, ज्योतिषी एवं चिकित्सक आदि के गृहों की लम्बाई-चौड़ाई आदि का वर्णन तो है ही, चिकित्सालय भवन की भी लम्बाई चौड़ाई आदि का विधान बहुत ही संतोष एवं स्वास्थ्यप्रद देखने में आता है।

नींद—मस्तिष्क जब अपने कार्यों से थक जाता है तो उसको भी विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। प्रकृति औढरदानी है। इसने सृष्टि के प्रायः प्राणि-मात्र के लिए निद्रा की सृष्टि रच कर अनिर्वचनीय सुख प्रदान किया है। श्रम को दूर करने के लिए निद्रा से बढ़कर संसार में अन्य कोई साधन नहीं है। दिन भर परिश्रम करने के पश्चात् रात को शयन कर लेने पर उक्त थकावट दूर

हो जाती है। नियमित रूप से शयन कर लेने पर शारीरिक अवयवों के सभी कार्यों में पुनर्जीवन का संचार हो जाता है। लिखा भी है—

निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्।
बृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवित न च ।।

अर्थात्:—समस्त सुख दुख, शरीर की पुष्टता और कृशता, बल एवं निर्बलता, पुरुषत्व और क्लीवता, ज्ञान और अज्ञान तथा जीवन और मृत्यु ये सभी निद्रा के ही अधीन हैं।

मगर हाँ, कुसमय अर्थात् अनियमित निद्रा से लाभ के बदले हानि हुआ करती है। अतः स्वास्थ्य सुखाभिलाषियों को नियमानुकूल ही शयन करना चाहिए।

शास्त्रानुकूल रात ही शयन के लिए उपयुक्त समय है। यह समय केवल मनुष्य के लिए ही नहीं बल्कि थोड़े से रात्रिचर पशु एवं पक्षियों को छोड़ कर प्रायः प्राणिमात्र के लिए उपयुक्त है। शीतकाल के अलावे सभी ऋतुओं में चार घड़ी रात व्यतीत होते ही सो जाना चाहिए। शीतकाल में रात्रि बड़ी होती है, इसलिए कुछ देर कर सोने से भी निद्रा पूर्ण हो जा सकती है।

सोने का स्थान साफ सुथरा और हवादार होना चाहिए। जीवन के लिए भोजन, जल एवं हवा की विशेषता तो पहले ही बतलायी जा चुकी है। 'शुद्ध हवा के अभाव से हमारे शरीर में नाना प्रकार की बीमारियाँ हो जाया करती हैं।

सोने के लिए बिस्तरा साधारण होना चाहिए। विशेष मुलायम बिस्तरे पर शयन करने पर त्वचा एकदम शिथिल पड़ जाती है और कड़े बिस्तर पर सोने से लोमकूप बन्द हो जाने की संभावना रहती है। बिस्तरे की चादर एवं तकिये की खोल को बराबर साफ करते रहना चाहिए। सोने पर शरीर से पसीना निकलता है जिससे बिस्तरे से गन्ध आने लगती है। इस दुर्गन्ध को मिटाने के लिए बिस्तरे को साफ करने के अलावे धूप में भी सुखाते रहना चाहिए। जिस कमरे में शयन करना हो उसमें किरासन तेल की लालटेन कदापि नहीं रखना चाहिए। सोने के समय रोशनी की कोई आवश्यकता भी नहीं पड़ती। रोशनी रहने से तो नींद में अड़चन पैदा होती है। अगर रोशनी अनिवार्य हो तो मीठे

तेल का चिराग जलाकर बन्द कमरे में सोने से कोई हानि नहीं होती। कुछ लोग मुँह ढँककर सोते हैं लेकिन इस आदत से नुकसान होता है। मुँह ढँककर सोने से श्वासोच्छवास में गड़बड़ी पैदा हो जाती है।

भोजनोपरान्त शीघ्र ही सो जाने से कभी-कभी अन्न के पाक में दिक्कत हो जाती है। अतः भोजन करने के कुछ देर बाद ही सोना उचित है। प्रतिदिन प्रायः आठ घंटों तक सुखपूर्वक सोना चाहिए। लेकिन बालक एवं वृद्ध के लिए अधिक समय तक सोना भी हानिकर नहीं होता। रात्रि के प्रथम पहर में ही शयन करने पर प्रातःकाल उठने में सुविधा होती है। रात को विशेष देर तक जगने पर सूर्य निकलने तक सोना पड़ता है जिसके चलते शरीर का भारीपन, आलस्य, सिर दर्द, ग्लानि, मंदाग्नि एवं अजीर्ण आदि उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं, रात्रि जागरण से ब्रह्मचर्य में भी विक्षेप होता है।

दिन में सोने की आदत बहुत ही खराब है लेकिन ग्रीष्मऋतु, क्षीणकाय एवं श्रान्त पुरुष तथा बालक एवं वृद्ध को दिन में सोना कोई बुरा नहीं। सोने के पहले शौचादि से अच्छी तरह निवृत होकर हाथ-पैर धो लेना चाहिए। बिस्तरे पर जाकर अपने धर्मानुकूल भगवान को स्मरण करके मन को पूर्ण पवित्र कर लेना चाहिए। इस प्रकार अभ्यास डालने से बुरे स्वप्न एवं स्वप्नदोष आदि का नाश हो जाता है।

व्यायाम—व्यायाम करने से शरीर में सुन्दरता, सुडौलता एवं फुर्ती होती है। मानव शरीर को स्वस्थ रखने के लिए व्यायाम बहुत ही उपयोगी है। इससे सुखपूर्वक नींद भी आती है। भारतवर्ष एवं रोम के निवासी व्यायाम के लिए विशेष कार्य-कुशल समझे जाते हैं।

नियमपूर्वक व्यायाम करने से आहार का उत्तम पाक, आलस्य का नाश एवं बल तथा उत्साह की वृद्धि होती है। व्यायाम की आदत धीरे-धीरे डालनी चाहिए। अत्यधिक व्यायाम कर देने पर हानि होती है। व्यायाम के लिए खुला एवं हवादार स्थान नितान्त आवश्यक है। भोजन के बाद व्यायाम करने से नुकसान होता है। व्यायाम विषयक प्रोफेसर राममूर्ति की पुस्तक

विशेष उपयोगी है व्यायाम एवं प्राणायाम एक ही शरीर के दो अंग हैं। अतः प्राणायाम विषयक पुस्तकों को भी देखना जरूरी है।

जिन लोगों को ऑफिस में बैठकर काम करना पड़ता है उन्हें अपने अवकाश के मुताबिक सुबह-शाम दूर तक टहलना चाहिए।

व्यायाम की मात्रा का विचार करना भी आवश्यक है। व्यायाम इतना ही करना चाहिए कि हलका पसीना हो जावे और हलकी सांस फूलने लगे। शरीर की सामर्थ्य के अनुसार व्यायाम लाभदायक है। थका मारने वाली क्रिया से थकान उत्पन्न होकर दैनिक कर्तव्यों के पालन में बाधा उत्पन्न होती है।

बालकों के लिए दौड़ने वाले खेल, युवकों के लिए दण्ड, बैठक, कुश्ती, घुड़सवारी, तैरना कुवें से पानी खींचना, चारा काटने की मशीन चलाना आदि तथा ४० वर्ष से अधिक अवस्था के व्यक्तियों को टहलना अच्छे व्यायाम हैं। ३०—३५ वर्ष से अधिक अवस्था के व्यक्तियों को व्यायाम में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए।

ब्रह्मचर्य—वीर्य रक्षा को ब्रह्मचर्य कहते हैं। हिन्दू शास्त्रानुकूल गृहस्थों को २५ वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का आदेश दिया गया है। वास्तव में शरीर का सर्व प्रथम वस्तु वीर्य ही है। किसी ने सच ही कहा है, "मल के आधीन बल और शुक्र के आधीन जीवन है।" हम जो कुछ आहार करते हैं उसका पाक होने पर रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा बनने के अन्त में वीर्य बनता है।

ब्रह्मचर्य से धर्म, यश एवं आयु की वृद्धि होती है साथ ही यह लोक परलोक के लिए भी परम हितकारी हुआ करता है। ब्रह्मचर्य रह कर विद्या अध्ययन करने से अत्यधिक लाभ होता है। विद्याध्ययनोपरान्त गृहस्थी में प्रवेश करने पर सुन्दर सन्तान की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। इससे आरोग्यता ही नहीं बल्कि सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं आयु की प्रचुर वृद्धि होती है। इस विषय पर स्वामी-शिवानन्द जी की लिखी पुस्तक **"ब्रह्मचर्य ही जीवन है"** देखनी चाहिए।

मैथुन—शास्त्रों में आठ प्रकार के मैथुन बतलाए गए हैं। मैथुन करने पर भी विस्तृत विवेचन देखने में आता है। वीर्य रक्षा के बल पर ही महाबलशाली महावीर, भीष्माचार्य एवं भीमसेन आदि वीर बेजोड़ साहस का परिचय देने में समर्थ हो पाए थे।

कुछ लोगों का कहना है कि अपनी पत्नी के साथ जब चाहें भोग कर सकते हैं लेकिन ऐसा करना महान मूर्खता है। मैथुन केवल सन्तानोत्पत्ति के ख्याल से ही करना चाहिए। इन्द्रिय सुख की लालसा से किया हुआ मैथुन तेज, प्रताप, धर्म, यश एवं आयु के विनाश का कारण होता है।

स्त्री के ऋतुमति होने के बाद (रजःदर्शन के दिन से) सोलह दिनो तक जरायु का मुख खुला रहता है। इसी अवस्था में भोग का वर्णन आता है। मगर एक मोटे हिसाब से स्वस्थ आदमी को महीने में केवल दो बार मैथुन करना चाहिए।

दिन में, उषाकाल, देवस्थान, श्मशान, बगीचा, राजगृह तथा शरद नवरात्रादि में मैथुन करना वर्जित है। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा रविवार आदि को भी मैथुन नहीं करना चाहिए।

रजस्वला, बूढ़ी, भ्रष्ट आचरण वाली, मोटी, गर्भवती, प्रसूता एवं सगोत्रवाली स्त्री से कदापि भोग नहीं करना चाहिए।

आचार—आचार का स्थान विद्या एव धन से भी सम्मान-पूर्ण है। इसके सामने विश्व की सभी शक्तियाँ नतमस्तक हो जाती हैं। जिसका आचार उत्तम है, वह मनुष्य दुःखी हो ही नहीं सकता है। आचार पर भगवान मनु ने बहुत ही सुन्दर बातें लिखी हैं।

विचार—विचार शब्द का अर्थ बहुत ही व्यापक है। विचारवान पुरुष यम और नियमों को पालन करते हुए संसार के वास्तविक सुख को प्राप्त करते हैं। "सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह को यम और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को नियम कहते हैं।"

——

अध्याय–६

चिकित्सक, औषध, परिचारक और रोगी

चिकित्सा

संसार में कोई प्राणी अमर होकर नहीं आया है। जो आया है उसको एक न एक दिन अवश्य ही जाना होगा। शरीर और प्राण के वियोग होने पर मानव शरीर पंचभूत में विलीन हो जाता है। मृत्यु ध्रुव सत्य है। अतः इसको कोई टाल नहीं सकता। मगर हाँ, मिथ्या आहार-विहार आदि कारणों से उत्पन्न हुई व्याधियों को निदानादि द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके रोगजन्य यन्त्रणा का शमन करना चिकित्सक का कर्तव्य है। चिकित्सा के चार प्रधान अंग हैं--

चिकित्सक—चिकित्सक कार्य-कुशल, गुरु द्वारा चिकित्सा शास्त्र का पूर्ण ज्ञानार्जन किया हुआ, साक्षात् ज्ञान—जैसे रोग की चिकित्सा एवं औषधि बनाते समय उपस्थित रह कर अनुभव किया हुआ और मन, वाणी एवं शरीर से पवित्र होना चाहिए—

उक्त गुणों के अलावे चिकित्सक को निर्लोभी, कृपालु, धैर्यवान, साहसी और अमृत सदृश्य गुणयुक्त हाथवाला होना चाहिए।

भाव प्रकाश में लिखा है—

जिसके वस्त्र मैले एवं फटे हों, जो आचरण एवं स्वभाव से खोटा हो, क्रोधी और गर्वी हो और जो खोटे गाँव का निवासी हो एवं जो बिना बुलाए ही दौड़ा फिरे उससे चिकित्सा नहीं करानी चाहिए।

चिकित्सा-कार्य में **"निदान"** का महत्व बतलाते हुए श्री भीव मिश्रजी ने लिखा है कि जो वैद्य केवल औषधि ही करना जानता है और रोग को निदान-पूर्वक नहीं पहचान सकता वैसे चिकित्सक को राज्य में नहीं रहने देना राजा का परम धर्म है। वास्तव में चिकित्सा विषयक अच्छी तरह से ज्ञान प्राप्त कर लेने

के बाद ही चिकित्सा कार्य करना चाहिए । चूँकि संसार में सब कुछ सब किसी को दिया जा सकता है लेकिन जीवन तो उसी के हवाले किया जाना उचित है जो इस थाती को सम्हाल सके ।

चिकित्सक का कार्य कभी निष्फल हो ही नहीं सकता । चिकित्सा कार्य से कहीं धन मिलता है, कहीं मित्रता होती है, कहीं यश-लाभ होता है और कहीं धर्म की प्राप्ति होती है । अगर और कुछ नहीं तो अभ्यास तो बढ़ेगा ही । अतः चिकित्सा कार्य बराबर सफल ही है ।

चिकित्सा करने के पहले देश, बल, अवस्था, रोग, काल, दूत, शकुन, नाड़ी, नेत्र, जिह्वा, मूत्र, स्वप्न, औषधि, धन, कर्म, अग्नि, पथ्य, अपथ्य, साध्य, असाध्य और अनुपान आदि पर विचार कर लेना जरूरी है । चिकित्सा कार्य विषयक ये पूर्ण विचारणीय बातें हैं ।

परिचारक—परिचारक रोगी का स्नेही, मन, वाणी एवं शरीर से पवित्र, कार्य कुशल और बुद्धिमान होना चाहिए ।

रोगी—धनवान, चिकित्सक का आज्ञाकारी, ज्ञापक और मोह रहित धैर्यवान होना चाहिए ।

औषधि—गुण भेद से औषधियों के बहुत से भेद बतलाए गए हैं । लेकिन साधारणतः संशोधन और संशमन दो प्रकार की औषधि मानी गयी है । जिसके द्वारा प्रकुपित दोष बाहर निकल कर रोग शान्त हो जाता है उसको संशोधन और जो रोग को जहाँ का तहाँ शान्त कर देती है उसको संशमन कहते हैं ।

अष्टांग हृदय में लिखा है कि शरीर में उत्पन्न होने वाले वातादिक दोषों के शोधन कर्ता तीन प्रधान औषधि हैं यथा—वादी का शोधन करने वाली तेल या क्वाथादिक की पिचकारी गुदा में लगाना । पित्त का शोधन करने वाली औषधि वैरेचनिक औषधि हैं जो मुख द्वारा पीने से भीतर वाले मल को गुदा द्वारा बाहर निकाल देती है । कफ का शोधन करने वाली, वमन कराने वाली औषधि है जो मुख द्वारा पीने से उसी के द्वारा दोष को बाहर निकाल फेंकती है ।

औषधि के चार गुण—"बहुकल्प" (जिससे चूर्ण, काढ़ा तथा बटी आदि कल्प बन सके), **"बहुगुणी"**, (जिसमें अनेकों रोगों के नाश करने की

शक्ति हो), **"सम्पन्न"**, (प्रसस्थ भूमि एवं देशादि में उत्पन्न हुई और **"योग्य"** व्याधि, देश, काल, बल दोष, दूष्य और वयबल आदि को जान कर देने योग्य।

दीपन पाचनादि भेद से औषध वर्णन

जिस औषधि से आम नहीं पचता और अग्नि दीप्त होती है उसको दीपन कहते हैं। जिस औषधि द्वारा आम का पाचन होता है और अग्नि प्रदीप्त नहीं होती उसको पाचन कहते हैं, जैसे "नागकेसर"। जिसके द्वारा आम का पाचन और अग्नि का दीपन भी होता है उसको दीपन पाचन कहते हैं, जैसे **"चित्रक"** जिसके द्वारा बिगड़े हुए दोषों का शमन हो उसको संगमन कहते हैं, यथा नीम-गिलोय आदि। जो औषधि द्वारा-मल मूत्र की रुकावट को पच कर गुदा द्वारा शुद्ध कर देवे वह अनुलोमन कहलाती है, यथा: हर्रे। जो औषधि वातादि दोषों एवं मूत्र को कोठे से बलपूर्वक बाहर निकाल फेंके उसको स्रंसन कहते हैं, जैसे किरमाले। जिसके द्वारा बंधा हुआ तथा अबध मल खण्ड-खण्ड होकर बाहर निकल आवे उसको भेदन कहते हैं, यथा कुटकी। जिसके द्वारा पक्वापक्व भोजन एवं वातादि दोष गुदामार्ग द्वारा बाहर निकल आवे उसको रेचन कहते हैं। जैसे निशोथ आदि। जिस औषधि से अपने स्थान में वातादि दोष एवं मल संचय मुँह और नाक वगैरह से अथवा गुदा या मूत्र द्वार से बाहर निकले उसको संशोधन कहते हैं जैसे: देवदार। जिसके द्वारा बिना पचे ही वात तथा पित्त वमन हो जाय उसको वमनकारक औषधि कहते हैं, जसे मैनफल। जिसके द्वारा परस्पर मिले हुए कफादिक विगल हो जायं उसको छेदन कहते हैं, जैसे पिप्पली, शिलाजीत एवं मिर्च आदि। जिसके द्वारा रसादि सप्तधातुओं का शोषण होकर पतलापन आ जाता है उसको लेखन कहते हैं, जैसे मधु, बच आदि। जिसके द्वारा अग्नि का प्रदीपन आमादि का पाचन हो और स्वयं उष्णवीर्य होने के कारण कफादि दोष एवं धातु मल का आकर्षण हो उसको ग्राही कहते हैं, यथा सोंठ और जीरा आदि। जिसके द्वारा स्तंभन हो उसको स्तंभक कहते हैं, जैसे नागर-

मोथा, बेल एवं मोचरस आदि। जिसके द्वारा जरा रोग नष्ट होवे उसको रसायन कहते हैं, जैसे नीम, गिलोय, एवं गुग्गुलु आदि। धातुवर्धक औषधि को बाजीकरण कहते हैं, जैसे कौंच बीज, दूध एवं मिश्री। जो रध्रों द्वारा शरीर में प्रवेश करायी जा सके उसको सूक्ष्म कहते हैं, जैसे तेल, मधु एवं सेंधा नमक। जो औषधि पेट में जाते ही अपनी व्यापकता दिखलावे उसको व्यवायी कहते हैं, जैसे अफीम और भाँग। शरीर संधियों का ढीला कर देने वाली औषधि विकाशी कहलाती है, जैसे कोदव और सुपारी। तमोगुण प्रधान औषधि जो बुद्धि को बिगाड़ देती है, मादक कहते हैं, जैसे शराब। जो प्राण को हरने वाली औषधि है उसको प्राणहारक औषधि कहते हैं, जैसे वत्सनाभ। जिसके द्वारा मुख, नाक एवं कर्ण आदि छिदों के कफादि दोष के सञ्चय का नाश हो जाता है उसको प्रमाथी कहते हैं, यथा बच और काली मिर्च : जिसके सेवन से शरीर जकड़ जावे उसको अभिष्यन्दि कहते है, जैसे दही।

संयुक्त नाम

आंवला, हर्रे और बहेरा को **त्रिफला** कहते हैं और सोंठ, काली मिर्च एवं पिप्पली को **त्रिकुट**। कटेली, धमासा और गोखरू को **त्रिकंटक** एवं नागरमोथा चित्रक और विडङ्ग को **त्रिमद** कहते हैं। सेंधा, काला एवं बिड नमक को **त्रिलवण** और दाल चीनी, तेजपात और इलायची को **त्रिजात** कहते है। यवाक्षार, सज्जीक्षार एवं सुहागाक्षार को **त्रिक्षार** और गंधक, हरताल एवं मनःशिला को त्रिगंध कहते हैं। मेथी, अजवाइन, काला जीरा और हालों के बीज को **चतुर्बीज** और हर्रे, लौंग, सेंधा नमक एवं अजवायन को चतुःसम कहते हैं। खरैटी, गगेरन, सहदेई और कंघी को बला **चतुष्टय** एवं मिर्च, पीपर, पीपरामूल और शोंठ को **चतुरुष्ण** कहते हैं। आम, बड़, गूलर, पीपल और पाकड़ **पञ्च बल्कल** और कुश, कास, सरकडा काश और ईख को **तृण-पंचमूल** कहते हैं। इमली, अम्लबेंत, सन्तरा, बिजौरा और जम्मीर को **अम्ल पंचक** और शालीयर्णी, पृष्ण पर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली और गोखरू को

लघुपंचमूल कहते हैं। अरणी, गंभारी, पाढ़, बेल और सोनापाठा को बृहद् **पंचमूल** कहते हैं। **लघु-पंचमूल** और **बृहद पञ्चमूल को**–दंशमूल कहते हैं। सेंधा, सोंचल, सामुद्रिक, काला और बिड़ नमक को पंचलवण एवं ओंगा, पलाश, तिल, सज्जीक्षार और यवाक्षार को **पंचक्षार** कहते हैं। सोना, चाँदी, ताम्र, बंग, यशद, शीशा एवं लोहा को **सप्तधातु** और स्वर्ण माक्षिक, रौप्य माक्षिक, नीला थोथा, मुर्दाशंख, खर्पर, सिन्दुर एवं मण्डूर को **सप्त उपधातु** कहते हैं। अगर, शीतल मिर्च, लोहबान, लौंग कपूर और चतुजति को **सप्त सुगंधि** और वैक्रान्त, रजावर्त, पिरोजा शुक्ति, शंख, सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त को सप्त उपरत्न कहते हैं। ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली एवं क्षीर काकोली को अष्टवर्ग और आक, ओंगा, इमली, तिल, ढाक, थूहर, जौ का पंचाङ्गक्षार एवं सज्जीखार क्षाराष्टक कहलाते हैं। हीरा, मोती, मणि; माणिक्य, पन्ना, प्रवाल, गोमेद, लहसुनियाँ और पुखराज को **"नवरत्न"** कहते हैं तथा थूहर, कनेर, कुचिला, धतूरा, अफीम, करिहारी, चिरमिट्टी, जमालगोटा और आक को **नव उपविष** कहते हैं।

रसायनिक नाम

पारद और गंधक को लोहे के पात्र में घोंटा जाता है उसका रंग कृष्ण वर्ण हो जाता है उसी को "कज्जली" कहते हैं और कज्जली में द्रव पदार्थ मिलाकर घोटने पर जो द्रव्य तैयार होता है उसको "रसपक" कहते हैं। दो माशे गंधक को एक तोला शुद्ध पारद के साथ घोंटने पर जो कज्जली तैयार होती है उसको **"पिष्ट"** कहते हैं। एक हिस्सा शुद्ध पारद और चौथाई हिस्सा स्वर्णपत्र घोटने से जो पिष्टी तैयार है उसको **पातनपिष्टी** कहते हैं। जो भस्म चुटकी में रगड़ने पर रेखाओं के बीच में घुस जाती है उसको रेखापूर्ण भस्म कहते हैं और जल पर तैरने वाली धातु भस्म को वारितर भस्म कहते हैं। एक धातु को गला कर उसमें किसी दूसरे धातु का निर्वापण कर देने पर वह कोमल एवं विशेष गुण युक्त हो जाती है। आक, बड़ और थूहर के दूध को **क्षीरत्रय** कहते

हैं। धातु को अग्नि में पिघला कर किसी द्रव में बुझाने को ढालन कहते हैं। पारदादि द्रव को दुग्ध, गोमूत्र अथवा अम्ल या क्षार द्रव के साथ दोला यन्त्र में पकाकर विषाक्त दोषों को नष्ट किया जाता है जिसको स्वेदन कहते हैं। पारद को कांजी आदि के साथ मर्दन करने को "मर्दन" कहते हैं। पारद को मिल एवं विषदोषादि को दूर करने के वास्ते मूर्च्छनोक्त द्रव्यों के साथ मर्दन करने को **"मूर्च्छन"** कहते हैं। पारद का ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक तीन प्रकार के पातन होते हैं। मन्दवीर्य वाले पारद में पुनः शक्ति लाने के लिए मृत्तिका-पात्र में जल और सेंधा नमक डालकर उसमें पारद छोड़कर तीन रोज तक घड़े का मुँह ढंक कर रखने को रोधन कहते हैं और रोधन संस्कार के पश्चात् पारद की चंचलता नष्ट करने के लिए स्वेदन किया जाता है जिसको **"नियमन"** कहते हैं। विशेष व्याख्या के लिए रसेन्द्रसार संग्रह देखें।

हिंगुल, खपरिया, नीला थोथा, माक्षिक, रसक, चपल, शिलाजीत, श्रोतांजन और बिमल को अष्ट महारस कहते हैं। गन्धक, हरताल, फिटकिरी मैनशिल, कशीस, गेरू, लाजवतं और कंकुष्ट को **उपरस** कहते हैं। कौड़ी, कबीला, नौसादर, चपल, अम्बर, गिरि सिन्दुर, हिंगुल और मुर्दाशंख को साधारण रस कहते हैं।

सप्त धातुओं एवं उपधातुओं का शोधन

धातु शोधन—जिस धातु का शोधन करना हो उसको बारीक पत्र के रूप में तैयार कर लेने के पश्चात् तेल, छांछ, मट्ठा, गौमूत्र, कुल्थी का काढ़ा और कांजी में सात बार अथवा तीन-तीन बार बुझाने से शुद्ध हो जाता है। रांगा, शीशा और जस्ता को गलाकर उक्त पदार्थों में बुझाने के पश्चात् आक के दूध में बुझा लेना चाहिये।

विशेष शोधन—तांबा धातु को उक्त पाँच पदार्थों में बुझाने के पश्चात् सेहुँड़ के दूध, गाय के दूध, इमली के पानी, नीबू के रस, दाख के पानी, मधु

और जमीकंद के रस में सात-सात बार बुझाना चाहिये। शीशा, जस्ता और रांगा को पाँच पदार्थों में शुद्ध कर लेने के पश्चात् ग्वारपाठा के रस और त्रिफला के क्वाथ में सात-सात बार बुझा देने पर विशेष शोधन हो जाता है। लोहा का विशेष शोधन ताम्र की भाँति शोधने के पश्चात् त्रिफला के क्वाथ में सात बार बुझा देना चाहिये। सोना और चाँदी को विशेष शोधन की आवश्यकता नहीं है।

उपधातु शोधन—तीन भाग स्वर्ण माक्षिक में एक भाग सेंधा नमक मिलाकर जम्भीरी के रस के साथ कड़ाही में रखकर आँच देने पर कड़छी से चलाते रहना चाहिये। कड़ाही जब आँच से लाल हो जाय तब उतार कर ठंढा होने पर स्वर्णमाक्षिक को काम में लावें। **रौप्यमाक्षिक** को ककेड़ा एवं मेढ़ा सिंगी के रस में घोटने के पश्चात् सूर्य की तेज धूप में रख देने पर शुद्ध हो जाता है। **नीला थोथा** के बराबर बिल्ली का विष्ठा और चार भाग सुहागा लेकर मधु में खरल करने के पश्चात् उपलो की आँच देने से शुद्ध होती है। **हरताल** चूना के जल में सोलह घड़ी पर्यंत दोला यन्त्र से स्वेदन करने पर शुद्ध हो जाता है। **सुरमा** को जम्भीरी के रस का पुट देकर दिन भर तेज धूप में सुखा देना चाहिए। अभ्रक को अग्नि में तपाकर गाय के दूध में बुझाकर चौलाई के रस एवं इमली की खटाई में चौबीस घंटों तक भिगा कर शुद्ध किया जाता है। **मनशिल** को बकरी के मूत्र में दोला यन्त्र से तीन रोज तक पकाकर तावा पर कुछ देर रखने से शुद्ध हो जाता है। **खपरिया** को गोमूत्र में दोला यन्त्र से सात दिनों तक पकाकर शुद्ध किया जाता है।

रत्न शोधन—सूर्यकान्त आदि मणि, मोती मूंगा को जाई के रस में दोला यन्त्र से एक पहर तक आँच देने अथवा रत्न मात्र को भटकटैया की जड़ की लुगदी में बाँध कर कोदू और कुल्थी के काढ़े में दोला यन्त्र से तीन रोज में पका कर शुद्ध कर लेवें।

पारद शोधन—पारद के १८ संस्कार होते हैं लेकिन हिंगुल में निकाला हुआ पारद स्वयं सिद्ध होता है।

गंधक शोधन—गंधक में समभाग घृत मिलाकर लौहपात में मधुर आँच पर गर्म करके दूध से बुझा देने पर शुद्धि होती है

शिलाजीत शोधन—इसको गाय के दूध, त्रिफला काढ़ा और भृंगराज के रस में एक-एक दिन रखते जाने से शुद्ध हो जाता है।

वत्सनाभ शोधन—इसके महीन टुकड़ों को एक कपड़े में बाँध कर बकरी और गाय के दूध में दोला यन्त्र से एक पहर तक पका कर शुद्ध किया जाता है।

जमालगोटा शोधन—इसके छिलले और भीतरी भाग की जीभ निकाल कर बारीक कपड़े में बाँध कर भैंस के गोबर में चार रोज तक रखकर वस्त्र सहित खरल कर नये खपड़े पर लेप चढ़ा देना चाहिए। सूख जाने पर खपड़े को खरोंच कर नीबू के रस का दो पुट देने पर उत्तम शुद्धि हो जाती है।

धातुओं की भस्म

वैद्यक ग्रन्थों में भस्म बनाने की विभिन्न प्रकार की विधि बतलाई गयी है। लेकिन जिस धातु का भस्म बनाना हो उस पर गंधक और मैनशिल को आक के दूध में पीस कर लेप लगाकर गजपुट में बारह बार फूंक देने पर भस्म तैयार हो जाती है। शोधन एवं भस्म विधि की विशेष जानकारी के वास्ते रस रत्नाकर एवं शर्ङ्गधर आदि पुस्तकों को देखना चाहिए।

मान परिभाषा—शार्ङ्गधर मतानुसार मान

१ त्रसरेणु – झरोखे की सूर्य रोशनी में झलकता कण

६ त्रसरेणु – १ मरीचि

६ मरीचि – १ राई

३ राई – १ लाल सरसों

२ लालसरसों–१ पीली सरसों

४ पीलीसरसों–१ लाल चावल

२	लाल चावल	– १ उड़द या जौ
२	जौ	– १ रत्ती
२	रत्ती	– १ निष्पाव
३	निष्पाव	– १ माशा
४	माशा	– १ शाण या टङ्क
२	शाण	– १ द्रंक्षण, कोल या बटक
२	द्रंक्षण	– १ कर्ष या तोला
२	तोला	– १ पलार्ध
२	पलार्ध ४ तोले	– १ पल या मुष्टि
२	पल	– ८ तोले – १ प्रस्तृत
२	प्रस्तृत	– १६ तोले – १ अंजलि या कुड्व
२	अंजलि	– ३२ तोले – १ मनिका, शराब या अष्टपल
२	शराब	– १ प्रस्थ
४	प्रस्थ	– ३ सेन ६ छटाँक, १ तोला } १ आढ़क
२	आढ़क	– १ कंस या अर्धद्रोण
२	कंस	– १ द्रोण
२	द्रोण	– १ शूर्प या कुम्भ
२	शूर्प	– १ द्रोणी
४	द्रोणी	– १ खारी
१००	पल	– ५ सेर
२०	तुला	– १०० सेर – १ भार

महर्षि सुश्रुताचार्य के मतानुसार मान

१२	उड़द	– १ माशा
१६	माशा	– १ कर्ष या तोला
७७	उड़द	– १ निष्पाव – १ धरण – ३८॥ रत्ती

२॥	धरण	– १ कर्ष	– १ तोला	
४	तोले	– ४ कर्ष	– १ पल	
४	पल	– १ कुडव	– ३ सेर, १ छटाँक	
४	कुडव	– १ प्रस्थ		
४	प्रस्थ	– १ आढ़क		
४	आढ़क	– १ द्रोण	— १२ सेर, १२ छटाँक, ४ तोले	
४००	कर्ष	– १ तुला	— ५ सेर	
२०	तुला	– १ भार	— १०० सेर	

८	विन्दु	– १ शाण	– २४ रत्ती
४	शाम	– १ शुक्ति	– ९६ रत्ती
२	शुक्ति	– २ तोला	– १ पाणि शुक्ति

आजकल औषधियों का भार मिलिग्राम, और किलोग्राम में लिखा जाता है और नाप मिलिलिटर और लिटर में लिखा जाता है।

१००० मिग्रा० = १ ग्राम

१००० ग्राम = १ किग्रा०

तथा

१००० मिलि० = १ लिटर

अंग्रेजी मान परिभाषा

१	ग्रेन	=	१ गेहूँ
६०	ग्रेन	=	१ ड्राम
१८०	ग्रेन	=	१ तोला
४३७॥	ग्रेन	=	१ औंस
१५	औंस	=	१ पौंड
१४	पौंड	=	१ स्टोन

२८	पौंड	=	१ क्वार्टर
४	क्वार्टर	=	१ हंडरवेट
२०	हंडरवेट	=	१ टन

द्रवपदार्थानुकूल अंग्रेजो मान

१	मिनिम	=	१ बूंद
६०	बूंद	=	१ ड्राम
८	ड्राम	=	१ औंस
१६	औंस	=	१ पौंड
२०	औंस	=	१ पाइण्ट
८	पाइन्ट	=	१ गैलन

यूनानो मान परिभाषा

४॥ माशा = १ चमचा
१२॥ तोला = १ प्याली
२० तोला = १ प्याला

औषधि कल्पना

औषधि द्रव्यों को संस्कार द्वारा प्रयोग के योग्य बनाया जाता है उसी को औषधि कल्पना कहते हैं। औषधि तैयार करने में बहुत सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। दवा के गुण धर्म के अलावे औषधि संग्रह काल आदि पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। कुछ ऐसी भी दवाएँ हैं जो नयी के बजाय पुरानी ही काम में लायी जाती हैं।

रस तन्त्रसार मतानुसार–औषधि सम्बन्धी आवश्यक सूचना

वनौषधि वर्षाकाल पीछे एवं एक साल बाद कुछ गुणहीन हो जाती हैं। लवण, हींग और पारद मिश्रित चूर्ण तो ६ मास तक ठहरता भी है। लेकिन साधारण चूर्ण तो दो मास के पश्चात् ही बेकार हो जाता है। साफ शीशी में चूर्ण रखकर डाट लगा देने पर कुछ अधिक समय तक गुण वर्तमान रहता है। तैल, गोली, अवलेह, शर्बत आदि एक वर्षपर्यन्त पूर्ण गुणयुक्त रहते हैं लेकिन घृत को अच्छी तरह से रखा जाय तो कुछ विशेष समय तक गुणयुक्त रह सकता है। आसव, आरिष्ट, कूपीपक्व रसायन एवं भस्में जितनी पुरानी होती हैं उतनाहीं गुणवान होती हैं। पीपल, धनियाँ एवं वायविडंग एक वर्ष का पुराना लेना चाहिए। गिलोय, कुड़ेकी छाल, शतावरी, असगंध, पियाबांसा, सौंफ, काशीफल, प्रसारिणी, उक्त ९ औषधियाँ हरी लेनी चाहिए। अगर ताजी नहीं मिल सकें तो समान वजन से सूखी ही लें। इन औषधियों के अलावे सूखी के बदले हरी लेनी हो तो दूनी लेनी चाहिए। बड़े वृक्षों की जड़ लेने की बात हो तो अन्तर छाल लेना उचित है। किसी औषधि के नहीं मिलने पर उसका प्रतिनिधि अर्थात् समानगुणवाली दूसरी औषधि डालनी चाहिए। क्वाथ बनाने के वास्ते कलईदार पात्र अथवा मिट्टी का वर्तन होना चाहिए। तैल बनाने के वास्ते भी कलईदार बर्तन विशेष उपयोगी है। तैल बनाने के वास्ते बड़ा बर्तन होना चाहिए बरना तेल में फेन उठने पर तैल गिर जाने की सम्भावना रहती है। नमक एवं क्षारयुक्त दवाओं को टीन के पात्र में नहीं रखना चाहिए। घृत और तैल को काँच अथवा चोनी मिट्टी के मृतवान में रखना चाहिए। घृत को कड़छी अथवा चम्मच से निकालना चाहिए।

संखिया, हरताल, रसकपूर, कुचिला और कनेर आदि जहरीली औषधियों को शुद्ध करके ही खानेवाली औषधियों में देना चाहिए। पारद मिश्रित दवा गर्भवती, दुर्बल, वृक्कशोथ युक्त पाण्डु और कण्ठमाला के रोगियों के पूर्ण अनु-

कूल नहीं पड़ती, लेकिन स्त्रियों के गर्भाशय एवं योनि रोग में इसकी अच्छी क्रिया होती है। हींग को घी में भून कर एवं फिटकिरी और सोहाग का लावा बनाकर खानेवाली औषधि में डालना उचित है। हरतालयुक्त औषधियाँ उग्रवीर्य होने के कारण पित्त प्रधान कुष्ठ एवं वातरक्त में हानिकर होती हैं। मूत्र पिण्ड के शोथ से उत्पन्न उदर रोग में ताम्र भस्म का प्रयोग निषेध है। स्वर्ण माक्षिक भस्म कुनैन के अपव्योहारोपद्रव को शान्त करनेवाली है। लेकिन कफप्रधान श्वास, कास एवं निमोनियाँ में अति हितकर होता है। बराटिका भस्म आमयुक्त जीर्ण संग्रहणी में हितकर है लेकिन नूतन आमसंग्रहणी में हितकर नहीं है। लौह भस्म रक्तातिसार और रक्तार्श के आरम्भ में हानिकर है लेकिन वातार्श और और पित्तार्श में पूर्ण लाभ करनेवाली है। रक्तवृद्धि अथवा शरीर पुष्टि के ख्याल से लौह भस्म का उपयोग भोजनोपरान्त होना चाहिए। स्वर्ण भस्म संखिया से मारित की हो तब क्षय रोग की प्रथमावस्था में न दें, अन्यथा शुष्क कास बढ़ जायेगी, मगर पारद, गंधक चाहे बनौषधि से मारित स्वर्णभस्म हो तो क्षय रोग में विशेष लाभ होता है।

पुरानी संग्रहणी में ताप होनेपर स्वर्ण पर्पटी नहीं देनी चाहिए। स्वर्ण पर्पटी में दुग्धहार विशेष लाभदायक होता है। स्वर्ण मिश्रित औषधि ज्यादा मात्रा में क्षय रोगी को नहीं देना चाहिए। क्योंकि मात्रा अधिक होने पर क्षय के जन्तु (Tuberculosis) एक ही साथ अधिक मात्रा में मरते हैं जिससे विषवृद्धि होकर तेज ज्वर हो जाता है। अतः शुद्ध स्वर्ण की मात्रा एक समय में $\frac{१}{१००}$ से $\frac{१}{५०}$ रत्ती तक और स्वर्ण भस्म की मात्रा $\frac{१}{३२}$ की देनी चाहिए। क्षय रोग में ९९ डिग्री से अधिक ताप होने पर स्वर्णमिश्रित दवा का प्रयोग निषेध है। अन्य औषधि द्वारा ताप क्रम करने के बाद ही स्वर्ण मिश्रित दवा का प्रयोग करना चाहिये।

रक्तार्श और रक्तातिसार में दूषित रक्त और कच्चे आम गिरते हों तब-तक अफीम भिश्रित दवा का प्रयोग न करें। अफीम मिश्रित दवा बालकों के वास्ते उपयुक्त नहीं पड़ती। अगर विशेष आवश्यक हो तो अत्यल्प मात्रा में ही देनी चाहिए। गर्भिणी के वास्ते भी अफीम मिश्रित औषधि का निषेध है। निद्रा लाने

के वास्ते अफीम उत्तम दवा है लेकिन किसी-किसी आदमी को ज्वर की हालत में देने पर उत्तेजनामय प्रलाप का प्रकोप हो जाता है। मादक औषधियों की क्रिया शीतल देश की अपेक्षा उष्ण देश में विशेष चमत्कृत होती है।

औषधि की अनुकूलता पर विशेष ध्यान देना चाहिए—जैसे किसी-किसी व्यक्ति को लौह भस्म, हींग, अफीम तथा कुनैन आदि प्रतिकूल पड़ती है। कुछ लोग तो ऐसे भी हैं जिन्हें दूध-घी से भी सख्त घृणा होती है

औषधियों के रासायनिक संयोग द्वारा परस्पर गुण विरोधी क्रिया भी उत्पन्न हो जाती है, जैसे :—दूध और दही, दूध और लहसुन, दूध और नीबू का रस और सममात्रा में घी और मधु। लेकिन अतिसार के रोगी को दूध और नीबू का रस, मस्तिष्क गत वायु विकार में दूध में लहसुन पका कर देने का विधान है। अतः इन बातों पर अच्छी तरह से ध्यान देकर विचार करना चाहिए।

अफीम, शराब एवं तम्बाकू आदि का व्यसन बुरा समझा जाता है लेकिन रोग निवारणार्थ इन्हें ग्राह्य समझा गया है, जैसे मधुमेह एवं निद्रानाश में अफीम मानसिक आघात पर शराब का व्यसन और थकावट दूर करने के लिए चाय का प्रयोग।

मुँह में खाने के लिए जो औषधि दी जाती है उसकी अपेक्षा मांस अथवा नस आदि में परिष्कृत औषधि का प्रयोग विशेष गुणकारी समझा जाता है। भीतर प्रवेश की गयी औषधि सत्व का शोषण रसत्वचा (Serous membrane) द्वारा अतिसत्वर होता है। संयोजक कला (Intercellular tissue) द्वारा अपेक्षाकृत कम शोषण और श्लेष्मिक कला द्वारा सबकी अपेक्षा कम शोषण होता है।

कितनी दवा नित्यप्रति सेवन करने पर शरीर में धीरे-धीरे संचित होती जाती हैं। जैसे पारद, कुनैन, सेमल और कुचिला आदि। दंत मंजन में तेज नमक मिलाना हानिकर है क्योंकि नित्यप्रति इसके प्रयोग से मसूढ़े घिस जाते हैं जिसके चलते दाँत अलग-अलग हो जाते हैं। लेकिन जिनके दाँतों में कृमि की शिकायत हो उनके लिए सेंधा नमक और सरसों का तेल रामबाण है। शरीर में संचित

होने वाली औषधियों का कभी-कभी संग्राहक क्रिया (Cumulative action) हो जाती है। अतः इस प्रकार की औषधियों के दीर्घकालीन सेवन में बीच-बीच में औषधि प्रयोग बन्द करते जाना उचित है।

अनुपान रूप से घृत या तैल लेने पर एक घंटा तक पानी नहीं पीना चाहिए। यदि तृषा का वेग प्रचंड रूप धारण कर ले तो सूक्ष्म परिमाण में निमाया हुआ जल दें। सोमल वाली औषधियाँ घी या दूध पिला कर देनी चाहिए। परन्तु न्युमोनियाँ एवं सन्निपात आदि रोगों में घृत और दूध पिलाए बिना रोगानुकूल अनुपान देना चाहिए। न्युमोनियाँ आदि कफ प्रधान रोगों में सोमलयुक्त दवा मल्ल चन्द्रोदय, समीर पन्नग आदि बहुत ज्यादा लाभ पहुँचाते हैं। कफ-प्रधान रोगों में जहाँ पर सोमल भस्म चाहे पुष्प देने का निषेध हो वहाँ मल्लचन्द्रोदय या समीरपन्नग वासा स्वरस अथवा चूर्ण के साथ दिया जाता है। शीतांग सन्निपात में सोमल युक्त औषधि उपयोगी समझी जाती है। जो ज्वर बार-बार आकर उतर जाता है, वहाँ शारीरिक उष्णता अति ह्रास न होने के लिए मल्लमिश्रित दवा दी जाती है

विशेष द्रष्टव्य।—

औषधि प्रयोग करने के पहले रोग का निदान, औषधियों के गुण, देश, ऋतु प्रकृति, रोगी का बलाबल और औषधि की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता तथा मात्रा आदि का विचार कर लेना परमावश्यक है। जैसे—ताजा गोदुग्ध का पथ्य तेजवर्धक एवं तत्काल फलदायक होता है तो भी पित्त ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, बवासीर, कफ वाली खाँसी, कृमि, विद्रधि, सुजाक और कुष्ठ आदि रोगों में हानिकर है। कफ प्रकृति वाले के लिए हितकर औषधियाँ, पित्त प्रकृति वाले के समान रोग होने पर भी हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार देश और काल भेद से भी औषधि प्रयोग में विचार करना चाहिए।

औषधि विषयक कुछ खास बातें

औषधि का मूल भाग विशेष गुणकारी समझा जाता है। अतः जिस स्थान

पर औषधि के किसी खास अंग का उल्लेख नहीं करके केवल मात्रा ही लिखी हो तो उक्त औषधि की जड़ काम में लानी चाहिए।

जिस नुस्खे में दवा का अलग-अलग परिमाण न हो उसमें सभी औषधियाँ सममात्रा में दी जाती हैं। औषधि सेवन के पात्र के लिए लेख नहीं प्राप्त होने पर काँच अथवा मिट्टी का बर्तन और नमक का उल्लेख नहीं मिलने पर सेंधा नमक समझना चाहिए। दुग्ध, मूत्र एवं गोबर का प्रसंग आने पर गाय से सम्बन्ध समझना चाहिए। किसी नुस्खा में एक ही दवा दो बार लिखी हो तो उस औषधि की मात्रा दूनी लेनी चाहिए।

स्वरसः—ताजी हरी जड़ी बूटियों को कूट कर कपड़े से छान कर रस निकाला जाता है उसको स्वरस कहते हैं।

पुटपाक स्वरस :—औषधि को कूट कर उसको पिण्ड जैसा बनाने के पश्चात् उस पर आम अथवा बड़े पत्तों को लपेट कर साफ डोरे से अच्छी तरह से बांध देना चाहिए। उसके ऊपर से एक इंच मोटा मिट्टी का लेप चढ़ा कर जरा-सा सुखा लेना चाहिए पश्चात् उसको अरण्योपल की आग के बीच रख कर पका लेना चाहिए। मिट्टी जब लाल हो जाय तब आग से उस लोंदे को बाहर निकाल कर थोड़ा ठण्ढा हो जाने पर मिट्टी खरोचकर औषधि निकाल कर स्वरस को कपड़े की सहायता के निकाला जाता है।

काढ़ा:—मिट्टी अथवा कलईदार बर्तन में काढ़ा तैयार किया जाता है। काढ़ा बनाते समय पात्र का मुँह नहीं ढकना चाहिए साथ ही तीव्र आँच भी नहीं देनी चाहिए। कितनी ऐसी औषधियाँ हैं जिनके काढ़ा के जल का चतुर्थांश रहने पर उतारा जाता है और कितनी औषधियों का काढ़ा १६ भाग में केवल सात भाग जल जाने पर भी काढ़ा तैयार समझा जाता है।

प्रक्षेप :—काढ़ा तैयार हो जाने पर जिन द्रव्यों को उसमें मिलाकर सेवन किया जाता है उसको प्रक्षेप कहते हैं।

कल्क :—ताजी अथवा सूखी औषधियों को सील और लोढ़े की सहायता से पीस कर तैयार किया जाता है।

चूर्ण :—सूखो औषधियों को कूटकर कपड़े में चालकर तैयार किया जाता है।

बटी :—औषधि को कूट, कपड़-छान कर लेने के पश्चात् पानी में घोलकर बटी तैयार कर छाया में सुखा ली जाती है। अगर किसी खास दवाओं की भावना देनी होती है अथवा किसी द्रव्य के रस या गोमूत्रादि में घोटने की बात लिखी रहती है तो उसके अनुकूल बटी तैयार की जाती है।

अवलेह :—नुस्खानुसार औषधि लेकर काढ़ा तैयार कर लेने के पश्चात् उसमें अन्य औषधियाँ मिला कर हलुआ के समान तैयार कर लिया जाता है।

शुक्त :—ईख का रस अथवा पके जामुन के रस को घड़ा में अनुसन्धान कर गाड़ देने पर खट्टा रस तैयार हो जाता है। इसको **"सिरका"** भी कहते हैं।

वारुणी :—खजूर और ताड़ की ताड़ी को संधान द्वारा मादक पेय बनाया जाता है उसको वारुणी कहते हैं।

काञ्जी :—मूली के टुकड़े एवं धान की बुकनी सम भाग लेकर दोनों के चार गुणा जल लेकर आसव जैसा सन्धान कर दें। सात रोज के बाद छान कर बोतलों में रख लेवें।

अर्क—औषधि को जवकूट करके दस गुने जल में रात को भिगों कर सबेरे भबके द्वारा अर्क खींच लेवें।

आसव और अरिष्ट—काढ़ा एवं स्वरस आदि बहुत जल्द ही खराब हो जाते हैं। अतः नुस्खा मुताबिक औषधि का काढ़ा तैयार कर उसमें प्रक्षेप द्रव्य डालकर अनुसंधान करने के पश्चात् औषधि तैयार कर लेने पर छान कर रक्खा जाता है उसको आसवारिष्ट कहते हैं। लेकिन शार्ङ्गधर में लिखा है कि औषधि को औंटा कर सन्धान किया जाता है उसको अरिष्ट और कच्चे जल में औषधि डालकर सन्धान किया जाता है उसको आसव कहते हैं।

शर्बत—गुलाब एवं केवड़ा आदि सुगन्धित अर्क में नीबू, नारङ्गी एवं अनार आदि के रस में दो गुणा चीनी मिलाकर शहद जैसी चासनी तैयार करके ठंडा होने पर बोतलों में रख लेवें।

स्नेहपाक—घी और तेल को सिद्ध करने के वास्ते नुस्खानुकूल उनमें काढ़ा, कल्क, स्वरस एवं दूध आदि डाल कर तैयार किया जाता है। सिद्ध घृत और तैल तीन प्रकार के होते हैं, यथा:– मृदु, मध्य एवं खर।

मृदु--जिसकी सिट्ठी कुछ गिली अर्थात् जलयुक्त रह जावे।

मध्य--जिसकी सिट्ठी जल रहित हलुवा जैसी हो जाय।

खर--जिसकी सिट्ठी दो अँगुलियों से मलने पर वर्ती जैसी हो जाय।

तैल मूर्च्छन—तेल को मधुर आँच पर औंट कर फेन रहित कर लेने के बाद तेल का सोलहवाँ भाग मजीठ कल्क और इस कल्क से चौथाई भाग हर्रे, बहेरा, आँवला, नागरमोथा, हल्दी, खस, लोध, केवड़ापुष्प और तेल से चार गुणा अधिक जल मिला कर सिद्ध कर लेने पर शुद्ध हो जाता है और गन्ध भी नष्ट हो जाती है।

घी मूर्च्छन—तेल की भाँति घी को भी गरम करना चाहिए। घृत के शब्द रहित हो जाने पर हर्रे, बहेरा, आँवला, नागरमोथा और हल्दी के चूर्ण को बिजोरे नीबू के रस में पीसी हुई लुगदी घी से चौथाई और घी के चार गुणा अधिक जल डाल कर सिद्ध कर लेना चाहिए।

———

औषधि मात्रा

औषधि की मात्रा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है। जिन औषधियों का उल्लेख पुस्तकों में मिलता है उनमें मात्रा सम्बन्धी विषय से सयाने लोगों की मात्रा का ही प्रमाण मिलता है। वृद्ध मनुष्य, गर्भवती एवं बारह साल से कम उम्र वालों की आधी खुराक दवा दी जाती है। छोटे बच्चों को चौथाई खुराक और नवजात शिशुओं के वास्ते तो खास तरीके पर विचार करना पड़ता है।

अंग्रेजी दवा में भी बटी, चूर्ण, क्षार, अर्क तथा शर्बत आदि मिलते हैं। जिस प्रकार आयुर्वेद में कई एक दवाओं को मिलाकर बटी अथवा चूर्णादि तैयार किया जाता है उसी प्रकार एलोपैथिक में भी। हाँ, मात्रा में विशेष फर्क

देखने में आता है। बहुत से एलोपैथिक चिकित्सक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली मतानुकूल चिकित्सा करने पर थोड़ी भी असावधानी होने से रोगी की जान पर नौबत आ जाती है। आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति अनुकूल औषधियों के सम्मिश्रण के पहले ही अच्छी तरह से शुद्ध एवं विष रहित कर दिया जाता है फिर भी नवजात शिशुओं के लिए मात्रा की खास व्यवस्था की गई है।

भस्मादि में सूक्ष्म मात्रा का बहुत ही सुन्दर दिग्दर्शन का स्वरूप संचित है। यही कारण है कि नवजात शिशु के वास्ते होमियोपैथिक चिकित्सा को अधिकांश लोग विशेष उपयुक्त समझते हैं।

मात्रा की विषमता के कारण ही महात्मा हैनिमन ने एलोपैथी से अपना मुँह मोड़ा था। यद्यपि होमियोपैथिक चिकित्सा प्रणाली का सूत्र बहुत पहले से ही देखने में आता है जिसका आयुर्वेद में एक खास स्रोत है। लेकिन होमियो-पैथिक चिकित्सा प्रणाली के लिए विश्व के सम्मुख परिष्कृत रूप में रखने का श्रेय डा० हैनिमन को ही है। उक्त डा० के जीवन चरित्र में लिखा है--औषधि की अधिक मात्रा में रोगियों की दशा बिगड़ते यहाँ तक मृत्यु के घाट उतरते देख कर आपने एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली से नाता तोड़ लिया।

पहले तो आप पुस्तकों के भाषान्तर में तल्लीन थे लेकिन कुछ वर्षों बाद आपने विभिन्न प्रकार की चिकित्सा विषयक पुस्तकों का अध्ययन किया। आपके अध्ययनोपरांत आपके कानों में महाकवि कालिदास जी का श्लोकबद्ध--

दृष्टिं देहि पुनर्बाले कमलायत लोचने।
श्रूयतेहि पुरा लोके विषस्य विषकौषधम्॥

महामंत्र गूंज उठा।

अध्याय ७

रोगों की चिकित्सा

ज्वर (Fever)

मिथ्या आहार-विहार से वायु, पित्त एवं कफ द्वारा रस विकृत हो जाता है जिसके फलस्वरूप शरीर स्थित अग्नि द्वारा उष्णता का संचार होकर गर्म हो जाता है, उसको ज्वर कहते हैं। आघातादि से भी उक्त दोषों में विकृति होकर ज्वर हुआ करता है। (पाश्चात्य देशीय चिकित्सा प्रणाली के मतानुकूल व्याधियों के कारण-स्वरूप "कृमि" को ही प्राधान्य प्राप्त है।)

आयुर्वेद शास्त्र में ज्वर संज्ञा के साथ-साथ ज्वर के स्वरूप आदि के भी विस्तृत वर्णन हैं। केवल आयुर्वेद शास्त्र में ही नहीं बल्कि "हरिवंश" आदि ग्रंथों में भी ज्वर स्वरूप वर्णन देखने में आता है। ज्वर रोगों का राजा है। चरक में लिखा है कि—"शरीर, इन्द्रिय एवं मन को तपायमान करने वाले रोगों में "ज्वर" का सर्वप्रथम स्थान है।" जन्म एवं मृत्यु के समय मानव शरीर में ज्वर का कुछ न कुछ अंश अवश्य ही रहता है।

पित्त से गरमी और गरमी से ज्वर का प्रादुर्भाव होता है। अतः ज्वर रोग में पित्त की प्रधानता समझी जाती है। सुश्रुत संहिता में लिखा है कि–'चोट लगने से शरीरधारी के देह में वायु प्रकुपित होकर ज्वर को उत्पन्न कर देता है। लेकिन आगन्तुक रोगों में भी उष्णता रहती है जिसके विषय में स्पष्ट लिखा है–दोषों द्वारा कोष्ठाग्नि ही विकृत होकर कोठे से बाहर आकर गरमी पैदा करती है जिसको ज्वर कहते हैं।

यों तो लक्षणादि प्रभेद से अनेक प्रकार के ज्वर हैं लेकिन आयुर्वेद शास्त्र के ज्वरोत्पत्ति स्थान में निम्नलिखित आठ प्रधान ज्वरों का वर्णन है यथा—वातज्वर, पित्तज्वर, कफज्वर, वातपित्तज्वर, वातकफज्वर, कफपित्तज्वर, सन्नि-

पात ज्वर एवं आगन्तुक ज्वर। युगल ज्वरों को द्वन्द्वज ज्वर भी कहते हैं। सन्निपात ज्वर के ५२ भेद देखने में आते हैं, लेकिन बहुत से आचार्यों ने निम्नलिखित केवल १३ भेद ही बतलाए हैं—शीतांग, तन्द्रिक प्रलापक, रक्तष्ठीवी, भुग्ननेत्र, अभिन्यासक, जिह्वक, संधिक, अंतक, रुग्दाह, चित्तभ्रम, कर्णक और कण्ठकुब्जक। आगन्तुक ज्वर के भी निम्नलिखित चार भेद हैं—अभिघातज, अभिचारज, अभिषंगज और अभिशापज। वायु, पित्त एवं कफ ज्वर के संक्षेप में निम्न प्रकार ठोस लक्षण देखने में आते हैं—वातज्वर में जम्हाई की अधिकता, पित्त ज्वर आँखों में जलन एवं कफज्वर में अन्न से अरुचि।

वातज्वर

कम्प, अनिद्रा, जम्हाई, कण्ठ एवं होठ में सूखापन, हृदय एवं मस्तक में दर्द ज्वर का विषमवेग एवं मल का गाढ़ापन आदि वातज्वर के विशेष, चिन्ह हैं। (नाड़ी, नेत्र, जीभ, मल एवं मूत्रादि विषयक चर्चा पहले ही हो चुकी है)। विकृत वात के विशेष लक्षण—श्रम, भ्रम, प्रलाप, अनिद्रा, ज्ञानेन्द्रिय हीनता। कब्ज, कँपकँपी, कृशता, कमजोरी, कृष्णवर्णता एवं उष्णता की इच्छा।

ज्वर चिकित्सा एवं वात ज्वर पर सरल योग

चिकित्सा के विषय में औषधि आदि के साथ-साथ माप, मात्रा वगैरह के विषय में भी लिखा जा चुका है। काष्ठौषधि से लेकर रस एवं भस्मादि के बारे में अच्छी तरह जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् ही चिकित्सा करनी चाहिए। औषधियों के गुण के लिए शालिग्राम निघंटु आदि ग्रन्थों का अवलोकन नितांत आवश्यक है। यही कारण है कि पहले गुरु के घर पर ही शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था थी। वहाँ पर पुस्तकों के अलावे प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन की भी सुन्दर सुविधा रहती थी।

साधारण ज्वर—पूर्व संचित दोष नहीं रहने पर सर्दी, गरमी लगने अथवा वर्षा में भींगने तथा अत्यधिक परिश्रम वगैरह से साधारण ज्वर हो जाता है।

इस प्रकार का ज्वर तो तीन रोज 'तक ठहरने वाला होता है। जो साधारण संयम से ही अच्छा हो जाता है। ज्वर में मल-मूत्र एवं पसीना निकालने के लिऐ खास व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है। रोगी को साफ सुथरे स्थान एवं मुलायम विस्तरे पर सुलाना चाहिए। साधारण ज्वर में तुलसी पत्र एवं काली मिर्च का काढ़ा बहुत गुणदायक है।

प्रायः देखने में आता है कि ज्वर होने पर रोगी के बदन पर कपड़े का बोझ लाद देते हैं; लोग केवल इतना ही नहीं बल्कि पसीना निकालने के ख्याल से खिड़की वगैरह को भी बन्द कर देते हैं। ऐसा करने से लाभ के बदले हानि होती है। कुछ लोगों का ऐसा भी ख्याल है कि ज्वर में अन्न बराबर नहीं देते रहने से रोगी कमजोर हो जायगा। लेकिन ऐसा करना भी हानिकारक है। हाँ, कुछ ऐसे ज्वर भी हैं जिनमें बराबर पथ्य देने की चर्चा है। लेकिन ज्वर के लिए उपवास स्वयं ही एक प्रकार की चिकित्सा है। अतः चिकित्सा कार्य में सभी बातों पर ध्यान देकर ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।

वातज्वर की चिकित्सा--चिरैता, नागर मोथा, गिलोय, अमलतास एवं सोंठ को दो-दो तोले लेकर तीन पाव जल में औंटावे, तीन छटाक जल शेष रह जाने पर दवा को छान कर साफ शीशी में रख लेवें। मात्रा डेढ़ तोले, अनुपात में मधु भी ले सकते हैं लेकिन केवल काढ़ा भी प्रत्येक २।। घण्टे बाद दिया जा सकता है।

शतावर और गुरबेल के काढ़े में पुराना गुड़ मिलाकर सेवन कराने से वात ज्वर में लाभ होता है।

वात ज्वर पर हिंगुलेश्वर रस--छोटी पीपल और शुद्ध सिंगी मुहरा को सम भाग लेकर पानी में अच्छी तरह से खरल करने के पश्चात् आधी रत्ती की गोलियाँ बना कर छाया में सुखा लेना चाहिए। एक अथवा दो गोली तक रोज खिलाना चाहिए। वायु, पित्त एवं कफ संशमन वर्ग की पूर्ण जानकारी से ही चिकित्सा कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हो सकती है।

श्री विश्वनाथ द्विवेदी आ० शास्त्राचार्य द्वारा वात संशमन वर्ग विवेचन।

"स० आ०"

आयुर्वेद शास्त्र में वात नाम से जिस तत्व का निरूपण किया गया है वह तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous System) है, केवल "हवा" नहीं। तन्त्रिका-तन्त्र में दो प्रधान विभाग हैं।

१—मस्तिष्क सौषुम्नीय मण्डल (Cerebro-Spinal System)

२—परिस्वतंत्र नाड़ी मण्डल (Autonomic Nervous System)

मस्तिष्क सौषुम्नीय मण्डल में मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा सुषुम्नासेतु और नाड़ियाँ संयुक्त हैं जिनके कार्य निम्नलिखित हैं—

१—मानसिक कार्य (Mental Function) } प्राणवायु
२—सौषुम्नीय ज्ञान (Spinal senses) }

३—सतगतिः (All locomotions) } व्यान वायु
४—स्पर्श ज्ञान (All senses of the body) }

शरीर रचना के ज्ञाता जानते हैं कि मस्तिष्क सोषुम्नीय नाड़ियों के उपयुक्त कार्यों में बृहद् मस्तिष्क, लघुमस्तिष्क, मस्तिष्क सेतु, पियूषग्रन्थि, द्वादश मस्तिष्क नाड़ियाँ सुषुम्ना शीर्षक, सुषुम्ना काण्ड तथा सुषुम्ना नाड़ियों आदि के कार्य सम्मिलित हैं।

तन्त्रिका तन्त्र के द्वितीय भाग परिस्वतंत्र नाड़ी मण्डल में नाड़ी ग्रन्थियों नाड़ियों—पिंगला नाड़ी मण्डल, इड़ा नाड़ी मण्डल आदि सम्मिलित हैं जिनके द्वारा निम्नलिखित क्रियाएँ होती हैं—

१—निगलन (Swallowing) } प्राण
२—प्रसव (Process of birth) }

३—रक्त संवहन (Blood Circulation) } व्यान
४—श्वासोच्छवास (Respiration) }

५—पाचन (Digestion) } समान
६—सात्मीकरण (Assimilation & Fertilization) }

मस्तिष्क सौषुम्नीय मण्डल एवं परिस्वतंत्र नाड़ी मण्डल में इस प्रकार पाँच प्रधान भेद प्राण, उदान, समान, व्यान, अपान के कार्य सम्मिलित हैं। अतः वात संशमन वर्ग कहने का बहुत विशाल अर्थ हो जाता है। पंचविध वात

संशमन का अर्थ पूर्वोक्त दोनों अङ्गों के सभी उपांगों के कार्य को उग्रता का शमन क्रिया हानि होने पर पोषक दोष क्षय का पूरक व वातानुलोमक होता है। संक्षिप्त में—

सर्वा हि चेष्टा वातेन, स प्राणः प्राणिनाः स्मृतः।
ते नैव रोगा जायन्ते, तेन चैवोपरुध्यते ॥ चरक ॥

इस प्रकार वात संशमन वर्ग में उन सम्पूर्ण औषधियों का संग्रह आ जाता है, जो वातवृद्धि या वातक्षय से होने वाले रोगों में मस्तिष्क व नाड़ो समूह के लिए वेदना शामक, आक्षेपहर, अवसादक, उत्तेजक और बलकारक हों।

आयुर्वेद में वात के रुक्ष, शोत, खर, लघु, सूक्ष्म, चल एवं विशद गुणों को आधार मानकर संशमन औषधियों का वर्णन किया गया है, जिनमें मस्तिष्क व नाडियों के लिए बलप्रद, उत्तेजक, अवसादक तथा दोषघ्न औषधियों का समावेश है।

आयुर्वेद चिकित्सा का संक्षिप्त और सारगर्भित उद्देश्य निदान परिवर्जन है— **"सामान्यतः क्रिया योगो निदानपरिवर्जनम्"** (सुश्रुत)। अतः चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्ट आदि चिकित्सा ग्रन्थों में जिन वात शामक औषधियों का वर्णन हैं, वे वात के सप्तगुणों के विपरीत क्रियाशील औषधियाँ हैं, फिर ये रूक्षतादि गुण वात के क्षय या वृद्धिकारक किसी भी द्रव्य या हेतु विशेष के कारण उत्पन्न हुए हों। वायु के सप्तगुणों के क्षय अथवा वृद्धि में विपरीत गुण स्निग्ध, उष्ण, श्लक्ष्ण, गुरु, स्थूल, अचल, विशद पदार्थों को लेकर वात संशमन विरेचन—

शास्त्रीय वात संशमन वर्ग (सुश्रुत)

देवदार, कूट, हल्दी, मेढ़ासिंगो, बला, अतिवला, आर्तगल, कौंच के बीज, वीरतरु, कठशरैया, अग्निमंथ, गूर्च, एरण्ड, पाषाण भेद, श्वेतार्क, रक्तार्क, शतावरी, पुनर्नवा, मन्दार, आपामार्ग, धतूरा, भारंगी, बनकपास, लिच्छू बूटी, पतंग जौ, बड़े बेर, छोटे बेर, कुलथ। ये सब वात शामक हैं। इनके अतिरिक्त विदारिकंदादि गण और दशमूल की औषधियाँ भी वात शामक हैं।

विदारी कन्द गण—शालिपर्णी, विदारीकन्द, गंगेरन, सहदेयी, गोखरु, पृष्णपर्णी, शतावरी, सरिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुग्दपर्णी, पुनर्नवा,

हंसपदी, कौंच बीज आदि। दशमूल की औषधियाँ—शालिपर्णी, पृष्णपर्णी, वन-भैटा, कटेरी, गोखरु, बेल, अरलू, गंभारी, पाटला और गनियार।

●

अन्य निघण्टु वर्णित औषधियाँ

पार्थिव—स्वर्ण भस्म, रौप्यभस्म, बंगभस्म, लौह भस्म, पुष्पराग, माणिक, संखिया, शिलाजीत, पारद, गंधक, हिंगुल, खर्पर, जहरमोहरा खताई, टंकण।

उद्भिद्—ब्राह्मी, रासना, जटामांसी, गूगुल, भिलावाँ, लोबान, रसीन, बच, वत्सनाभ, पीपलामूल, कायफल, खुरासानी अजवायन, हींग, गोरखमुण्डी, रुद्राक्ष, कुचिला, वत्सनाभ, बादाम, तुलसी, तम्बाकू, अफीम, गाँजा, भाँग एवं कपूर आदि।

जंगम—कस्तूरी जुन्दवदस्तर, घी, दूध, अग्निजार, प्रवाल एवं मुक्ता आदि। उपरोक्त वातसंशमन औषधियों के विभिन्न योग मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के उत्तेजक, अवसादक और दोष निवारक होते हैं। इन योगों को श्रेणीबद्ध किया जाय तो इनके निम्नोक्त विभाग बनेंगे—

●

वात संशमन औषधियों का श्रेणी विभाजन

१—मस्तिष्क उत्तेजक (संज्ञास्थापक चेतनाकार)।

२—मस्तिष्क अवसादक (निद्राकर, वेदनाहर मादक और संज्ञाहर)।

३—सुषुम्ना उत्तेजक (Spinal Stimulants)

४—सुषुम्ना अवसादक (वातदोषघ्न)।

५—नाडी उत्तेजक (वातशूलघ्न)।

६—नाडी अवसादक निद्राकर, वेदना हर, मादक, वातक्षेपघ्न।

७—मस्तिष्कबल्य (मेधाकर)।

८—हृद्य (Cardiac Tonic)

९—हृदयावसादक (Cardiac Sedatives)

१०—हृदयोत्तेजक (C. Stimulants)

११–नाड़ी वल्य (N. Tonics वातघ्न)

१२–उदर वातघ्न (Carminatives) आदि विभिन्न विभाग एवं उपविभाग हैं।

इनमें से कुछ औषधियाँ वातघ्न या वात संशमन के रूप लोक में अधिक प्रचलित हैं। वैद्य समुदाय भी वात प्रकोप जन्य क्रियावरोधक औषधियों के चार वर्गों को विशेषतया मानता है—१ वात शूलघ्न, २ उदरवातघ्न, ३ वाताक्षेपघ्न और वात दोषघ्न। आगे प्रत्येक वर्ग का विस्तृत विवेचन से पहले कुछ विशेष औषधियों का वर्णन—

वाताक्षेपघ्न औषधियां—वात की विगुणता से दोषानुसार आक्षेप दो प्रकार के होते हैं—(१) वायुतंत्र की संज्ञावाही नाड़ियों की दुर्बलता के कारण क्रिया में विषमता का उत्पन्न होकर आक्षेप प्रारंभ हो जाता है (२) संज्ञावाही वात नाड़ियों में उग्रता होकर इनकी क्रिया में विषमता उत्पन्न हो जाती है और आक्षेप आरंभ हो जाता है। नाड़ी दौर्बल्य की उत्पन्न विषमता से उत्पन्न आक्षेप में दो तरह की औषधियाँ दी जाती हैं। (१) जो औषधि नाड़ी बलाधान कर आक्षेप निवारण कर दे और (२) जो औषधि मस्तिक और नाड़ी पर मादक प्रभाव डाल कर आक्षेप निवारण कर दे।

संज्ञावाही वात नाड़ियों में उग्रता के कारण विषमता से उत्पन्न आक्षेप में उग्रता को कम करने वाली औषधियाँ दी जाती हैं, जो मस्तिष्क और नाड़ी की क्रिया को अवसादित करके आक्षेप निवारण कर दे।

दौर्बल्य नाशक औषधियां—निर्बलता से उत्पन्न आक्षेप में कस्तूरी, हींग, अग्निजार, जटामांसी, अभ्रक, स्वर्ण, रजत, लोहा, तामा, मुक्ता, हिंगुल, रससिन्दूर, शिलाजीत, गुगुल, अश्वगंध, शरावरी, आमलकी, पुनर्नवा, कुचला युक्त नाड़ीबल्य औषधियों से नाड़ियों को बल प्राप्त होने पर अक्षेप नष्ट हो जाता है।

उग्रता शामक औषधियां—अफीम, धतूरा, बेलाडोना, सुरा, गाँजा, भांग क्लोरोफार्म इत्यादि मादक (Narcotic) नाड़ी अवसादक औषधियाँ या नशे युक्त औषधियाँ नाड़ी की उग्रता को कम करके आक्षेप का निवारण करती हैं।

सुषुम्ना के अग्रभाग के उत्तेजित होने से उस भाग में लगी हुई संज्ञा-ग्रहण करने वाली नाड़ियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, जो इनसे सम्बन्धित मांस संस्थान की पेशियों में संकोच या मरोड़ होने लगता है। उक्त क्रियाओं को रोकनेवाली औषधि आक्षेपघ्न कहलाती है। यदि नाड़ी दुर्बलता के कारण उत्तेजित हो जाती हों तो दुर्बलता दूर करनी चाहिये। आहार द्रव्यों या उनमें नाड़ी पोषक द्रव्यों की कमी, अधिक परिश्रमादि से नाड़ी में खरता, रुक्षता आदि पैदा होकर वह दुर्बल हो जाती है। अतः इन कारणों को दूर करना ही चिकित्सा है। जहाँ नाड़ी में दुर्बलता नहीं हो किन्तु उग्रता हो और उग्रता वश कार्य विषम होकर उसमें क्रिया हानि होती हो, वहाँ उग्रता को रोकना आक्षेप निवारण कहलाता है। अस्तु, उग्रता और दुर्बलता को दूर करने वाली औषधियों और रक्त मोक्षण उष्णता, शीतलता आदि आक्षेपघ्न हैं।

आक्षेपघ्न योगज औषधियां—आयुर्वेदीय चिकित्सा में जिन रस, आसव अरिष्ट, वटी, अवलेहादि औषधियों का प्रयोग आक्षेप निवारण के लिए किया जाता है, उनसे प्रयोग क्रम के साथ यथानुभव विवरण नीचे दिया जा रहा है—

रसशास्त्र में वात व्याधि चिकित्सा के लिए दो प्रकार के रस काम में आते हैं—(१) जिनमें स्वर्ण, अभ्रक, लौह, बंग और रौप्यादि जैसी सद्यः बलप्रद एवं उत्तेजक औषधियों के साथ कपूर, कस्तूरी, जावित्री, कुचला, हींग, जटामांसी इत्यादि मिश्रित हैं। इनका कार्य त्वरित् होता है। (२) दूसरे वे जिनमें स्वर्णादि के साथ वत्सनाभ, शृंगीक, धतूरा और अफीम आदि मादक तथा अवसादक द्रव्यों का योग है। प्रथम प्रकार का योग नाड़ीबल्य और द्वितीय प्रकार के अवसादक या रक्तचाप वृद्धिकर मादक होते हैं। फलतः प्रथम प्रकार के योग नाड़ी दौर्बल्य जन्य आक्षेप के निवारणार्थ दिये जाते हैं और द्वितीय प्रकार के उग्रता जन्य आक्षेप के निवारणार्थ। कुछ ऐसी भी औषधियाँ हैं जो केवल नाड़ी-बल्य होती हैं, जिनमें उत्तेजक या अवसादक गुण नहीं होता। बल प्रदान करके ही इनका कार्य पूरा हो जाता है। लेकिन इनका कार्य देर से होता है अर्थात् समयापेक्षी हैं।

नाड़ीबल्य औषधियां और मात्रा—चतुर्मुख रस—½ से दो रत्ती, चिंता-

मणि चतुर्मुख १ रत्ती से दो रत्ती, चिंतामणि रस १ रत्ती से दो रत्ती, योगेन्द्र रस १ रत्ती, बृहद् चिन्तामणि १ रत्ती, बलारिष्ट २।। तोले, अश्वगंधारिष्ट २।। तोला, रास्नासप्तक १ छटाँक, पुनर्नवा गुग्गुल १ से दो रत्ती, सुवर्ण भूपति रस १ रत्ती, पंचामृत रस १ रत्ती। इन औषधियों में जितने रस हैं, वे न केवल नाड़ी के लिए किन्तु मस्तिष्क और सुसुम्ना के लिए भी बलप्रद हैं। लेकिन आशु प्रभाव नहीं होकर कुछ देर से धीरे-धीरे वात संशमन करते हैं।

नाड़ी उत्तेजक और बल्य—वात कुलान्तक रस १ रत्ती से ४ रत्ती, कस्तूरी भैरव १ से २ बटी, बृहद् योगराज गुग्गुल १ से २ बटी, संचेतनी गुटिका १ से २ गोली, रसराज १ रत्ती, लक्ष्मीविलास २ रत्ती, गुंजाभद्र रस १ रत्ती, दशमूलारिष्ट, पुनर्नवारिष्ट और अश्वगंधारिष्ट को २।। तोला, दशमूलघन सत्व १ से २ माशा, विष तिंदुक बटी १ से २ बटी, बृहद् पंचमूल क्वाथ २ से ५ तोले। इन औषधियों से नाड़ी में उत्तेजना होती है और आपेक्ष का शमन होता है। रसों के साथ आसवों का प्रयोग तात्कालिक फल देता है।

नाड़ी अवसादक औषधियाँ और मात्रा—वात गजांकुश १ से २ रत्ती, बृहद् वात गजांकुश २ से ४ रत्ती, हिंगुलेश्वररस $\frac{1}{2}$ रत्ती, अमृत मंजरी १ रत्ती, समीर गजकेशरी मात्रा १ से २ रत्ती। उपर्युक्त औषधियाँ नाड़ी की उग्रता को कम करके आक्षेप का निवारण करती हैं। संक्षिप्त परिचय—**चतुर्मुख और चिन्तामणि चतुर्मुख**—ये स्वर्ण प्रधान योग हैं नाड़ी दौर्बल्य से उत्पन्न वात व्याधि में बलपूर्ण लाभदायक होते हैं। उन्माद अपस्मार और अपतंत्र में नाड़ियाँ दुर्बल हो जाती हैं तथा इनके कार्य अल्प हो जाते हैं। ऐसी हालत में इन औषधियों के नियम-पूर्वक सेवन से अथेष्ट लाभ होता है। चिरकालीन दुर्बलता में ये लाभप्रद ही नहीं वेदनाशामक, आक्षेपहर और स्मृतिवर्धक भी होती हैं। किन्तु अल्प समय से होने वाले नाड़ो दौर्बल्य से उत्पन्न रोग में इसका सद्यः प्रभाव नहीं होता।

वात कुलान्तक रस—नाड़ी दौर्बल्य से उत्पन्न ऐंठन, कम्पन और प्रलाप में इसके प्रयोग से तत्कालिक लाभ होता है क्योंकि इसमें कस्तूरी का योग होने से यह आशु प्रभावकारी है।

संचेतनी गुटिका—अल्प कालीन अपस्मार (मृगी) और योषापस्मार हिस्टीरिया में शीघ्र लाभ करती है। नाड़ी उत्तेजक और बल्य वर्ग की औषधियाँ यदि नाड़ी बल्य वर्ग की औषधियों के साथ मिलाकर दें तो नाड़ी उत्तेजक और बल्य दोनों कार्य बहुत ही सन्तोषजनक रूप में हो जाते हैं।

नाड़ी अवसादक वर्ग की वात गजांकुश, वृहत् गजांकुश आदि औषधियाँ शीघ्र प्रभावकारी होती हैं और नाड़ी की उग्रता को कम करके आक्षेप और वेदना दूर करती है। ये सुषुम्ना काण्ड की नाड़ी शाखाओं को उत्तेजना और उससे उत्पन्न स्पन्दन, आक्षेप एवं स्तम्भ को शान्त करती हैं। यदि प्रथम (नाड़ी बल्य) वर्ग की औषधियों के साथ इस अवसादक वर्ग की औषधियाँ दी जायँ, तो शीघ्र सन्तोषजनक लाभ होता है।

ज्ञातव्य—वातव्याधि की इस प्रकार चिकित्सा सदा आशु फलप्रद होती है। औषधि देने से पूर्व इसका निश्चय कर लेना चाहिए कि वात की किस केन्द्र की नाड़ी का कौन-सा (केन्द्रिय या प्रान्तीय) भाग प्रभावित हो रहा है। इस प्रकार रोग निश्चय किये बिना यदि कोई चिकित्सक महीनों तक वृहद् योगराज या योगराज का प्रयोग करते रहें और इससे कोई लाभ नहीं हो तो वहाँ औषधि का दोष नहीं अपितु प्रयोग कर्ता का दोष है। उदाहरण के लिए **"वात चिन्तामणि रस"** को लीलिए। "वात रोग पित्तकृतं निहन्ति नात्र चिन्तनम्"—वायु (समानवायु) का क्षेत्र दूषित होने से पित्त की क्रिया विकृत होकर नाड़ी दोष पैदा हो, अग्निमान्द्य चिरकालिन रह कर नाड़ी को दुर्बल और आक्षेप उत्पन्न करे। पाण्डु, कामला, हलीमक में पित्ताल्पता या पित्त वृद्धि से दुर्बलता होकर आक्षेप वेदना इत्यादि पैदा हो—इन अवस्थाओं में देने से लाभ करता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार "तालकेश्वर"

—"हन्ति श्लेष्मान्वितं वातं केवल पित्तसंयुतम्"—हृल्लास, अरुचि, वान्ति, भ्रान्ति आदि होकर यदि वेदना होती हो तो तत्काल लाभ करता है, अन्यथा उल्टा परिणाम करेगा। अतः ठीक स्थान पर प्रयोग करने से ही औषधि लाभप्रद होती है। वात संशमन वर्ग जैसा ही पित्त संशमन एवं कफ संशमन वर्ग पर ध्यान देना चाहिए।

रस भस्मों द्वारा चिकित्सा करने के पहले अच्छी तरह से सभी बातों पर विचार कर लेना परमावश्यक है। साधारण रोगों में तो विशेष रूप से काष्ठौषधियों का ही व्यवहार उत्तम समझा जाता है।

आजकल काढ़ा वगैरह का प्रयोग बहुत ही कम होता जा रहा है। इसका कारण है कि पेटेण्ट दवाओं का प्रवेश दीमक की तरह दवाखाना से लेकर पंसारी एवं पान के दुकानदारों तक के यहाँ प्रचुर मात्रा में हो गयी है। मगर हाँ, जो चिकित्सक केवल व्यापार के ख्याल से ही नहीं बल्कि लोक कल्याण भावना रख कर चिकित्सा करना चाहें उनको अपने हाथ से ही औषधि तैयार कर लेनी चाहिए। किसी विश्वासी औषधि प्रस्तुतकर्ता से भी औषधि खरीदना पाप नहीं है लेकिन कमीशन के चकमे की चकाचौंध में अवश्य ही धोखा हो सकता है। पेटेण्ट औषधियों का विशेष प्रचार विदेशी व्यापारियों द्वारा ही हुआ था लेकिन आज वैद्य समाज भी इसको अर्घ्य आरती देकर अपने हृदय सिंहासन पर आसन देने से बाज नहीं आता है। एक ओर जनता पाश्चात्त्य देशाभिमुखता के गर्त में गिरी जा रही है दूसरी ओर वैद्य समाज भी वैदिक शास्त्र मर्यादा पर कुठाराघात करने के लिए कठिबद्ध हैं। आयुर्वेद शास्त्र में तो साफ-साफ लिखा है कि:—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्!
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्!! "अत्रेय"

अर्थात्:——मुझे राज्य की कामना नहीं है न स्वर्ग एवं मोक्ष की अभिलाषा है। मुझे तो यही कामना है कि दुःख से पीड़ित प्राणियों का क्लेश दूर करूँ। चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट्टादि आचार्यों द्वारा विभिन्न प्रकार की औषधियाँ (जैसे बटी, चूर्ण, अवलेह, तैल, घृत, रस एवं भस्मादि) उपलब्ध हैं। लेकिन उनके हृदय लोक कल्याण भावना से भरपूर थे।

वर्तमान युग में 'ऐडवान्स (Advance) एवं 'अपटूडेट (Uptodate), शब्दों का आदर के साथ नाम लिया जाता है। ऐडवान्स का हिन्दी भाषान्तर, 'अग्रणी' और अपटूडेट या 'युगानुकूल' कहा जा सकता है। शब्दार्थ को तो दोषी नहीं कहा जा सकता लेकिन वेद, शास्त्र, एवं पौराणिक मर्यादा को तिला-

ञ्जलि देकर पाश्चात्य सभ्यता की नकल ही अग्रणी एवं युगानुकूल कहे जाते हैं। जिस प्रकार परिष्कृत रूप से भोजन बना लेने से होटल के भ्रष्ट चौका की रसोई पसन्द आने लगी है उसी प्रकार क्वाथ, स्वरस एवं रस तक को नीरस करार देना वर्तमान युग का एक फैशन जैसा हो गया है। क्वाथ वगैरह की बात तो अलग रही साधारण अनुमान के प्रबन्ध की चर्चा से ही रोगी और परिचारक कड़क उठते हैं। मुख बन्द शीशी से पेट भरने में विशेष आनन्दानुभव तो होता है लेकिन उसके अन्य परिणाम प्रायश्चित की भाँति संचित रहकर जीवन-पथ को कंटकाकीर्ण बना देते हैं।*

क्वाथ एवं स्वरस के स्थान पर औषधियों का मूलारिष्ट निकाल कर भी सुरासार (अलकोहल) में रख कर **अंग्रेजी मिक्श्चर** की भाँति निश्चित परिमाणानुकूल दवा दी जाने लगी है। पेटेण्ट औषधि व्यापार एवं प्रचार से उक्त प्रणाली उत्तम एवं योग्य कही जा सकती है।

वात ज्वर में पथ्यापथ्यः--वात ज्वर में बिल्कुल उपवास रहना उचित नहीं है लेकिन पथ्य के लिए बिल्कुल हलका पथ्य ही उपयुक्त समझा जा सकता है। पथ्यापथ्य विषय भी बहुत विचारणीय विषय है। अतः रोगी के रोग एवं आहार-विहारानुकूल उचित पथ्य की व्यवस्था की विशेष आवश्यकता पड़ती है।

पित्त ज्वर

पित्त ज्वर के लक्षण--हाथ, पैर, नेत्र एवं हृदय में दाह, प्यास, मूर्च्छा, वमन, दस्त, मुँह सूखना एवं मुँह का स्वाद तीता हो जाना, पसीना निकलना तथा मल-मूत्र एवं नेत्र का रंग पीला हो जाना। विकृत पित्त के विशेष लक्षण-- **अनिद्रा, भूख, प्यास,** दाह एवं मल, मूत्र, नेत्र तथा त्वचा की पीतवर्णता।

पित्त ज्वर चिकित्सा—पित्त पापड़ा, नागरमोथा और चिरैता प्रत्येक पाँच-पाँच टंक लेकर काढ़ा बनाकर तीन रोज दोनों शाम सेवन करने से पित्त

---

* पेटेन्ट औषधियों के प्रपंच का कच्चा चिट्ठा डा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा लिखित **"पेटेण्ट औषधियाँ और भारतवर्ष पुस्तक में देखिए।"**

ज्वर शान्त होता है। रक्त, चन्दन, पद्मकाठ, धनियाँ, गिलोय और नीम की छाल का काढ़ा, चूर्ण अथवा बटी बनाकर सेवन करने से भी लाभ होता है। पित्त ज्वर में मीठे अनार का शर्बत, पुष्प शय्या, केले का पत्ता और नीम की पत्ती का बिस्तरा एवं मधुर शब्द और चावल की खील एवं मिश्री का शर्बत हितकारी है। पित्त ज्वर चिकित्सा पर कविराज सुखराम प्रसाद बी० एस० सी० आयुर्वेदाचार्य के अभिमत:-(स० आ०)

पित्त ज्वर में लंघन या लघुपथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए, अधिक आम-दोष रहने पर लंघन कराएँ, कम रहने पर लघु पथ्य दे सकते हैं। प्रायः देखा गया है कि पित्त ज्वर में पेट में असाधारण जलन होती है। ऐसी अवस्था में और वमन की प्रवृत्ति होने पर नाना प्रकार के लघुपथ्यों की व्यवस्था करना उचित है। खाली पेट रहने से रोगी को किसी प्रकार का आराम नहीं मालूम पड़ता। यव का चावल ८ तोला और परवल ४ तोला एकत्र सिद्ध कर मण्ड बनाना चाहिए। उसमें रुचि के अनुसार चीनी या मधु देकर रोगी को दें। सुकोमल नारिकेल शस्य भी पित्त ज्वर में उत्तम पथ्य है। वमन होने पर यह विशेष लाभदायक है। लाजमण्ड, यवमण्ड या पेया, बेदाना के रस के साथ दे सकते हैं।

पित्त ज्वर में वमन वेग अतीव कष्टदायक है। धान का लावा दस तोले, मिश्री पांच तोले पाव भर पानी में भिगावे और मिश्री घुल जाने पर छान लेवें। इसमें थोड़ा-सा नीबू का रस मिला देने से पित्त ज्वर या अन्य ज्वर में होनेवाला वमन-वेग शान्त हो जाता है। अगर इससे भी लाभ नहीं हो तो निम्नलिखित उपाय करना चाहिए—

एक वर्ष से अधिक की पुरानी इमली दो तोले लेकर पत्थर या काँच के पात्र में रक्खें। उसमें पाव भर पानी डालकर कुछ देर के लिए छोड़ दें। पानी रञ्जित हो जाने पर छान लें और अम्लमधुर बनाने के वास्ते थोड़ा चीनी अथवा मिश्री डालकर प्रयोग करें। इससे वमन का वेग पूर्णरूपेण शान्त हो जाता है। धान का लावा आधा पाव, नीम का कच्चा पत्ता आधी छटाँक, एक पाव जल

में अच्छी तरह मर्दन कर छान लेवें। २½ भर की मात्रा में तीन-चार बार पीने से वमन शान्त हो जाता है। रसादि बटी २½ गोली, जहर मोहरा भस्म एक रत्ती और एलादि चूर्ण ४ रत्ती एक साथ मिलाकर धनियाँ या बड़ी इलायची के फुलाए पानी के साथ देने से भी लाभ होता है।

पित्त ज्वर में अन्तर्दाह और बहिर्दाह मालूम होने पर धनियाँ का पानी काढ़ा चीनी मिलाकर पीना चाहिए। दो तोले धनियाँ को अच्छी तरह कूटकर ३२ तोले जल के साथ पकाकर, ८ तोले शेष रहने पर उतार लेवें। दूसरे दिन छानकर उसमें आधा तोला चीनी मिलाकर पिलाने से सभी प्रकार के दाह दूर हो जाते हैं।

रोगी को बिस्तरे पर चित्त सुलाकर उसकी नाभि के ऊपर ताम्बा, पीतल अथवा कांसे की कटोरी रखकर उसमें धीरे-धीरे ठण्ढा जल डालें। जल पूर्ण हो जाने पर कटोरी को हटाकर जल फेंक देवें। इस प्रकार जल ढालने से दाह में अच्छा लाभ होता है और हिक्का भी शांत होती है : पित्त ज्वर में प्यास दूर करने के वास्ते षडङ्ग पानी भी अत्युत्तम है। मोथा, धन पीपर, खस, लाल-चन्दन सुगन्ध वाला और सोंठ प्रत्येक द्रव्य २७ रत्ती लेकर अच्छी तरह कूट लें। चार सेर जल में पकाकर दो सेर जल शेष रहने पर ठण्डा करके छान लेवें, सुलभ होने पर बर्फ के द्वारा भी ठण्ढा कर पीने के लिए दे सकते हैं।

भूमिकुष्माण्ड, सरस दाड़िम बीज, लोध, मैथ कुट्टी, और कलम्ब नीबू का केसर सब बराबर लेकर पानी के साथ पीसें। मस्तक के अगले भाग को केश-शून्य करके इसका लेप देने से शिरःसन्ताप, दाह तथा प्यास दूर होती है।

पित्त ज्वर में कुटकी, मोथा, इन्द्र जौ का कषाय विशेष हितकर है। प्रत्येक द्रव्य ५३-५४ रत्ती लेकर ३२ तोले जल के साथ पाक कर आठ तोले शेष रहने पर छान लेवें। यह कषाय अनुलोमक और पित्तनिःसारक है। इससे संचित मल आसानी से निकल जाने पर परमोपकार होता है। पित्तज्वर में यदि अति-सार का उपद्रव हो तो इस काढ़े का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वहाँ पर ज्वरातिसार की उपयुक्त क्रियाओं को ही काम में लाना चाहिए। किन्तु लाक्ष-णिक अतिसार में इस कषाय का निर्भय होकर प्रयोग कर सकते हैं।

पित्त ज्वर की आमावस्था में परवल के रस के साथ सिन्दूर का प्रयोग सर्वथा लाभदायक है। दिन भर में दो तीन बार प्रयोग किया जा सकता है। सौभाग्य वटी को रक्त चन्दन के लेप के साथ देने से भी उपकार होता है। पित्त-ज्वर की पाच्यमानावस्था में मसूरयूष, नारंगी, बेदाना, अनार, मोसम्बी, अंगूर, बार्ली तथा चिउड़ा फुलाया हुआ पानी पथ्य के रूप में दे सकते हैं। रोगी की अवस्था देखकर उसकी रुचि और पाचन-शक्ति के अनुकूल पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिए।

पित्त ज्वर की पाच्यमानावस्था या निरामावस्था में यदि कोष्ठबद्धता रहे और इसकी शुद्धि की आवश्यकता मालूम पड़े तो "द्राक्षादि" कषाय का प्रयोग करें। यह कषाय सुख विरेचक और प्रलाप, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, मुख शोष और तृष्णा संयुक्त पित्त ज्वरनाशक है। द्राक्षादि कषायः—

द्राक्षा, हरड़, पितपापड़ा, नागरमोथा, कुटकी इनका क्वाथ कर के इसमें अमलताश का गुद्दा मिला कर प्रयोग करें।

लंघन, लघुभोजन, विरेचन और कषायादि प्रयोग से पित्त ज्वर की निरामावस्था शीघ्र आ जाती है। निरामावस्था आने पर उचित पथ्य और ज्वरघ्न कषाय का प्रयोग करना चाहिए। निराम पित्त ज्वर में दुग्ध अपथ्य नहीं किन्तु शुद्ध दूध सब लोगों के कोष्ठ के लिए सुपाच्य नहीं है। अतः कोष्ठ में अनेक प्रकार के कष्ट हो जाते हैं। यव या धान के लावा का मण्ड बनाकर इसमें दूध और चीनी मिलाकर प्रयोग कर सकते हैं।

जायाबटी पित्त ज्वर की महौषधि है। इसका प्रयोग निराम और पच्यमान पित्त ज्वर में दूध, परवल का रस या परवल के पत्ते और धनियाँ के साथ करना चाहिए। पित्त ज्वर में आँखें पीली रहने पर दारु हल्दी के काढ़े के साथ जयाबटी का प्रयोग करना चाहिए। जल के साथ दारुहल्दी घिस कर उसके लेप के साथ भी प्रयोग कर सकते हैं।

कफ ज्वर

अन्न से अरुचि, शरीर का भारीपन, मुंह का मीठापन, आलस्य, झपैनी,

अत्यधिक निद्रा, श्वास, कास, नाक बहना अथवा जकड़ना, ज्वर का साधारण वेग, हाथ-पैर में ठंढापन तथा मल, मूत्र एवं नेत्र का रंग श्वेत हो जाना। उक्त चिन्ह कफ ज्वर में देखने में आते हैं।

कफ ज्वर चिकित्सा—सोंठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, पीपला मूल, सफेद जीरा, काला जीरा, लौंग, इलायची, अजवायन और सेंकी हुई हींग सम भाग लेकर चूर्ण बना लेवें। मात्रा चार आने से आठ आने भर गरम जल के साथ दिन में दो से चार बार देना चाहिए।

कटेरी, गिलोय, पुष्कर मूल, अडूसा और कचूर को चार-चार आने भर लेकर दोनों शाम क्वाथ बनाकर सेवन करने से कफ ज्वर में लाभ होता है। कफ ज्वर में केवल अडूसे का क्वाथ भी अच्छा लाभदायक है। कफ ज्वर में शातभजी रस का उपयोग बहुत ही गुणकारी होता है। इस रस को अडूसे के क्वाथ के साथ उपयोग करने से आशातीत फल होता है।

शीतभंजी रस—योग शुद्ध पारा २॥ तोले, शुद्ध गंधक २॥ तोले, ताम्बेश्वर २॥ तोले, शुद्ध सुहागा २॥ तोले, मिर्च २॥ तोले, पीपल २॥ तोले, सोंठ १ तोला और शुद्ध सिंगी मुहरा १ तोला। सभी औषधियों को बारीक पीस लेने के पश्चात् चित्रक के रस को ३ पुट, अदरख के रस की सात पुट और पान के रस की तीन पुट देकर एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लेवें। अनुपान अडूसे का काढ़ा अथवा त्रिफला का काढ़ा।

द्वन्द्वज ज्वर—इससे बारे में पहले ही लिखा जा चुका है कि दो-दो दोषों के संयुक्त उपद्रवयुक्त ज्वर को द्वन्द्वज ज्वर कहते हैं उदाहरणार्थ **"वात पित्त ज्वर"** को लीजिए। वात पित्त ज्वर में सिर दर्द, वमन, रोमांच, अनिद्रा का भाव, कंठ एवं होठों का सूखापन, जम्हाई, प्रलाप और शरीर में दर्द आदि चिन्ह देखने में आते हैं। इसी प्रकार वात कफ ज्वर में सिर एवं संधियों में पीड़ा, कंप, शरीर में अत्यधिक थकावट, मुँह का स्वाद कसैला अथवा मीठा, मल, मूत्र एवं नेत्र का रंग धुमैला अथवा श्वेत और खाँसी आदि चिन्ह दृष्टिगोचर होते हैं।

द्वन्द्वज ज्वर चिकित्सा--जिस प्रकार दो दोषों युक्त ज्वर के चिन्ह में उक्त दोनों दोषों के लक्षण पाए जाते हैं उसी प्रकार उनकी चिकित्सा के लिए भी दोनों प्रकार के दोषशामक औषधियों की आवश्यकता पड़ती है जैसे वात पित्त ज्वर को खरैटी, गुर्च, रक्तचन्दन, शोंठ, पद्मकाठ, पित्त पापड़ा, नागरमोथा एवं पीपल का क्वाथ शान्त कर देता है। इसी प्रकार अन्य द्वन्द्वज ज्वरों में भी व्यवस्था करनी चाहिए। दोष की प्रबलता का ख्याल करके जिस दोष की अधिकता जान पड़े उसके अनुकूल ही औषधि संग्रह करना उचित है।

सन्निपात ज्वर--वायु, पित्त एवं कफ समानावस्था में रह कर शरीर को धारण किए हुए हैं। इनमें किसी भी धातु में कमी-बेशी हो जाने पर रोग पैदा हो जाता है। जिसका विशद वर्णन पहले ही किया जा चुका है। सन्निपात का अर्थ–वायु, पित्त एवं कफ (त्रिधातु) का कुपित हो जाना है। इस प्रकार जिस रोग में त्रिदोष की विकृति हो जाय उसको "सन्निपात" कहते हैं। मिथ्या आहार-विहार ही सन्निपात ज्वर का कारण है।

सन्निपात ज्वर में--श्वास, कास, मूर्छा, भ्रम, तन्द्रा, सिर एवं अंग-प्रत्यंग में दर्द, नेत्र में आँसू, क्षण में दाह एवं क्षण में शीत का भाव होना, नाड़ी टूटती-सी मन्द अथवा अत्यन्त सूक्ष्म, मल, मूत्र एवं नेत्र के रंग विभिन्न प्रकार के लाल, काला, उजला, हरा एवं पीलापन लिए हुए होना कब्ज अथवा अतिसार, इन्द्रियों का कार्य विचलित हो जाना तथा कण्ठ एवं जीभ खर्दरा हो जाना आदि लक्षण देखने में आते हैं।

सन्निपात ज्वर में सफल होना साधारण बात नहीं है। चूंकि त्रिधातु का स्वधर्म से विचलित होकर त्रिदोष बन जाने का अर्थ शरीर का रक्षक ही भक्षक बन जाता है। वैद्यक शास्त्र में सन्निपात पर विजय पाने वाले वैद्य को बड़ा महत्व दिया गया है।

तेरह महत्वपूर्ण सन्निपातों में--सात रोज से लेकर तीन मास तक की रोगावधि का वर्णन है।

सन्निपात ज्वर की संक्षिप्त चिकित्सा

इस ज्वर में उन्हीं औषधियों का व्यवहार किया जाता है जिनमें त्रिदोष के शामक गुण पाये जाते हैं अथवा उन औषधियों को संग्रह किया जाता है जो अपने साथ किसी अन्य रस भस्म को लेकर रोग को शान्त करें। इस भस्म का उपयोग तो बिना योगवाही औषधि के पूर्ण होता ही नहीं। यही कारण है कि एक ही दवा अनुपान भेद से अनेक रोगों में काम आती है।

सन्धिगत सन्निपात—सन्धि शूल, अनिद्रा, उदर में गम्भीरता, शक्तिहीनता एवं शरीर में सूजन आदि इसके विशेष लक्षण हैं। इस रोग का भोगकाल ७ दिनों तक है। **चिकित्सा**-शोंठ, देवदार, कुटकी, कचूर, चित्रक, गिलोय, अडूसा, एरण्ड, अरलू, शालिपर्णी, पृश्निपणी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, बेल और पाढ़ सम भाग लेकर चूर्ण अथवा काढ़ा बनाकर बलाबल अनुकूल प्रयोग करने से सन्धिगत सन्निपात अच्छा हो जाता है।

भग्ननेत्र सन्निपात—ज्वर का अत्यधिक वेग, भ्रम, प्रलाप, कम्प, स्मरण-शक्ति हीनता और नेत्रों का चंचल एवं टेढ़ा हो जाना आदि लक्षण देखने में आते हैं। चिकित्सा-हल्दी, दारू हल्दी, नीम की छाल, पत्रज, कुटकी, नागरमोथा एवं तुरई का काढ़ा लाभप्रद होता है।

रक्तष्ठीवी सन्निपात—थूक के साथ रक्त निकालना, भ्रम, शूल, वमन, श्वास, प्यास एवं मोह आदि चिन्ह देखने में आते हैं। रोगावधि १० दिनों तक। चिकित्सा-कमल की जड़, वकायन की छाल, चन्दन, शतावर, पद्मकाठ, पीपल, नागरमोथा एवं रक्तचन्दन को समभाग लेकर बलाबलानुकूल मात्रा से काढ़ा अथवा चूर्णादि देने से लाभ होता है।

चित्तभ्रम सन्निपात—इसमें रोगी की हालत पागल जैसी हो जाती है। हँसना, गाना, रोना, चिल्लाना, नाना प्रकार की भावभंगी बनाना आदि लक्षण देखने में आते हैं। ११ दिन। चिकित्सा-ब्राह्मी, बच, बेलगिरी, आँवला, हर्रे, बहेरा, दाख, नीम की छाल, नागरमोथा, शालीपर्णी, पृष्टपर्णी, पाढ़ल,

गोखरू और दोनों कटेरी को सम भाग लेकर काढ़ा बनाकर सेवन कराने से लाभ होता है।

रुग्दाह सन्निपात—प्यास, दाह, प्रलाप, उदरशूल, एवं व्याकुलता आदि की प्रबलता होती है। भोगकाल २० दिनों तक। चिकित्सा—दाख, कुटकी, देवदार, पित्तपापड़ा, नीम की छाल, नागरमोथा और त्रिफला का क्वाथ अथवा चूर्णादि से उक्त सन्निपात शान्त हो जाता है।

तान्द्रिक सन्निपात—तन्द्रा की अधिकता, श्वास, ज्वर का वेग विशेष होना, कान में दर्द, अतिसार एवं जीभ काली और खर्दरी हो जाना। **चिकित्सा**—हर्रे, कटेरी, पुष्कर मूल, गिलोय, नागरमोथा तथा भारंगी आदि औषधियाँ उपयुक्त हैं।

कण्ठ कुब्ज सन्निपात—कण्ठ में सूखापन, दाह, शरीरमात्र में पीड़ा और शरीर का अत्यधिक गरम होना तथा भूल बोलना आदि चिन्ह देखने में आते हैं। **चिकित्सा**—कचूर, काकड़ा, सिंगी, कटेरी, कुटकी, काली मिर्च, चिरैता चित्रक, अड़ूसा, दारु हल्दी, भारंगी, पुष्करमूल, हर्रे की छाल और गिलोय आदि औषधियाँ इसमें काम आती हैं।

कर्ण सन्निपात—श्वास, कम्प, पसीना, प्रलाप, ज्वर वेगादि के साथ कान के निम्न भाग में सूजन हो जाती है भोग काल ३ मास तक। चिकित्सा—कुटकी, काकड़ा सिंगी, दोनों कटेरी, असगन्ध, नगरमोथा, त्रिफला, भारंगी, रासना पुष्कर मूल और हर्रे की छाल आदि औषधियाँ इसमें काम आती हैं। कर्णमूल सूजन पर जोंक लगाना अथवा तुम्बी लगाना हितकर होता है। सूजन पर चढ़ाने के लिए निम्नलिखित लेप का प्रयोग विशेष लाभप्रद है—दारू हल्दी, हल्दी सेंधा नमक, एरण्ड मूल इन्द्रायन की जड़, आक के दूध अथवा सेनुरहार के पत्तों के रस के साथ पीसकर ठंढा ही लेप करना चाहिए।

प्रलाप सन्निपात—प्रलाप, कम्प, तिलमिलाहट, ज्वर का वेग अत्यधिक, श्वास विकलता आदि इसके विशेष चिह्न है। चिकित्सा—कमल की जड़,

कटियारी, कुम्भेर, चन्दन, अडूसा, बेलगिरी, पितपापड़ा, थरलू, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी आदि औषधियाँ इसमें काम आती हैं।

जिह्वक सन्निपात—जीभ लकड़ी की भाँति कड़ी हो जाना, बहिरापन, ताप का अत्यधिक वेग एवं श्वास आदि इसके चिन्ह हैं। चिकित्सा—कुटकी, कटियारी, काकड़ासिंगी, ब्राह्मी, भारंगी, पुष्करमूल, अडूसा, कचूर, नीम की छाल, नागरमोथा, रासना तथा सोंठ आदि औषधियाँ इसमें काम आती हैं।

अभिन्यास सन्निपात—अनिन्द्रा, खांसी की अधिकता, चेष्टाहीनता एवं इन्द्रियों का स्वकार्य त्याग आदि चिन्ह देखने में आते हैं। चिकित्सा कुटकी, कमलतन्तु, कटियारी, कचूर, ब्राह्मी, बच, देवदारू, हल्दी, पुष्करमूल, इन्द्रायन की जड़, इन्द्र जौ, सोंठ, पीपल, काठा, चिरैता और नीम की छाल आदि औषधियों का चूर्ण अथवा क्वाथादि काम आते हैं।

शीताङ्ग सन्निपात—इसमें समस्त शरीर बर्फ की भाँति ठंढा हो जाता है। **चिकित्सा**—पारद ४ भाग, सिंगी मुहरा पाँच भाग, काली मिर्च २० भाग और धतूरे का फल भस्म ४० भाग लेकर रोगी के शरीर पर मलना चाहिए। इस सन्निपात में रोगी को सर्प और बिच्छू से काटने से लाभ होने की बात लिखी है लेकिन यह लोक विरुद्ध प्रतीत होता है। नौसादर, तूतिया, राई, काली मिर्च, धतूरा और नौसादर को गोमूत्र में पीस कर रोगी के मस्तक पर रखने से लाभ होता है। दोनों भौं के बीच ताम्बे के पैसे अथवा लोहे के सलाके को आग में गर्म करके दागने से भी लाभ होता है। यह असाध्य है।

अन्तक सन्निपात—अत्यधिक दाह, कम्प, माथा पटकना, हिचकी, प्रलाप, श्वास एवं संज्ञाहीनता आदि इसके चिन्ह हैं। चिकित्सा—ब्राह्मी, बच, काली-मिर्च, पुष्कर मूल, नोमरमोथा आदि औषधियाँ दीं जा सकती हैं लेकिन इस रोग का नाम ही अन्तक हैं। अतः यह काल रूप होकर ही आता है।

ज्वर पर कुछ खास औषधियाँ

चिन्तामणि रस—हिंगुलोत्थ पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म, ताम्रभस्म,

सोंठ; कालीमिर्च, पीपल, हर्रे की छाल; आँवला और शुद्ध जमालगोटा समभाग लेकर गूम की पत्ती के रस में छः घंटों तक खरल करने के पश्चात् धूप में सुखा कर एक-एक रत्ती की गोलियाँ बना लेना चाहिए। अनुपान मधु अथवा जल। मात्रा—दो से तीन गोलियाँ तक। इससे आठों ज्वर अजीर्ण एवं उदरशूल तथा आमवातादि रोग अच्छे हो जाते हैं। "वैद्य विनोद"।

त्रिपुरभैरव रस—काली मिर्च चार तोले, सोंठ चार तोले, शुद्ध तेलिया सुहागा तीन तोले और शुद्ध सिंगी मुहरा एक तोला को महीन पीस कर नीबू के रस में ३ रोज, आदी के रस में ५ रोज और पान के रस में ३ दिनों तक खरल कर रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना लेवें। अनुपान अदरख का रस। दो से तीन गोलियाँ तक सेवन करना चाहिए। यह सन्निपात नाशक महौषधि है।

ब्रह्मास्त्र रस—पारद भस्म ३ भाग, शुद्ध गन्धक ३ भाग, शुद्ध सिंगी मुहरा ७ भाग और काली मिर्च बारह भाग लेकर बारीक पीस लेना चाहिए। इन औषधियों को कलियारी, बन्दाल और ज्वालमुखी के रस में खरल कर अदरख के रस की इक्कीस पुट देकर एक-एक रत्ती की गोलियाँ बना कर उपयोग करने से सन्निपात में लाभ होता है।

कस्तूरी भैरव रस—कस्तूरी, सोना भस्म, चाँदी भस्म, ताम्र भस्म, लौह भस्म, अभ्रकभस्म, प्रवाल भस्म, मोती पिस्टी, कपूर, धाय के फूल, कौंवाच के बीज, बायबिडङ्ग, नागर मोथा, सोंठ खस, शुद्ध हरताल, माणिक्य रस और आँवला को समान भाग, संग्रह करना चाहिए। काष्ठौषधियों को चूर्ण बनाकर भस्मों के साथ मिला लेने के बाद आक के पत्तों के रस में दो रोज तक मर्दन करने के पश्चात् कस्तूरी और कपूर को मिलाकर एक रोज और आक के पत्तों के रस में मर्दन करके एक-एक रत्ती की गोलियाँ तैयार कर छाया में सुखा लें। मात्रा १ से दो गोली रोज। अनुपान—पान, मधु एवं अदरख का रस। यह अनुपान भेद से सर्वसन्निपात में काम आता है। भै० र०।

अर्धनारी नटेश्वर रस—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध विष दो तोले, शुद्ध जमाल गोटा दो तोला और काली मिर्च का चूर्ण ८ तोला।

पारा गन्धक की कज्जली बनाकर शेष औषधियों को मिलाकर त्रिफला के रस में मर्दन करने के पश्चात् जंबीरी नीबू रस की सात भावना देकर छाया में सुखा लेवें। प्रयोगविधि—बकरी के दूध के साथ उक्त रस एक अथवा दो रत्ती प्रमाण में नस्य के रूप में देने से सन्निपात, मूर्च्छा, अनिद्रा, श्वास, कास एवं भ्रम आदि में लाभ होता है। इसके नस्य मात्र से ही ज्वर का ताप बिल्कुल साधारण हो जाता है (र० सा० सं०)।

आगन्तुक ज्वर

चोट, भूत बाधा, काम क्रोधादि की अधिकता, विष सेवन करने एवं विषैले जानवरों के काटने तथा शाप वगैरह से उत्पन्न हुए ज्वरों को आगन्तुक ज्वर कहते हैं। लू लगने तथा आजकल विकिरण से होने वाले ज्वर को भी इसी में समाविष्ट करना चाहिए।

चोट लगने से जो ज्वर हो जाता है उसमें वायु दूषित होकर रक्त को बिगाड़ देता है, जिसके फलस्वरूप प्रवाहित स्थान एवं सर्वाङ्ग में पीड़ा होने लगती है। चि०—चोटवाली जगह पर पट्टी बाँधनी चाहिए तथा हल्दी, चूना, चोट सज्जी, सेमल की छाल, हड़जोर और नागदमन के छत्ते को पीसकर सुसम कर लेने के पश्चात् लेप करना चाहिए। हल्दी जलाकर स्प्रीट में मिलाकर लगाने से भी लाभ होता है! टिंचर आयोडीन तथा टिंचर बेंजोइन से भी लाभ होता है। खाने के वास्ते वायुशामक औषधियाँ देनी चाहिए। ❀

भूत बाधा से उत्पन्न ज्वर में उद्विग्नता, कंप, चित्तभ्रम एवं हड्डियों में दर्द आदि चिह्न देखने में आते हैं। इस प्रकार का ज्वर मन्त्रों द्वारा भी ठीक करने की विधि बतलायी गयी है जिसको भौतिक युग बेकार समझने लगा है। लेकिन उस चित्ताकर्षक चेतनादायिनी प्रणाली का स्थान आज आडम्बर ने ले रक्खा है। यही कारण है कि इस ओर से लोगों की प्रवृत्ति विमुख होती जा रही है।

❀ विशेष विवरण आकस्मिक दुर्घटना में देखें।"

इसमें कपूर सूंघने से लाभ होता है। हींग और लहसुन को भिगोकर नस्य देने अथवा अंजन लगाने से भी लाभ होता है।

कामज्वर में अधीरता, निर्लज्जता, दाह एवं अत्यधिक मैथुनेच्छा रहती है। इस ज्वर में मैथुन कराने की बात शास्त्रकारों ने लिखी है।

क्रोधज्वर में शरीर कंप, दाह, सिर पीड़ा आदि पित्तज्वर जैसे चिन्ह दिखलायी पड़ते हैं। पित्तज्वर की दवाओं को सेवन कराना, मधुर वचन से रोगी को संतुष्ट करना आदि यत्न करें।

शोक ज्वर, धन के नाश एवं प्रेमीजन के बिछोह आदि से हो जाता है ज्वर एवं अतिसार वगैरह उपद्रव देखने में आते हैं। इसके लिए रोगी को ज्ञानवर्धक कथाएँ संसार की असारिता बताना एवं रुचिकर पथ्य देना चाहिए।

भय ज्वर, डर जाने के कारण हो जाता है। इसमें वीररस की कथाएँ सुनानी चाहिए तथा विभिन्न प्रकारों की हवन सामग्रियों से शुद्ध साफ स्थान पर रोगी को रखना चाहिए।

विषज्वर, स्थावर विषपान के कारण और (जंगम) विषयुक्त जानवरों के काटने से ज्वर हो जाता है। शरीर में सूचीवेध्य के समान दर्द, मुंह पर कालापन झँपैनी, मूर्च्छा तथा भ्रम आदि चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं। विषज्वर में वमन विरेचन से लाभ होता है। दंश स्थान पर अंगा की जड़ छापनो चाहिए। इसके वास्ते सावर मंत्र आज भी रामबाण है।

शापज ज्वर, मातापिता, गुरुजन एवं श्रेष्ठ जनों के तिरस्कार करने से होता है। शापज ज्वर में सर्वाङ्ग में दर्द एवं चित्त विक्षिप्त होकर व्याकुलता हो जाती है। इसके रोगी को मातापिता अथवा गुरुजनों की प्रार्थना करनी चाहिए। क्षमायाचना से भी मन का प्रायश्चित हो जाता है। तिरस्कार करने के पश्चात् स्वयं अपने मन पर एक दबाव जैसा पड़ जाता है जिसको हलका करने के लिए शुद्ध हृदय से अपनी उदण्डता को दमनार्थ तिरस्कृत व्यक्ति से क्षमा-जांचना चाहिए।

———

विषम ज्वर (Malaria Fever) मलेरिया ज्वर

आयुर्वेद शास्त्र के मतानुसार विषम ज्वर के निम्नलिखित पाँच भेद हैं—सन्तत, सतत् अन्येद्युः, तृतीयक और चतुर्थक। कुछ आचार्यों का मत है कि सन्तत ज्वर विषम ज्वर के अन्तर्गत नहीं है। क्योंकि इस ज्वर के विषय में लिखा है कि यह सात, दस अथवा बारह दिनों के बाद ही उतरता है।

पाश्चात्य देशीय चिकित्सक इस ज्वर को रेमिटेण्ट फिवर (Remittent) कहते हैं। उन लोगों के मतानुकूल भी यह ज्वर ठहरने वाला है। इस ज्वर में जीभ पर लेप, शरीर में गर्मी कभी-कभी पर्यायक्रम से कै और दस्त का भी होना देखा जाता है। ज्वर होने के पहले साधारण जाड़ा और रोमाञ्च भी होता है।

हिकमत के मतानुसार भी इस रोग में सर्दी, जो मिचलाना, कै, चमड़ा गर्म तथा माथा एवं कमर में दर्द आदि उपद्रव देखने में आते हैं।

सतत ज्वर--दिन-रात में दो बार चढ़ने और दो बार उतने वाले ज्वर को सतत ज्वर कहते हैं।

अन्येद्युः ज्वर--यह ज्वर रोज आता है लेकिन इसके आने का कोई समय निश्चित नहीं रहता है।

तृतीयक--यह हर तीसरे दिन आता है।

चातुर्थक ज्वर--यह ज्वर दो दिनों का नागा देकर याने हर चौथे दिन आता है।

मलेरिया ज्वर के अनेक नाम हैं--

संविराम (Intermittent), दलदली ज्वर (Marsh Fever), जड़ैया ज्वर (Ague), ऋतु ज्वर (Climatic Fever), तराई ज्वर (Feri Fever), और बर्दवान, पेशावर तथा चटगाँव ज्वर वगैरह भी।

पहले यह ज्वर विशेष रूप से बंगाल, आसाम एवं मद्रास आदि स्थानों में ही देखने में आता था लेकिन वर्तमान में इस ज्वर की भीषण व्यापकता देखते ही बनती है। सरकारी रिपोर्ट के मुताबिक अपने देश में प्रतिवर्ष प्रायः दस करोड़ मनुष्य इससे पीड़ित होते हैं। इस रोग से भारत में प्रति वर्ष लगभग

२० लाख मनुष्य काल के गाल में चले जाते थे। परन्तु मलेरिया विरोधी अभियान के बाद इससे मरने वालों की संख्या नगण्य हो गई है। आयुर्वेद शास्त्र में मलेरिया ज्वर को "विषम शीतज्वर" कहा गया है।

आयुर्वेद शास्त्र में मिथ्या आहार-बिहार से वायु, पित्त एवं कफ में विकृति होकर ही रोगोत्पत्ति का वर्णन है लेकिन एलौपैथी विज्ञानानुसार इस रोग का कारण प्लैजमोडियम (Plasmodium) नाम का जीवाणु बतलाया गया है। उन लोगों का कहना है कि एनाफिलीस जाति की मच्छरी के काटने अथवा पानी के साथ पेट में उनके छाटे-छोटे अण्डों के पहुँच जाने से एक सप्ताह से तीन सप्ताह के अन्दर ही मलेरिया ज्वर हो जाता है। उक्त प्रकार मानव शरीर में मलेरिया विष पहुँच जाने पर रोग शामक प्राकृतिक शक्ति का ह्रास होने लगता है और बाद में सुस्ती, बेचैनो, सिर एवं कमर में दर्द, जलन, प्यास, कै एवं जाड़ा वगैरह उपद्रव के रूप में मलेरिया ज्वर सामने आ जाता है।

मलेरिया ज्वर की तीन अवस्थायें होती हैं—शीतावस्था, उष्णावस्था और घर्मावस्था। शीतावस्था में कँपकँपी, शरीर में दर्द, प्यास एवं जी मिचलाना आदि उपद्रव पैदा होते हैं। उष्णावस्था में—समूचे शरीर में दर्द, माथा में टपक का दर्द, चेहरा तमतमाया हुआ, चमड़े में रूखापन आदि उपद्रव पैदा होते हैं। इसको ज्वर की द्वितीयावस्था भी कहते हैं। घर्मावस्था बाद की अवस्था है। इसमें पसीना होकर ज्वर घटने लग जाता है।

मलेरिया ज्वर के प्रकोप से मानव शरीर स्थित रोग क्षमता का पूर्णरूपेण ह्रास हो जाता है। जब तक मानव शरीर में रोग-क्षमता शक्ति की प्रबलता रहती है, कोई रोग नहीं हो पाता। रोग क्षमता का ह्रास मानव जीवन को कंटकाकीर्ण बना डालता है। पाश्चात्य देशीय चिकित्सकों का कहना है कि मलेरिया के कीटाणु रक्त के लाल कणों को खा जाते हैं, फलस्वरूप रक्त के श्वेताणुओं की संख्या बढ़ जाने के कारण शरीर सफेद रंग का हो जाता है। मलेरिया ज्वर अधिक दिनों तक ठहरने पर शरीर में नाना प्रकार का रोग पैदा करने में समर्थ हो जाता है। इससे पाण्डु, रक्त स्वल्पता, तिल्ली, बरवट,

अतिसार आदि रोग हो जाते हैं। ज्यादा दिनों तक ज्वर ठहर जाने पर ज्वर को **"जीर्ण ज्वर"** कहते हैं। जीर्ण ज्वर की उचित चिकित्सा नहीं होने के कारण महा भयानक रोग **यक्ष्मा** तक की उत्पत्ति होती है। काला-जार (Kala azar) जैसा भयानक रोग भी मलेरिया की नींव पर ही अपना महल तैयार करता है। काला-जार हो जाने पर प्लीहा बढ़ कर कड़ी हो जाती है, रक्त की कमी एवं शरीर में कृशता तथा तलपेट में सूजन और पेशाब में रक्त भी निकलने लगता है। मलेरिया ज्वर को साधारण ज्वर समझ कर उपेक्षा करने से भयानक हानि होती है। इस रोग में बहुत सावधानी के साथ चिकित्सा का प्रबन्ध होना चाहिए।

मलेरिया ज्वर की चिकित्सा

कुछ खास चिकित्सकों के मतानुसार मलेरिया ज्वर की अत्युत्तम औषधि कुनैन ही है। लेकिन कुनैन के प्रयोग से जितना लाभ होता है उससे कहीं अधिक हानि होती है इसके अपव्योहार से अनेक उपद्रव होते हैं। कुनैन की मात्रा के विषय में बहुत गड़बड़ी देखने में आती है। खास कर ऐसा भी देखा जाता है कि किसी भी रोग को एक दवा देने से उसकी गौण क्रिया बहुत ही भयानक होती है। ज्यादा कुनैन देने से ज्वर तो शीघ्र ही रुक जाता है लेकिन ज्वर से अधिक गर्मी कुनैन में होती है जो ज्वर को एकाएक दबाकर शरीर में विषवत फैलने लगती है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि कुनैन का व्यवहार अनुचित है लेकिन जिस रूप में आज कुनैन का उपयोग हो रहा है अनुचित ही नहीं बल्कि भयानक अपराध है। इस व्यवस्था से आँत और दाँत ही नहीं बल्कि कान और आँख के रोगों में भी बाढ़-सी आती जा रही है।

वाताधिक्य विषम ज्वर में घृत पान कराना, अनुवासन वस्ति और गर्म पदार्थ का सेवन करा-करा कर कै कराना लाभकर सिद्ध हुआ है। पित्ताधिक्य में दूध और घी मिलाकर दस्त कराना श्रेयस्कर बतलाया गया है। कफाधिक्य में वमन, लंघन तथा पाचन से लाभ होता है।

चिकित्सा करते समय वमन, विरेचन, लंघन एवं स्वेदन के लिए आव-

श्यकतानुसार उचित प्रबन्ध करना परमावश्यक है। **कस्टर आयल** जिसको हिन्दी में अरण्ड तेल कहते हैं, दस्त कराने के लिए अच्छा साधन है। इस तेल को गरम दूध चाहे त्रिफला के काढ़ा के साथ पिलाना चाहिए। दस्त कराने के लिए निम्नलिखित औषधियों से भी अच्छा होता है—

सनाय की पत्ती दो भाग; छोटी हर्रें दो भाग, अजवायन एक भाग और काला नमक एक भाग। उक्त औषधियों को कूट, कपड़छान कर बोतलों में डाट-लगाकर रक्खें। यह अत्युत्तम मृदुल विरेचन है। काला दाना और सोंठ के चूर्ण को भी विरेचन के लिए प्रयोग किया जाता है। मात्रा चार से आठ आने भर तक गर्म जल के साथ। अगर काला दाना को घी में भूनकर काम में लाया जाय तो और अच्छा होता है। कमजोर रोगी को वमन अथवा विरेचन कराने के पहले अच्छी तरह से उसकी हालत पर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है।

विषम ज्वर के लिये आयुर्वेद शास्त्र में तुलसी, करंज एवं शुद्ध श्वेत संखिया आदि का प्रयोग विशेषरूप से देखने में आता है। वायु, पित्त एवं कफ की न्यूनाधिकता के अनुकूल तो पहले ही विभिन्न प्रकार के योगों का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ पर कुछ खास औषधियों का वर्णन किया जाता है जो मलेरिया ज्वर में विशेष फायदा दिखलाने वाली हैं।

विषम ज्वरान्तक वटी

१—काली मिर्च, धतूरे की जड़, मदार की जड़ एवं इन्द्रायण की जड़ एक-एक तोला और तुलसी पत्र आठ आने भर को जल के साथ खरल कर चने के प्रमाण की गोली बना लेवें। छाया में सुखा लेने के पश्चात् इस दवा को काम में लावें। दिन में तीन से चार गोली दवा गर्म जल के साथ प्रयोग करें।

२—काली मिर्च, बड़ी हड़ के बक्ल, छोटी हर्रें एक-एक तोला और शुद्ध संखिया आठ आने भर जल के साथ खरल करके, मूंग प्रमाण गोली बनाकर

छाया में सुखा लेवें। अनुपान गर्म जल। ज्वर आने के पहले ही प्रत्येक डेढ़ घण्टों के पश्चात् देना चाहिये।

३—काली मिर्च, गुड़, तुलसी-पत्र, और फिटकिरी का लावा समभाग लेकर भंग की तरह घोंटकर, चने के प्रमाण की गोली बना छाया में सुखा लेवें। अनुपान ताजा जल। इस दवा का प्रयोग ज्वर आने के डेढ़ अथवा दो घण्टों पूर्व ही करना चाहिये।

४—काली मिर्च और समुद्र फल एक-एक तोला, तुलसी पत्र दो तोले और भंग ६ माशे को अच्छी तरह घोंटकर चने प्रमाण की गोली बनाकर सवेरे और शाम अथवा सुबह, दोपहर और शाम को गरम जल के साथ सेवन करना चाहिये।

५—करंज की मींगी, तुलसी-पत्र काली मिर्च और कुनैन समभाग लेकर जल में अच्छी तरह से घोटकर दो रत्ती प्रमाण की गोली बना लेवें। इस गोली को सुबह-शाम अथवा ज्वर आने के पहले ही दो घण्टों के अन्तर से दो गोली दवा प्रयोग करने पर पारी का ज्वर रुक जाता है।

६—अभ्रक भस्म, लोह भस्म और शुद्ध वत्सनाभ एक-एक तोले, पीपल और करंज की मींगी दो-दो माशे की पाती नीबू के रस में खरल कर एक-एक रत्ती की गोलियाँ तैयार कर लेवें। ज्वर आने के चार अथवा ६ घण्टे पूर्व दो घण्टों के अन्तर से इस दवा का प्रयोग करने से ज्वर रुक जाता है।

७—कुटकी का चूर्ण आठ आने भर, चीनी देशी आठ आने भर, ज्वर आने के एक घण्टा पहले खिलाने से ज्वर नहीं आता है।

८—पके केले में चार-पाँच खटमल रखकर उक्त केला रोगी को निगला देने पर ज्वर आना बन्द हो जाता है।

९—धतूरे का पत्ता और गुड़ को सम भाग लेकर आठ आने भर की गोली बनाकर ज्वर आने के पहले निगला देना चाहिये। इसी प्रकार कद्दू का टूसा और गुड़ निगलवाने से भी लाभ होता है।

१०—शुद्ध तूतिया एक तोला, शुद्ध शंख दो तोले और शुद्ध हरताल चार

तोले को घृतकुमारी के रस में घोंटकर गोला बनाने के पश्चात् शराव सम्पुट कर गजपुट में फूंक देवें। शीतल हो जाने पर अदरख के स्वरस में घोंटकर मूंग प्रमाण गोली बना लेवें। सुबह तथा शाम को आवश्यकतानुसार पान, तुलसीपत्र, शहद अथवा छतिवन रस के साथ प्रयोग करना चाहिये।

११—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मनः शिला, शुद्ध तूतिया और शुद्ध हरताल को सम भाग लेवें। पहले पारद और गन्धक की कज्जली तैयार कर लेवें बाद में सभी औषधियों को मिलाकर त्रिफला के क्वाथ में खरल करें और गोला बना-बनाकर शराव सम्पुट में बन्द करने के पश्चात् लघु पुट में फूंक कर शीतल होने पर निकाल लेवें। पश्चात् सेंहुड़, दन्ती मूल और काली निशोथ के क्वाथ की सात-सात भावना देकर मूँग प्रमाण गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लेवें। ज्वर आने के एक घण्टा पहले काली मिर्च का चूर्ण चार रत्ती, गुड़ एक माशा और तुलसीपत्र का चूर्ण एक माशा के साथ केवल एक गोली दवा सेवन करावें। इस दवा से विषम ज्वर का शीघ्र ही नाश हो जाता है।

मलेरिया ज्वर पर अमृतारिष्ट भी अच्छा काम करता है। इस ज्वर के लिए पेटेण्ट दवाओं की तो भरमार हो गई है। उन औषधियों में अधिकतर एलो-पैथिक मिक्चर ही हैं। पेटेण्ट औषधि और भारतवर्ष नामक पुस्तक में डाक्टर रामकृष्ण वर्माजी ने बहुत-सी औषधियों के नुस्खे एवं लागत का भी विवरण दिया है। उक्त पुस्तक में लिखित चन्द औषधियों के विवरण—

फीवर मिक्श्चर

कुनैन सल्फ ४० ग्रेन, एसिड सल्फूरिक डिल ८० मिनिम, टिंचर नक्सवोम १ ड्राम, लाइकर आर्सेनिक २० मिनिम, टिंचर कार्ड को एक ड्राम और डिस-टिल्ड वाटर एक औंस। पहले कुनैन को पानी और सल्फूरिक एसिड में घोल लेना चाहिए, बाद में सभी दवाओं को मिला लेना चाहिए। मात्रा ५ से दस बूंद तक एक औंस पानी के साथ। पहले कुछ खिलाकर इस दवा को पिलाने का विधान है। लागत चार आने मात्र और कीमत लगभग १) रुपया है।

२—लाइकर एमोनिया एसीटेट ५ ड्राम, टिंचर एकोनाइट ८ मिनिम, स्प्रिट ईथर नाइट्रोसी २ ड्राम, टिंचर क्लोरोफार्म ४० मिनिम, डिसटिल्ड वाटर चार औंस सबका मिश्रण कर दिन में दो बार एक औंस की मात्रा में सेवन कराना चाहिये। इस दवा की लागत दो-ढाई आने और कीमत एक रुपया रक्खा गया है।

३—भूनी फिटकरी २ ड्राम, एसिड आर्सेनिक १ ग्रेन, कैपसिकम पाउडर ६ ग्रेन सबको मिलाकर गोंद का पानी दे करके २५ टिकियाँ बना लेवें। इससे मलेरिया ज्वर दूर हो जाता है। लागत चार पैसे और कीमत दस आने है।

४—आर्सेनिक एसिड २॥ ग्रेन, पाउडर चिरैता २०० ग्रेन और पल्व नक्स वामिया आधा ड्राम मिलाकर १०० गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा का खर्च भी डेढ़ आने है लेकिन कीमत १) एक रुपया है।

५—चिरैता, पित्तपापड़ा, लाल चंदन, देवदारू, शुद्ध विष, कुटकी, नागरमोथा, निम्ब पत्र चूर्ण, सोंठ और शुद्ध सिंगरफ सभी दवाओं को एक रस करके गिलोय के क्वाथ में खरल कर ६-६ ग्रेन की गोलियाँ तैयार की जाती हैं। दिन में तीन बार अर्थात् सुबह, दोपहर और शाम को दूध के साथ इसका प्रयोग होता है। इस दवा की लागत तीन आने और कीमत १) रु० है। यह आयुर्वेदिक (पेटेण्ट) दवा है।

६—यह दवा इलाहाबाद से पेटेण्ट दवा (फीवर पिल्स) के नाम से बिकती है। नुस्खा निम्न प्रकार है—सल्फेट आफ सिनकोना ३७॥ ग्रेन, पीपरीन १२॥ ग्रेन, पोडाफिलीन १ ग्रेन, एक्सट्रेक्ट नक्स वोमिका ३ ग्रेन। सभी औषधियों को खरल कर २५ गोलियाँ तैयार की जाती हैं। लागत चार पैसे और कीमत बारह आने हैं।

७—उक्त पुस्तक का एक और आयुर्वेदिक नुस्खा जो सचमुच ही आश्चर्यजनक लाभ दिखलाता है :

तुलसी-पत्र-चूर्ण ८० ग्रेन, काली मिर्च २० ग्रेन, करंज बीज का चूर्ण ४० ग्रेन। सभी दवाओं को अच्छी तरह से खरल करके द्रोण पुष्पी (गुमा) के

रस में घोटकर ४० गोलियाँ तैयार की जाती हैं। दिन में कई बार लेने से ज्वर छूटता है। लागत दो आने और कीमत १) एक रु० रखा गया है।

८—बाड़ोदा से एक पेटेण्ट दवा, जिसकी लागत दो आने और मूल्य १।।) रखा गया है :—

एमोनिया क्लोराइड ८० ग्रेन, एसिड नाइट्रोहाइड्रोक्लोरिक डिल ८० मिनिम, एक्सट्रेक्ट हराकसीस लिक्विड ५ ड्राम, लाइकर स्ट्रिकनाइन ४० मिनिम, टिंचर एकोनाइट ४० मिनिम, टिंचर क्लोरोफार्म ४० मिनिम, कुनाइन सल्फ ३० ग्रेन, डिसटिल्ड वाटर ३ औंस। इस दवा से ज्वर के अलावा तिल्ली भी ठीक हो जाती है। यह दवा (Spleen & Ague Mixture) के नाम से विख्यात है।

९—कुनाइन सल्फ १२ ग्रेन, मैगनिसिया सल्फ चार ड्राम, स्प्रिट क्लोरोफार्म ३० बूंद, सल्फ्यूरिक एसिड डिल आधा ड्राम, लाइकर आर्सेनिक ४० बूंद और क्वाथ चिरैता १ औंस। कुनैन को अम्ल में गलाकर मैगनिसिया, चिरैता के क्वाथ में घोल लेने के पश्चात् दो औंस की शीशी में सभी दवाओं को रखकर बाकी हिस्सा डिसटिल्ड वाटर से भर देने का विधान है। इस दवा से ज्वर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। लागत डेढ़ आने और मूल्य एक रुपया रखा गया है।

अपने देश में तैयार होने वाली पेटेण्ट दवाओं की यह हालत है। जिन दवाओं को विदेश से प्राप्त किया जाता है उनकी हालत तो भगवान ही जानें।

जीर्णज्वर एवं चिकित्सा

इस ज्वर का भी पहले ही वर्णन किया जा चुका है। इस ज्वर की अवधि में मदभेद देखने में आता है। श्री भावमिश्रजी बारह दिन ज्वर रहने के पश्चात् जीर्ण ज्वर बतलाते हैं। बङ्गसेन के मतानुसार १५ दिन और वैद्य विनोद में २० दिनों तक के बाद की बात लिखी गयी है। श्री हरिदास जी ने चिकित्सा चन्द्रोदय में लिखा है कि—जो ज्वर १२ दिनों के उपरान्त रहे वात ज्वर, चौदह

दिनों के बाद पित्त ज्वर, २० दिनों के बाद कफ ज्वर और २८ दिनों के बाद जीर्ण ज्वर होता है।

चिकित्सा :—जीर्ण ज्वर की चिकित्सा के लिए वर्धमान पिप्पली को बहुत हो महत्वपूर्ण बतलाया गया है। इस योग के सेवन काल में मतभेद है। कुछ लोगों का मत है कि सात दिनों तक, कुछ लोग ९ दिनों तक और कुछ २१ अथवा ४० दिनों तक सेवन कराने की सलाह देते हैं। अवधि की तरह मात्रा में भी भिन्नता है। किसी के मत से १ पिप्पली, किसी के मत से ३, किसी के मत से ५ और किसी के मत से १० पिप्पली से शुरू करने की बात बतलायी गयी है। मेरा अपना अनुभव है कि रोगी के बलाबल के अनुसार वैद्य बन्धुओं को मात्रा के विषय में निश्चय कर लेना चाहिये।

पिप्पली को गो दूध में ढालकर औंटाने के पश्चात् पिप्पली खाकर दूध पी जाना चाहिए। अगर पिप्पली खाने में दिक्कत मालूम होती हो तो केवल दूध ही पीना चाहिये। पहले दिन ५, दूसरे दिन ८, तीसरे दिन ११, इसी प्रकार ३-३ पिप्पली बढ़ाते हुए आवश्यकतानुसार एक दो अथवा तीन सप्ताह तक सेवन करना चाहिये और निश्चत तिथि से घटा कर पुनः ५ पर आना चाहिये। वर्धमान पिप्पली का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। दूध औंटने के लिए कलईदार पात्र की आवश्यकता पड़ती है। इस योग से केवल जीर्ण ज्वर ही नहीं बल्कि पाण्डुरोगादि भी समूल नष्ट हो जाते हैं। इस योग से अधिक लाभदायक पिप्पली घृत (पिपल्यादि घृत) है जो पीपल, लाल चंदन, नागरमोथा, खस, कुटकी, इन्द्र जौ, आमला, सरिवा, अतीस, दाख, शालिपर्णी, इमली के बीज, त्रायमाण और कटेरी इन चौदह औषधियों के काढ़ा और १२॥ सेर गो दूध के साथ एक सेर घृत सिद्ध किया जाता है। मात्रा चार से आठ माशे।

आंत्रिक ज्वर

यह ज्वर अस्वस्थ मनुष्यों से ज्यादा स्वस्थ मनुष्यों को ही होता है। सविराम

ज्वर में बेहोशी, प्रलाप, पेट फूलना और पेट में दाहिने बगल में दबाने से गड़-गड़ आवाज तथा कब्जियत और अतिसार आदि लक्षण पैदा होने पर आंत्रिक ज्वर समझा जाता है। इस ज्वर में सुबह ज्वर का ताप कम हो जाता है और शाम को बढ़ जाता है। इसकी अवधि तीन सप्ताह, चार सप्ताह या इससे भी अधिक यहाँ तक कि छः सप्ताह तक है।

प्रथम सप्ताह—त्वचा सूखी, नाड़ी तेज, सर दर्द, रात को भूल बकना, (प्रलाप) पेट फूलना, प्यास, जीभ के बीच में सफेद मैल जम जाना और किनारे पर लाल रहता है। किसी-किसी रोगी को नाक से रक्तस्राव भी होता है। प्रथम सप्ताह में सविराम ज्वर से प्रायः सभी उपसर्ग मिलते-जुलते ही पाये जाते हैं।

दूसरा सप्ताह—इस सप्ताह में रोग उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है। ज्वर का वेग भी अधिक हो जाता है। प्रलापादि सभी उपसर्ग बढ़ जाते हैं जिनके फल-स्वरूप होगी का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लग जाता है। इस सप्ताह में दस्त की संख्या भी बढ़ जाती है। एलौपैथिक चिकित्सकों का मत है कि इस ज्वर में रोगी की सारी (मेसेण्ट्रिक ग्लैंड) औदरिक ग्रन्थि फूल जाती है। कभी-कभी हृदयावरक झिल्ली प्रदाह, मूत्र पिण्ड प्रदाह और मस्तिष्कावरण प्रदाह वगैरह उपसर्ग भी देखने में आते हैं। टायफायड ज्वर में सात से बारह दिनों के अन्दर किसी-किसी रोगी के पेट और पीठ पर दाने (रैश) निकल आते हैं। दूसरा सप्ताह रोग की प्रचण्डावस्था का है।

तीसरा सप्ताह—रोग साधारण रहने पर इस सप्ताह में ज्वर, खाँसी, दस्त, आँव, प्रलाप, बेहोशी, सिर एवं पेट दर्द आदि घटने लगते हैं और २१ वें दिन रोगी पूर्ण रोगमुक्त हो जाता है। रोग की प्रबलता रहने पर (पेरीटोनाइटिस) आंत्रावरक झिल्ली प्रदाह आदि उपसर्ग पैदा हो जाते हैं। इस ज्वर के प्रधान उपसर्ग निम्न प्रकार हैं :—स्वरयंत्र प्रदाह, पेट फूलना, रक्त दस्त और मूत्र के साथ भी रक्त निकलना, हिचकी, मस्तिष्कावरक झिल्ली प्रदाह, कर्ण मूल प्रदाह, आंत्रिक प्रदाह एव मानसिक विकार आदि। इस ज्वर को सन्निपातिक ज्वर भी कहते हैं। चूंकि इसमें वायु, पित्त एवं कफ तीनों धातुओं की विकृति देखने में

आती है। अतः इसको सन्निपातिक ज्वर कहना उचित भी है। सन्निपातिक ज्वर का पूर्ण विवरण और चिकित्सा पहले भी लिखी जा चुकी है।

ज्वर की अवधि तोड़ने वाली कोई चिकित्सा आयुर्वेद के पुराने ग्रन्थों में नहीं है। रोगी की शक्ति बनाए रखने के लिए मुक्ता के ८ दाने गुलाब जल में भली भाँति घोट कर प्रतिदिन पिलाते हैं। मुक्ता के अभाव में प्रबाल का भी प्रयोग होता है। रोगी को हलका पथ्य यथा गो दुग्ध का सेवन कराया जाता है। यदि आध्मान अधिक हो या अतिसार होने लगे तो फटे हुए दूध का पानी, डाभ (नारियल के अन्दर का पानी) फलों का रस आदि चीनी मिलाकर यथेच्छ पिलाया जाता है।

अधिक ज्वर में रोगी के सिर-माथे पर बरफ के ठंडे पानी की पट्टी रखते हैं या बरफ की थैली (Ice cap-हिमदृति) रखते हैं। एक थैली सिर पर और एक पेट पर भी रखी जा सकती है। यदि इतने से ज्वर कम नहीं होता तो ठंडे पानी से पूरे शरीर को पोंछना चाहिए। अत्यधिक ज्वर न रहते हुए भी प्रतिदिन एक बार शरीर को पोंछ कर साफ रखना अच्छा है।

रोगी को करवट बदलाते रहना चाहिए नहीं तो उसकी कमर और पीठ पर घाव (शैय्या-व्रण Bed Sores) बन जाते हैं। उसके कपड़े और बिस्तर साफ रखने चाहिए।

नई औषधियों में क्लोरेम्फेनिकॉल (Chloramphenicol) ने इसकी अवधि (मियाद) तोड़ दी है। यदि प्रारम्भ में ही निदान होकर इसका प्रयोग किया जाता है तो ३ से ५ दिन के अन्दर ज्वर सामान्य हो जाता है। बाद में प्रयोग करने से अधिक समय भी लग सकता है। २ कैप्स्यूल (५०० मिग्राम) प्रति ६ घण्टे पर देते हैं। आवश्यक होने पर प्रति चार घण्टे पर भी दे सकते हैं। दो सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिए।

इसका विषालु प्रभाव भी होता है। कभी-कभी रक्त में श्वेत कोशिकाओं (W. B. C.) की अतिन्यूनता या पूर्ण अनुपस्थिति भी हो जाती है जो स्वयं ही एक घातक अवस्था है।

एम्पिसिलिन (Ampicillin) दूसरी औषधि है जो इसकी मियाद तोड़ने में सफल हुई है। इसमें विषालुता भी नहीं है। १ ग्राम की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर १४ दिन तक देना चाहिए। यह भी रोग की प्रारम्भिक अवस्था में अधिक लाभदायक है।

उपर्युक्त औषधियों से ज्वर उतर जाने के बाद भी पथ्य देने में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि ज्वर ५-७ दिन से अधिक न रहा हो तो उसके उतरने के २-३ दिन बाद परवल का जूस या मूँग की दाल का पानी दिया जा सकता है परन्तु अधिक दिन तक रह जाने के बाद ज्वर की स्वाभाविक अवधि (२१ दिन) से पहले जूस देना उचित नहीं अन्यथा पुनः ज्वर का वेग बढ़ जाता है और २१ दिन तक रह सकता है।

शीतला ज्वर

इस रोग के पहले बदन में दर्द, खुजली, ज्वर, आँखें लाल, भोजन में अरुचि एवं हड्डियों में दर्द आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। श्री वाग्भट्टाचार्य ने इस रोग को विस्फोटक रोग के अन्तर्गत ही माना है लेकिन श्री माधवाचार्य ने विस्फोटक से भिन्न ठहराया है। श्री माधवाचार्यजी ने विस्फोटक के विषय में लिखा है:—

कड़वा, तीखा, रूखा, खट्टा, तथा गर्म भोजन एवं ऋतुदोष जैसे शीतोष्ण का अति योग अथवा ऋतु परिवर्तन कारणों से वातादि कुपित होकर त्वचा का आश्रय कर रक्त, मांस और हड्डी को दूषित कर भयंकर फोड़ा उत्पन्न करते हैं। इसके पूर्व ज्वर पैदा होता है। इस रोग में अग्नि से जलकर छाला पड़ने की भाँति फफोले निकलते हैं।

मसूरिका के विषय में श्री माधवाचार्य का निम्न प्रकार मत है—रोग का हेतु—कड़वा, खट्टा, खरा विरुद्ध भोजन, भोजन पर भोजन, दुष्ट अन्न, दूषित शाक एवं पुष्पादि से मिला पवन तथा जल, शनिश्चर आदि खोटे ग्रहों का देखना आदि कारणों से वातादि दोष कुपित हो रक्त में मिलकर मसूर के समान

देह में फुन्सियाँ उत्पन्न करते हैं। रक्त के बारे में लिखा है–"दुष्ट रक्तेन संगता" अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि–पित्त शोणित संसृष्ट यदा दूषयित त्वचम्। तदा करोति पीडिकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम्। मसूर मुद्गमाषाणा तुल्यः कोलोपमा इति॥

मसूरिका रोग पाँच प्रकार का देखने में आता है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, रक्तज और सन्निपातज। इसको छूत का रोग भी कहते हैं। विस्फोट अथवा मसूरिका होने पर लोक नियम का बहुत ही सुन्दर आदर्श देखने में आता है। जिसके घर में उक्त रोग का आगमन होता है, समाज से एक प्रकार से अलग रहने की व्यवस्था हो जाती है। परिवार के लोग हजामत बनाना, धोबी के यहाँ कपड़ा देना तथा किसी सार्वजनिक सभा आदि में जाना बन्द कर देते हैं। घर में धूप, दीप के साथ पूजन एवं हवनादि की खास व्यवस्था होती है। रोगी के यहाँ इतनी सफाई रहती है कि एक मक्खी तक नहीं फटकने पाती। नियमित रूप से रोगी का घर गोबर और मिट्टी से लीपा जाता है। सुगंधित धूप के अलावे पुष्प एवं चन्दन आदि भी पूजनार्थ काम में लाये जाते हैं। हिन्दू समाज में इस प्रकार की लाखों लोक व्यवस्थायें पड़ी हैं मगर दुख की बात है कि इस भौतिक युग में उन अमूल्य नियमों पर पाश्चात्य देशाभिमुखता का पर्दा पड़ता जा रहा है।

वातज मसूरिका की गोटियाँ लाल, काली, सूखी और कड़ी होती हैं तथा देर से पकने वाली होती हैं। अरुचि के साथ-साथ थकावट, सुस्ती, कँपकँपी और प्यास आदि लक्षण या उपद्रव भी देखने में आते हैं।

चिकित्सा—धनियाँ, मजीठ, नागरमोथा, दाख, बटजटा और गुलाब का फूल, दशमूलादि क्वाथ के साथ घोट कर चना प्रमाण गोली बना लेवें अथवा उक्त औषधियों को ६-६ माशे लेकर काढ़ा बनाने के पश्चात् चार मात्रा तैयार कर लेवें। सुबह, दोपहर और शाम के हिसाब से पिलाना चाहिये। केवल दशमूल का क्वाथ अथवा दशमूलारिष्ट भी दिया जा सकता है।

पित्तज मसूरिका की गोटियाँ लाल, पीली, सफेद, दाह एवं अत्यन्त पीड़ायुक्त शीघ्र पकनेवाली होती हैं। इसमें ज्वर तीव्र रहता है साथ ही मुख

एवं नेत्र भी पक जाते हैं। अत्यधिक प्यास, पतला पाखाना और अरुचि भी रहती है।

चि०--पटोल की जड़ का क्वाथ अथवा महुआ का रस पिलाने में पित्तज मसूरिका रोग शान्त होता है। मुखपाक होने पर आँवला और महुआ के क्वाथ में मधु मिलाकर कुल्ला कराना चाहिये। इस प्रयोग से जीभ एवं कंठ के फफोले भी अच्छे हो जाते हैं। छालों पर चावल का धोवन अच्छा काम करता है।

कफज मसूरिका की गोटियाँ, चिकनी, सफेद एवं साधारण पीड़ायुक्त होती हैं। आलस, अरुचि, निद्रा, झपैनी, शरीर का भारीपन, मस्तक में पीड़ा एवं कफ गिरना आदि लक्षण देखने में आते हैं।

चि०—अरूस, जवासा, त्रिफला, चिरैता, पटोल, नीम के क्वाथ के साथ मधु मिलाकर पान कराने से कफज मसूरिका रोग शान्त हो जाता है।

रक्तज मसूरिका में पित्तजन्य ही लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। इसमें आँवला, अरूस, जवाखार के क्वाथ के साथ मिश्री मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। इस रोग में रक्तमोचन करने से भी लाभ होता है।

सन्निपातज मसूरिका—अर्थात् त्रिदोषज मसूरिका की गोटियाँ काली, नीली, चिपटी, भीषण प्रदाहयुक्त, अधिक दिनों में पकनेवाली और दुर्गन्धयुक्त होती हैं।

चि०—पाठ, पटोल, कुटली दोनों चन्दन, खस आँवला, अड़ूसा और जवाखार का क्वाथ सर्वप्रकार के मसूरिका रोगी की दवा है। उक्त योग नू० अमृतसागर में लिखा है। जंगलों का उपलों का राख छिड़कने से मवाद सूखने में सहायता मिलती है।

आयुर्वेद शास्त्र में मसूरिका का रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्रगत का भी वर्णन आया हैं तथा उसी प्रकार चिकित्सा की व्यवस्था भी है।

एलोपैथिक चिकित्सक इस रोग के फैलने पर टीका लेने की सलाह देते हैं। होमियोपैथिक चिकित्सा में इस रोग के लिए वैक्सिनीनम नामक दवा सेवन करने की बात लिखी गयी है। आयुर्वेद शास्त्र में तुलसी पत्र के साथ

कपास के बीज का सेवन श्रेयस्कर बतलाया गया है। सभी चिकित्सा प्रणालियों में सफाई एवं शुद्ध भोजन पर जोर दिया गया है। इस रोग का आक्रमण होने पर नमक एकदम छोड़ देना चाहिये। स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना परमावश्यक है। रोग स्वयं अपनी अवधि बीतने पर शान्त होता है या अवधि के अन्दर ही रोगी को समाप्त कर देता है। किसी भी चिकित्सा प्रणाली में इसे ठीक करने की सामर्थ्य नहीं है।

शीतला के सात भेद हैं—बड़ी माता, पनिसहा, कोदवा, सर्षविका, विषकोदवा, हाम और चमर गोटिया। एलोपैथिक चिकित्सकों के मतानुसार स्माल **पाक्स** और **चिकेन पाक्स** दो प्रधान भेद हैं।

न्यूमोनियाँ

इसको फुफ्फुस प्रदाह रोग भी कहते हैं। इस रोग में फेफड़ा आक्रान्त होता है। फेफड़े की बनावट छत्ता अथवा स्पञ्ज की भाँति ही है। जिसमें छोटे-छोटे छिद्र नजर आते हैं। इन गड़हों में हवा रहती है। इसी से इनका नाम वायुकोष रखा गया है। स्वस्थावस्था में फेफड़ा मुलायम रहता है लेकिन न्यूमोनियाँ हो जाने पर कड़ा हो जाता है। एलोपैथिक चिकित्सकों के मतानुसार इस रोग का प्रधान कारण **"न्यूमोकोकाई"** नामक जीवाणु ही है। इसके हेतु का निम्न प्रकार वर्णन है—सर्दी लगना, ज्वर के बाद फेफड़े की कमजोरी, फेफड़े में चोट लगना और फेफड़े के आस-पास के किसी यन्त्र का प्रदाहित होना आदि। न्यूमोनियाँ का आक्रमण एक अथवा दोनों फेफड़ों पर होता है। इसकी तीन श्रेणियाँ बतलायी गयी हैं।

श्रेणी विभागानुकूल न्यूमोनियाँ विवरण-ज्वरादि रोगों के साथ फुफ्फुस पर आक्रमण होने पर **सेकेण्डरी** निमोनियाँ कहते हैं। छोटी माता तथा कफज्वरादि रोगों के साथ रहने पर **लोब्यूलर कैटरेल** न्यूमोनियाँ अथवा ब्रांको न्यूमोनियाँ कहते हैं। एक फुफ्फुस के किसी एक अंश अथवा समूचे फुफ्फुस पर आक्रमण होने पर लोबर न्यूमोनियाँ कहते हैं। एक ही साथ दोनों फुफ्फुसों पर आक्रमण होने **डबल न्यूमोनियाँ** कहते हैं जो बहुत ही भयानक रोग है।

ब्रांकों न्यूमोनियाँ का आक्रमण ज्यादातर छोटे बच्चों पर हुआ करता है। अधिकतर सूखी खाँसी में असंयम के फलस्वरूप ही यह रोग हो जाया करता है। छोटी माता, घटसर्प, कफज्वर एवं कुकुर खाँसी आदि से भी इस रोग का प्रादुर्भाव होता है। **लोब्यूलर** में ब्रांकोन्यूमोनियाँ के लक्षणों के साथ-साथ सुस्ती, खाँसी, प्यास, बेचैनी एवं श्वास कष्ट की प्रबलता देखने में आती है। लोबर न्यूमोनियाँ में पार्श्व में खींचन, एकाएक कम्प के साथ ज्वर, छाती में असह्य दर्द, जिस फुफ्फुस पर आक्रमण हो उस ओर का आँख में ज्यादा लाली वगैरह उपसर्ग देखने में आते हैं। श्वास कष्ट, मुँह हाथ और नाखून आदि का नीला पड़ जाना; प्रलाप, अत्यधिक ज्वरादि घातक उपसर्ग समझे जाते हैं। इस रोग का भोगकाल एक सप्ताह से तीन सप्ताह तक है, लेकिन सात से दस रोज तक ही प्रधान समझा जाता है।

यह रोग भी सन्निपातिक ज्वर का एक प्रकार का भेद ही है। रक्तष्ठीवी सन्निपात से इसका मिलान किया जा सकता है। इसको कर्कट सन्निपात भी कह सकते हैं।

श्रेणी विभाग से तीन न्यूमोनियाँ के अलावे (गैंग्रीन न्यूमोनियाँ) सड़न निमोनियाँ और (कैन्सर न्यूमोनियाँ) घाव युक्त न्यूमोनियाँ का भी वर्णन आया है। गैंग्रीन न्यूमोनियाँ में उपदंश विष अथवा अन्य किसी विषाक्त कीटों के विष दोष से फुफ्फुस में भयानक सड़न होने लगती है। कैन्सर न्यूमोनियाँ को वंश-परम्परागत ही माना जाता है। इसमें बलगम के साथ रक्त और मवाद निकलता है। रात में पसीना होता है। खाँसने के समय छाती में तार चुभने जैसी वेदना होती है। यह मारात्मक रोग है। न्यूमोनियाँ रोग में वायु, पित्त एवं कफ की न्यूनाधिकतानुसार औषधि प्रदान की व्यवस्था करना चाहिये। कफकेतु एवं मृतसंजीवनी सुरा वगैरह से अच्छा लाभ होता है।

कफकेतु रस—शुद्ध मीठा विष पाँच भाग; शुद्ध सुहागा, शंख भस्म, सोंठ और काली मिर्च एक-एक भाग लेकर अदरख के रस में तीन बार अच्छी तरह से खरल कर लेने के पश्चात् एक-एक रत्ती की गोलियाँ तैयार कर लेवें। इसका

प्रयोग अदरख के रस के साथ किया जाता है। मृतसंजीवनी की मात्रा पर विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये। एलोपैथिक चिकित्सकों के मत से पेनिसिलीन सूचिका या टेरामाइसिन आदि कैप्स्यूलों का प्रयोग इसमें विशेष लाभकर सिद्ध हुई है। सुरा का व्यवहार अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति के मुताबिक ज्यादा लाभप्रद बतलाया गया है। हृद्गति कमजोर होने पर कोरामीन की सूचिका अथवा यह दवा पिलाने से अधिक फायदा बतलाया जाता है। न्यूमोनियाँ अच्छा हो जाने पर काडलिवर आयल का सेवन विशेष हितकर समझा जाता है।

"ज्वरों पर शास्त्रोक्त अचूक नुस्खे"

लघुज्वरांकुश—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, धतूरे का बीज, सोंठ, सुहागे का लावा, हरताल भस्म, शुद्ध वत्सनाभ समान भाग लेकर भांगरे रस में एक रोज तक खरल करके एक रत्ती प्रमाण गोली बनाकर छाया में सुखा लेवें। इससे ज्वरातिसार, विषमज्वर और साधारण ज्वर में लाभ होता है। अनुपान मधु, आदी रस अथवा तुलसी-पत्र।

महाज्वरांकुश—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ एक तोला, धतूरे का बीज तीन तोले; सोंठ, मिर्च, पीपल प्रत्येक का चूर्ण चार-चार तोले। पारा और गंधक को कज्जली तैयार कर लेने के पश्चात् शेष औषधियों का बारीक चूर्ण उसमें मिला—अदरक और जम्बीरो नीबू के रस में एक-एक दिन खरल करके एक रत्ती प्रमाण गोली तैयार कर लेवें। इससे वायु, पित्त एवं कफज्वर तथा सभी प्रकार के विषम ज्वर नष्ट हो जाते हैं।

ज्वर मुरारि रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, नाग भस्म, लोह भस्म, अभ्रकभस्म और ताम्रभस्म प्रत्येक एक-एक तोला, सोंठ का चूर्ण ६ तोले बराबर लेकर पारा-गन्धक की कज्जली में मिला देवें। अदरक के रस में एक दिन घोटकर एक-एक रत्ती की गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लेवें। मात्रा एक-एक गोली सुबह और शाम। अनुपान मधु। इससे अजीर्ण ज्वर शीघ्र ही छूट जाता है।

मृत्युञ्जय रस—शुद्ध हिंगुल १ तोला, शुद्ध तेलिया, मीठा विष, काली

मिर्च, पीपल के दाने और शुद्ध गन्धक आठ-आठ आने भर इन पाँचों औषधियों का अलग-अलग बारीक चूर्ण तैयार कर लेने के पश्चात् सभी औषधियों को अदरक के रस में खरल कर मूंग प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। ज्वर की हालत में इसके सेवन से ज्वरोपद्रवों के बढ़ने की आशंका नहीं रहती। अनुपान मधु और पान का रस।

आनन्द भैरव रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध तेलिया मीठा विष, सोंठ, फूला हुआ सोहागा और जायफल १-१ तोला। काली मिर्च और छोटी पीपल दो-दो तोले अलग-अलग बारीक चूर्ण बना लेने के पश्चात् पहले शुद्ध हिंगुल को खरल में देर तक रगड़ने के बाद सभी औषधियों को उसमें मिला देवें। उक्त दवाओं को जम्बीरी नीबू के रस में भिगोकर अच्छी तरह घोट कर एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर छाया में सुखा लेवें। मात्रा दो से तीन गोली रोज। अनुपान शहद।

ज्वर संहार रस—शुद्ध हिंगुल, रस सिन्दूर एक-एक तोला, सोंठ, काली मिर्च, छोटी पीपल, कुटकी, नीम की छाल, कूट, नागर मोथा, सफेद सरसों, इन्द्र जौ, सुहागे की खील, रक्त चन्दन, अतीस और अमोरी प्रत्येक दो-दो तोले लेवें। रससिन्दूर को बारीक पीस लेने के पश्चात् अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर अदरक, तुलसी और निर्गुण्डी के पत्तों के रस में तीन-तीन रोज तक मर्दन करके दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। सुबह और शाम को किसी ज्वरघ्न कषाय अथवा गोदन्ती भस्म के साथ प्रयोग करना चाहिये।

त्रिभुवनकीर्ति रस—शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभ, त्रिकुटा (सोंठ, मिर्च, पीपल), सुहागे का लावा और पीपला मूल सभी औषधियों को समभाग लेकर बारीक चूर्ण बना लेवें। उक्त चूर्ण को तुलसी, अदरक और धतूरे के रस की तीन-तीन भावना देकर ६-६ घण्टा मर्दन करने के पश्चात् एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लेवें। तरुण ज्वर में दो अथवा तीन मात्रा रोज खिलाने का विधान है। अनुपान—तुलसी-पत्र, बिल्व पत्र और ज्वरघ्न कषाय आदि के साथ अनुपान भेद से इनका प्रयोग न्यूमोनियाँ, कफ ज्वर तथा चेचक आदि में भी होता है।

बृहत् सर्वज्वरहर लौह—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, ताम्र भस्म, अभ्रक भस्म, सोना मक्खा भस्म, चाँदी भस्म, सोना भस्म और शुद्ध हरताल प्रत्येक एक-एक तोला तथा कान्त लौह भस्म चार तोले को निम्नलिखित दस औषधियों के रस अथवा क्वाथ की सात-सात भावना देकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। दस औषधियाँ :—

करैला की पत्ती, दशमूल, पित्तपापड़ा, त्रिफला, गुर्च, पान, काकमाची, सम्हालू के पत्ते, पुनर्नवा और अदरक। अनुपान—पुराना गुड़ और पीपल का चूर्ण। यह बहुत ही उत्तम योग है। इसके सेवन से प्रायः सभी प्रकार के ज्वर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं।

लाक्षादि तैल—सौंफ, हल्दी, मरैठी, कूट, रैतुका, कुटकी, मुलहठी, रास्ना, असगन्ध, मोथा, देवदारू, रक्त चन्दन इन बारह औषधियों को कूट कर लुगदी बना लेवें। पश्चात् एक सेर तिल तैल को शुद्ध कर उसमें दही का पानी चार सेर और पीपल वृक्ष की लाख का काढ़ा चार सेर मिलाकर तैल सिद्ध कर लेवें। इस तैल से जीर्ण ज्वर, विषम ज्वर एवं रक्त तथा धातुगतज्वर में लाभ होता है। इसका बहुत ही उत्तम प्रभाव गर्भिणी के ज्वर तथा कमजोरी पर देखने में आता है।

सिद्ध प्राणेश्वर रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और अभ्रक भस्म चार-चार तोले, सज्जी खार, सेंधा नमक, बिड नमक, काला नमक, काच नमक, समुद्री नमक, आँवला, हरड़, बहेरा, सोंठ, मिर्च, पीपल, इन्द्र जौ, सफेद जीरा, काला जीरा, त्रिकमूल, अजवायन, हींग, बायविडग और सोया प्रत्येक औषधियों का चूर्ण एक-एक तोला। पारद और गन्धक की कज्जली तैयार करके बाद में सभी चूर्ण मिलाकर एक सिल करके शीशी में रख लेवें। मात्रा एक से दो रत्ती तक चार घण्टों के अन्तर से प्रयोग करना चाहिये। अनुपान-पान का रस और शहद। इससे कोष्ठगत वात का नाश हो जाता है। ज्वरातिसार के लिये अमोघ औषधि है।

———

मकरध्वज

सोने के पतले पत्र चार तोले, शुद्ध पारा ३२ तोले, शुद्ध गन्धक ६४ तोले। पहले सोने और पारद को अच्छी तरह खरल करने के बाद गन्धक मिलाकर खरल कर कज्जली बना लेवें। उस कज्जली को घीकुआर के रस में खरल कर सुखा लेने के बाद कपरौटी की हुई काली बोतल में भर लेवें। इसको बालुका यन्त्र में भरकर तीन रोज तक आंच देवें। स्वांगशीतल होनेपर शीशी के गले में लगा हुआ माल निकाल लेवें। अनुपान भेद से यह औषधि सभी प्रकार के रोगों पर काम आती है। इसको तैयार करने के लिए अच्छी तरह से प्रत्यक्ष ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। इस दवा को मशीन द्वारा तैयार करने का तरीका बिल्कुल बेढंगा है। यद्यपि मशीन द्वारा शीघ्र ही दवा तैयार हो जाती है जिससे समय और खर्च में किफायत होती है लेकिन गुण में न्यूनता हो जाती है। आज की आयुर्वेदिक चिकित्सा की सबसे बड़ी कमी अगर है तो यही कि औषधि तैयार करने में हीनयोग का अत्यधिक प्रयोग और उचित रीति से दवा का तैयार नहीं होना। एलोपैथिक चिकित्सक हृदय को ताकत पहुँचाने के वास्ते कोरामीन का प्रयोग करते हैं लेकिन उसकी क्रिया से असन्तुष्ट होने पर इस महौषधि का निःसंकोच व्यवहार करते हैं। यह बात केवल कपोलकल्पित नहीं बल्कि प्रत्यक्ष देखा हुआ है।

●

अतिसार (Dysentery)

आयुर्वेद शास्त्र में अतिसार ६ प्रकार का बतलाया गया है। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, शोकज और आमजन्य। पक्वान्न चिकने तथा रूखे पदार्थ, विशेष भोजन, सड़ी गली वस्तु, दस्तावर औषधि तथा विरुद्ध भोजन के कारण शरीर में मल की वृद्धि हो जाती है। ऐसा होने से उदराग्नि में मन्दता आ जाती है। फलस्वरूप शरीर स्थित रस विष्टा के साथ निकलने लगता है।

इस रोग के पहले हृदय, नाभि, उदर, गुदा, पेडू और समस्त शरीर मेंदर्द तथा अनपच आदि उपद्रव देखने में आते हैं।

वातज अतिसार—में मल का रंग कुछ लालिमा लिए हुए फेन युक्त होता है। मल उतरते समय नाभि में पीड़ा होती है और थोड़ी-थोड़ी देर पर पाखाना होता रहता है।

चिकित्सा—मोचरस, अतीस, नागर मोथा और सोंठ का क्वाथ वातज अतिसार को दूर कर देता है।

पित्तातिसार—में मल का रंग पीला अथवा कई एक प्रकार का रंग मिला हुआ निकलता है। इसमें प्यास, जलन, मूर्च्छा और बेचैनी भी देखने में आती है। पित्त में गर्मी होने के कारण पाखाना होते-होते मलद्वार पक जाता है। पित्तातिसार में रुधिर दोष होकर रक्तातिसार भी हो जाया करता है।

चिकित्सा—रसोत, इन्द्र जौ, नागर मोथा, बेलगिरी और धव के फूल का चूर्ण अथवा काढ़ा पिलाने से लाभ होता है।

कफातिसार—में सफेद गाढ़ा और चिकना मल निकलता है। इसमें शरीर में सुस्ती तथा भारीपन आदि लक्षण देखने में आते हैं।

चिकित्सा—चव्य, अतीस, कूट, नागर मोथा, सोंठ, बेलगिरी और पिप्पली का चूर्ण अथवा काढ़ा से लाभ होता है।

सन्निपातातिसार—इसमें तीनों दोष के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। **चिकित्सा**-सोंठ, नागर मोथा और बड़ी हड़ का चूर्ण अथवा क्वाथ से लाभ होता है।

शोकातिसार—किसी प्रेमी की मृत्यु अथवा विछोह चाहे धन नाश वगैरह कारणों से शोकातुर होने पर भोजन की मात्रा अल्प हो जाती है। ऐसा होने पर शरीर का तेज अग्न्याशय में केन्द्रीभूत होकर अतिसार रोग उत्पन्न हो जाता है। **चिकित्सा**-औषधि प्रदान से अधिक महत्व रोगी के दिमाग पर सुन्दर शब्दों द्वारा असर डालना है। इस रोग में वातातिसार में लिखित दवा देनी चाहिए।

आमातिसार—में शूल एवं मरोड़ के साथ मल निकलता है। मल दुर्गन्ध युक्त और नाना प्रकार के रंगों से युक्त होता है। **चिकित्सा**—बड़ी हड़, मोथा, सोंठ, अतीस और दारूहल्दी का चूर्ण, क्वाथ अथवा वटी काम में अथवा वटी

लायी जाती हैं। अतिसार रोग में माठा और मांड़ उत्तम पथ्य माने गये हैं। अतिसार पर निम्नलिखित शास्त्रोक्त औषधियाँ ज्यादा लाभप्रद हैं।

लघु गंगाधर चूर्ण—नागर मोथा, बेलगिरी, मोचरस, इन्द्र जौ, पाठानी लोध और धाय का फूल सभी औषधियों के समान भाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। मात्रा आठ आने भर।

अगस्तसूतराज रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध हिंगुल एक-एक तोला, धतूरे का शुद्ध बीज और शुद्ध अफीम दो-दो तोले। पारा गंधक की कज्जली तैयार कर अन्य औषधियों को बारीक बना भांगरे के रस में लगातार तीन रोज तक घोट कर आधी रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर छाया में सुखा लेवें। अनुपान घृत और काली मिर्च। सुबह, दोपहर और शाम को अथवा आवश्यकतानुसार रोगी के बलाबल के अनुसार प्रयोग करना चाहिये। फेनयुक्त अतिसार के लिए यह अत्युत्तम औषधि है। इसके सेवन से पेट का मरोड़ भी बहुत जल्द ही शान्त हो जाता है।

गंगाधर रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, कुड़े की छाल, अतीस, लोध, बेलगिरी और धाय का फूल समान भाग लेकर पहले पारद और गंधक की कज्जली तैयार करें। कज्जली में बाद की दवाओं को बारीक बना कर तीन रोज तक सभी औषधियों को पोस्ते के डोड़े के क्वाथ में घोटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर छाया में सुखा लेवें। इससे अतिसार, आमातिसार और रक्तातिसार आदि रोग शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं। अनुपान छाछ, कुड़े की छाल का क्वाथ और नागर मोथा का रस।

ग्रहणी कपाट रस—शुद्ध पारा दो भाग, शुद्ध गंधक दस भाग, शुद्ध अफीम चार भाग, कौड़ी भस्म सात भाग, शुद्ध वत्सनाभ १ भाग, काली मिर्च आठ भाग, शुद्ध धतूरा बीज दो भाग लेवें। प्रथम पारा और गन्धक की कज्जली तैयार कर लेवें पश्चात् अन्य औषधियों को एकत्र मिलाकर अच्छी तरह खरल कर लेवें। सफेद जीरा का चूर्ण एक रत्ती से दो रत्ती तक के साथ मधु में मिलाकर चाटाना चाहिये। भंग के रस अथवा पोस्ते की ढोंढ़ी के क्वाथ में घोटकर एक-एक

रत्ती की गोली भी तैयार कर सकते हैं। इससे कठिन से कठिन अतिसार एवं संग्रहणी का नाश हो जाता है।—अतिसार का मल दो प्रकार का होता है—आम और निराम। जल में डालने पर आम मल डूब जाता है लेकिन निराम-मल तैरने लगता है।

ग्रहणी रोग

ग्रहणी का पूर्व रूप—आलस्य, प्यास, शरीर का भारीपन, अन्न पाक के समय जलन तथा भोजन का देर से पाक होना।

भोजन किया हुआ अन्न बिना पचे हुए ही दस्त होने लगता है अथवा दस्त के पुराने रोगी को संग्रहणी का रोगी कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि चालिस दिनों तक अतिसार ठहर जाने के बाद संग्रहणी कहलाता है। इस रोग में पाखाने का प्रबल वेग होता है। पाखाना मालूम होने पर थोड़ी दूर भी जाना रोगी के लिए कठिन हो जाता है। रोग ज्यादा दिनों तक ठहर जाने पर आँतों में घाव हो जाते हैं। इसके दस्त के साथ-साथ पेट में गुड़गुड़ाहट की आवाज भी होती है। ज्यादा दस्त होने के कारण रक्तस्वल्पता, कमर में दर्द और ज्वर वगैरह उपद्रव पैदा हो जाते हैं। वृद्धावस्था की ग्रहणी असाध्य है। वातादि भेद से संग्रहणी रोग पाँच प्रकार का होता है।

वातज ग्रहणी—में अन्न पाक में कठिनाई, कंठ एवं मुँह का सूखना और कानों में गुनगुन की आवाज इत्यादि लक्षण प्रकट होते हैं। चि०—सोंठ, पीपल, पीपला मूल, चव्य और चित्रक का चूर्ण अथवा वटी तैयार कर गौ के छाछ के साथ सेवन करना चाहिये।

पित्तज ग्रहणी—में विभिन्न रंगयुक्त मल निकलना, हृदय और कंठ में दाह तथा प्यास और अरुचि वगैरह उपद्रव पैदा होते हैं। चिकित्सा—रसोत, तज, अतीस, इन्द्रजौ और धव के फूल का चूर्ण उपयोगी है—

कफज ग्रहणी—में शरीर का भारीपन, आलस्य, मुँह का स्वाद मीठा और आमयुक्त मल उतरना। चिकित्सा—हर्रे की छाल, पिप्पली, सोंठ, चित्रक,

काली मिर्च और सोंचर नमक का चूर्ण अथवा क्वाथ चाहे वटी बनाकर गौ के छाछ के साथ व्यवहार करने से बहुत ज्यादा लाभ होता है।

सन्निपातज ग्रहणी—में त्रिदोषजनित लक्षण पाये जाते हैं। चिकित्सा—शुद्ध गंधक, शुद्ध पारद और शुद्ध सिंगीमुहरा, सोंठ, काली मिर्च, पिप्पल, सेंका हुआ सोहागा, लोह भस्म, अजमोद और अफीम सम भाग लेवें। पारद और गंधक की कज्जली तैयार कर उक्त सभी औषधियों के बराबर अभ्रक भस्म मिलाकर चित्रक के क्वाथ में एक दिन तक खरल करें पश्चात् काली मिर्च के बराबर गोली तैयार कर छाया में सुखा लेवें। इससे सन्निपातिक ग्रहणी तथा आमवात संग्रहणी का भी नाश हो जाता है। आमवातिक संग्रहणी—सन्निपातिक संग्रहणो का ही एक भेद है। इस रोग में गौ का मट्ठा बहुत ज्यादा लाभ करता है। इस रोग में पर्पटी चिकित्सा का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पथ्य—इस रोग में भी अतिसार रोग का संयम और पथ्य ही उचित समझा जाता है।

समय और परिश्रम एवं मैथुनादि से सख्त परहेज रखना चाहिये। आवश्यकतानुसार उपवास आदि की भी व्यवस्था करनी चाहिये। गौ का छाछ ही सर्वोत्तम पथ्य समझा जाता है। फलों में केला, जामुन, अनार, बेल, मौलेसरी और बेदाना आदि हितकारी है। मांस खानेवालों के लिए शशक, बटेर, छोटी मछली और हिरन का मांस उत्तम समझा जाता है। यद्यपि शास्त्रकारों ने अन्न एवं मांस आदि को भी अतिसार और ग्रहणी के पथ्य में लिखा है लेकिन मेरी समझ से छाछ ही सर्वोत्तम पथ्य है। छाछ के विषय में लिखा है कि केवल इसी के सेवन से उदर रोग में खास कमी हो जाती है अर्थात् छाछ पथ्य ही नही बल्कि महौषधि है।

———

अर्श—बवासीर (Piles)

अर्श रोग ६ प्रकार का होता है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज और सहज। यह रोग पाखाना के रास्ते में होता है। पाखाना

के रास्ते में शंख की नाभि की तरह तीन चक्र हैं। प्रथम चक को (जो सबसे ऊपरी भाग में है) प्रवाहिनी कहते हैं। चूंकि इसके द्वारा मल एवं वायु निम्न गति होकर निष्कासित होते हैं। मध्य भाग की वली को सर्जनी कहते हैं। इसके द्वारा भी मल एवं वायु का नीचे की ओर दबाने का कार्य होता है। मलद्वार के मुख पर अन्तिम वली है जो मल एवं हवा निकल जाने पर पुनः संकुचित होकर मलद्वार को ढक लेती है।

अर्श रोग का पूर्व रूप—कोष्ठबद्धता, मन्दाग्नि, अन्न का उचित रूप से पाक नहीं होना, डकार आना, शरीर का दुबला पतला होते जाना तथा अंग में पीड़ा होने पर समझना चाहिये कि अर्श रोग होनेवाला है। उष्ण, चिकनी, गरिष्ट एवं त्रिदोषकारी वस्तुओं के सेवन अर्थात् मिथ्या आहार-विहार से हो काष्ठ-बद्धता हो जाती है जिसमें चलते-चलते कड़ा पाखाना होने लगता है। ऐसा होने से अनायास ही त्रिवलियों में रगड़ लगती है। जिसके चलते खूनी एवं बादो बवासीर रोग हो जाता है। खूनी बवासीर में रक्तस्राव होता है और बादी बवासीर में मस्से निकल आते हैं जिनमें भयानक पीड़ा होती है। प्रथम वली की बवासीर साध्य, मध्यम वली की कष्ट साध्य और सबसे ऊपर वाली वली की बवासीर असाध्य समझी जाती है।

वातज अर्श—में काला अथवा नीला रंगयुक्त छोटी बेर चाहे कपास पुष्पादि की तरह सूई चुभने जैसे दर्द युक्त मस्सा निकलता है। इस रोग में सिर कमर पार्श्व, हृदय एवं जंघों में दर्द हो जाता है। छींक, डकार एवं क्षुधा का अभाव तथा कास, मन्दाग्नि एवं उदर रोगादि देखने में आते हैं। चिकित्सा-इस रोग में जमीकंद बहुत ज्यादा लाभ करता है। जमीकंद को अनेक प्रकार से सेवन करने की व्यबस्था है। गौ की छाछ में सेंधा नमक मिलाकर ज्यादा दिनों तक सेवन करने से भी लाभ होता है।

पित्तार्श—में विभिन्न रंगयुक्त मस्से होते हैं जिससे पतला स्राव होता है। इस रोग में प्यास, जलन, ज्वर, कंठ सूखना, नेत्रादि का पीला पड़ जाना आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

चिकित्सा—पारा और गन्धक की कज्जली, मोचरस, जमीकंद, बीज बोल और धव के फूल को समान भाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान मधु।

कफार्श—में सुस्ती, शरीर का भारीपन एवं मस्से का कड़ा पड़ जाना जिसके कारण पकने में देर होना। अरुचि, प्रमेह, हृदय, सिर में पीड़ा एवं मूत्र-कृच्छ्र आदि उपद्रव पैदा होना। **चिकित्सा**—अदरख का क्वाथ सेवन करना चाहिये तथा मस्सा पर हल्दी की थूहर (सेंहुड़) के दूध का ७ पुट देकर चढ़ाना हितकर है।

सन्निपातज अर्श—में त्रिदोष जनित लक्षण एवं उपद्रव देखने में आते हैं। चिकित्सा—हींग, त्रिफला, तज, पत्रज, इलायची, वच, काली मिर्च, पीपल, पाढल, सज्जीखार, जवाखार, चव्य, दारू-हल्दी, सौंफ; कुटकी, इद्र जी, अज-मोदक, बेलगिरी, पाँचों नमक और पीपलामूल का चूर्ण बनाकर सुसुम जल के साथ दोनों समय सेवन कराना चाहिए। इस विजय चूर्ण से अर्श के अलावे श्वास, कास, प्रमेह, पाण्डु, भगन्दर, उदर रोग तथा जीर्ण ज्वरादि रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

रक्तार्श—में शरीर की कृशता, अधोवायु की रुकावट, बल, वर्ण एवं उत्साहहीनता तथा मस्सा से रक्त का अधिक मात्रा में प्रवाह होता है। **चि०**—नीम के बीज और औलिया पानी के साथ अच्छी तरह से खरल कर एक रत्ती प्रमाण गोली बनाकर रसोत के क्वाथ के साथ सेवन कराना चाहिए। रसोत, चिनिया कपूर और नीम के बीज को पीसकर मस्सों पर लगाने से लाभ होता है।

सहजर्श—में अत्यन्त कठोर मस्सा निकलता है। यह रोग माता-पिता के रजवीर्य दोष से उत्पन्न होता है। **चिकित्सा**—घृत के विशेष सेवन से लाभ होता है।

अर्शरोग पर शास्त्रोक्त औषधियाँ—सूरन मोदक, जमीकंद आठ तोले, चित्रक चार तोले, सोंठ दो तोले, काली मिर्च एक तोला, शुद्ध भिलावा, पिपलामूल, वायविडंग, पीपल, तालीसपत्र प्रत्येक दो-दो तोले, त्रिफला ६ तोले, विधारा ८ तोले, काली मुसली ४ तोले और दालचीनी एवं छोटी इलायची एक-एक

तोले। इन चौदह औषधियों का बारीक चूर्ण तैयार कर ९० तोले पुराने गुड़ में मिलाकर एक-एक माशे की गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा से खूनी और बादी दोनों बवासीर नष्ट हो जाती हैं। अर्शकुठार रस और अभयारिष्ट से भी आशातीत फल होता है।

बवासीर का मलहम—मारफीन सल्फेट आठ ग्रेन, एसिड टैनिक दस ग्रेन, एसिड कार्बोलिक बारह ग्रेन, बिस्मथ नाइट्रेट २० ग्रेन और वेसलीन एक औंस सबको एकत्र कर बवासीर पर लगाने से लाभ होता है। इसकी लागत चार आने लिखा गया है और कीमत २।।) है। इस दवा को बवासीर के अलावा भगन्दर रोग में भी उपयोगी बतलाया गया है लेकिन डॉ० रामकृष्ण वर्मा जी ने बवासीर के लिए उपयोगी बतलाया है।

●

मन्दाग्नि (Dyspepsia)

पहले ही लिखा जा चुका है कि मनुष्य के शरीर में मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, विषमाग्नि और समाग्नि चार प्रकार की अग्नि होती है। मन्दाग्नि वाले मनुष्य को नाना प्रकार के उदर विकार, तीक्ष्णाग्नि वाले को पैत्तिक रोग की विशेषता, विषमाग्नि वाले को वातिक रोग की विशेषता और समाग्नि वाले को समावस्था में अग्नि रहने के कारण कोई रोग नहीं होता है। मन्दाग्नि रोग का कारण दिन में सोना, रात में जागना, मलमूत्रादि वेगों को रोकना तथा विषपान और अतिशय जलपान ही है। खासकर जिन लोगों को शारीरिक परिश्रम से दूर रह कर दिन भर बैठे-बैठे काम करना पड़ता है उनको मन्दाग्नि हो जाती है। पक्वान्न और गरिष्ट वस्तुओं का सेवन भी इस रोग के खास कारण हैं। आज के युग में तो घी और तेल की कृत्रिमता का भयानक परिणाम सर्वविदित ही है। मन्दाग्नि रोग ६ प्रकार का है इसको अजीर्ण रोग भी कहते हैं।

विष्टब्धाजीर्ण—यह वायु के प्रकोप से होता है। इसमें पेट फूल जाता है तथा पेट में भयानक शूल का दर्द होता है तथा खाया हुआ अन्न पेट में जम जाने से पाखाना एवं अधोवायु का अवरोध-सा हो जाता है।

विदग्धा जीर्ण—यह रोग पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है। इसमें खट्टी डकार, प्यास, भ्रम, जलन होती है तथा पसीना भी निकलता है।

आमाजीर्ण—यह रोग कफ की विकृति से पैदा होता है। इसमें सुस्ती, शरीर भारी तथा कच्चा मल निकलना आदि लक्षण पैदा होते हैं।

रस शेषाजीर्ण—इसमें खाया हुआ अन्न अच्छी तरह से पाक नहीं होने पर रस के रूप में मलद्वार से बाहर निकलता है। अन्न से अरुचि हृदय एवं पेट में पीड़ा वगैरह लक्षण देखने में आते हैं।

दिन पाकाजीर्ण—यह रोग होने पर भोजन से अरुचि, आलस्य तथा शरीर में भारीपन के अलावे दिन में केवल एक ही बार भोजन की इच्छा रहती है। इसके लक्षण आमाजीर्ण से मिलते-जुलते होते हैं।

प्राकृत्याजीर्ण—इसको सामान्याजीर्ण भी कहते हैं। मन में ग्लानि, अन्न से अरुचि, भ्रम, मल एवं अपान वायु का अवरोध तथा बार-बार मल त्यागने की इच्छा आदि लक्षण पैदा होते हैं।

चिकित्सा—अदरख को नीबू के रस में भिगोकर बोतल में रख छोड़ें। प्रतिदिन दो तीन टुकड़ा खाने से अजीर्ण का नाश होता है।

हिंग्वादि चूर्ण—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, सेंधा नमक, स्याहजीरा, सफेद जीरा और अजमोद इन सात औषधियों को समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर लेवें बाद में घी में भुनी हुई हरड़ आठवाँ भाग मिलाकर बोतल में रख लेवें। भोजन के प्रथम ग्रास में दोनों सुबह-शाम खाने का विधान है।

रामबाण रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध बच्छनाग और लौंग एक-एक तोला, मिर्च दो तोले, जायफल आधा तोला इनका बारीक चूर्ण बनाकर इमली के फलों के रस में घोटकर मूंग प्रमाण गोली तैयार कर लेवें। इस दवा से अजीर्ण रोग में तत्काल ही लाभ होता है।

महाशंख बटी—सेंधानमक, कालानमक, समुद्रनमक, साँभरनमक, नौसादर घी में सेंकी हुई हींग, शंखभस्म, इमली क्षार, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, शुद्ध बच्छनाग, शुद्ध पारद और शुद्ध गंधक सम भाग लेवें। पहले पारद और गंधक

को घोट कर कज्जली तैयार कर लेवें पश्चात् अन्य सभी दवाओं का बारीक चूर्ण उसमें मिला लेवें। पश्चात् चित्रक मूल क्वाथ और आपामार्ग के पत्तों के स्वरस की एक-एक भावना दें। बिजौरा नीबू, खट्टे अनार और कागजी नीबू आदि अम्ल फलों के रस की ७ भावना देकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना लेवें। भोजनोपरान्त एक-एक गोली सेवन कराना चाहिये। अनुपान सुसुम जल। अरुचि एवं मन्दाग्नि के लिए अमोघ औषधि हैं। मन्दाग्नि में मुस्तकारिष्ट का प्रयोग भी अच्छा काम करता है।

लवण वटी—पाँचों नमक, यवाक्षार, सज्जीखार, काली मिर्च, सोंठ, चव्य, पीपलामूल, चित्रक, अजवायन और भूनी हींग प्रत्येक दवा समान भाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। बाद में उस चूर्ण को बिजौरे, बेर अथवा अनार के रस में घोट कर गोली बना लेवें। अनुपान गर्म जल। यह अग्निदीपक तथा पाचक है। इससे संग्रहणी और अतिसार में भी लाभ होता है। जीरकाद्यरिष्ट और पिपल्यासव से भी मंदाग्नि में लाभ होता है।

संजीवनी वटी—वायबिडंग, सोंठ, छोटी पीपल, हर्रे, बहेरा, आँवला, बच, गिलोय, शुद्ध भिलावा और शुद्ध बच्छनाग समभाग लेकर, पहले वच्छनाग और भिलावे को गो-मूत्र में महीन पीस लेवें। पश्चात् अन्य द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर गो-मूत्र में तीन रोज तक मर्दन करने के बाद एक-एक रत्ती की गोलियाँ बना लेवें। अनुपान अदरक का रस या मधु। इस दवा से, आम दोष, हैजा, ज्वरादि भी नष्ट हो जाते हैं। अनुपान भेद से यह कई एक रोगों में काम आती है—

क्षुधावती गुटिका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म, अजवायन, सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, चव्य, सोआ, कालाजीरा, श्वेत जीरा, पुनर्नवा, वच, दन्ती मूल, निशोथ और अनन्तमूल को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। उक्त प्रत्येक दवा एक-एक तोला और मण्डूर भस्म दो तोले लेकर अदरक के रस में अच्छी तरह मर्दन कर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान सुसुम जल। इस दवा से अजीर्ण, आमवात, खट्टी डकार, पेट फूलना तथा अम्लपित्तादि अच्छे हो जाते हैं।

नमक सुलेमानी—सेंधानमक एक तोला, काला नमक आधा तोला, नीबू का सत दो माशे; काली मिर्च, अजवायन, भूनी हींग, सौंफ और दालचीनी एक-एक माशा और शक्कर दो तोले चार माशे को अच्छी तरह खरल कर बारीक चूर्ण बना लेवें। इससे अजीर्ण, अपच और कब्ज आदि का नाश होता है तथा मुँह का बिगड़ा हुआ स्वाद ठीक हो जाता है।

पेटेण्ट औ० और भारतवर्ष नामक पुस्तक में लिखा है कि इस दवा की लागत तीन पैसा और कीमत आठ आने है। इस दवा को एक हकीम सा० ने पहले-पहल तैयार किया था।

पथ्य—हल्का पुष्टिकारक भोजन देना चाहिये। छाछ (मट्ठा) सर्वोत्तम पथ्य है। इस रोग में आबहवा बदलने से ज्यादा लाभ होता है।

हैजा (Cholera)

इसको आयुर्वेद शास्त्र में विसूचिका कहा गया है जिसकी दो अन्य भी शाखायें अलसक और विलम्बिका के नाम से प्रसिद्ध हैं। हैजा होने का कारण मंदाग्नि, आमाजीर्ण तथा गरिष्ट वस्तुओं का अधिक रूप में सेवन आदि बतलाया गया है। पहले इस रोग की उतनी प्रबलता नहीं थी जितनी आज के युग में है। मिथ्या आहारादि के अलावे डर जाने से भी हैजा हो जाता है। चूंकि आज का मानव समाज वीर्यहीन ही नहीं बल्कि कल्पनाहीन भी होता चला जा रहा है। ब्रह्मचर्य की मर्यादा के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। इन्हीं सब कारणों से दुर्बल मस्तिष्क तथा हीनवीर्य के कारण बहुत जल्द ही इस रोग का डर धर दबाता है। यह रोग जनपद ध्वंस के नाम से (जिसको महामारी भी कहते हैं।) भी प्रसिद्ध है। इस रोग के रोकथाम के लिए एलौपैथिक चिकित्सा पद्धत्यनुकूल सूचिवेध्य द्वारा टीका लगाने की व्यवस्था होती है लेकिन जिन लोगों को टीका लगाया जाता है उन्हें भी हैजा होते देखा गया है।

विसूचिका रोग का वर्णन प्राचीन आयुर्वेद ग्रथों में भी मिलता है तथा यह रोग सर्वत्र व्यापक रूप से फैलते भी देखा जाता है। लेकिन डॉ० मैकफर्सन ने

बंगाल की नीची भूमि को ही हैजा का प्रधान क्षेत्र माना है। उक्त चिकित्सक का कथन है कि सर्वप्रथम सन् १८१७ ई० के अगस्त मास में यशोहर जिले के नलडांगा ग्राम में हैजा का प्रादुर्भाव हुआ। पश्चात् तीन मास के अन्दर ही यह रोग ढाका, चटगांव, कलकत्ता, भागलपुर तथा कटक आदि स्थानों में भीषण रूप से फैल गया। उसी साल नवम्बर मास में शहर बुन्देलखण्ड में केवल पांच दिनों के अन्दर ही इस रोग से बहुत ज्यादा आदमियों की मृत्यु हुई थी। आपका कथन है कि बंगाल से हैजा जलपथ द्वारा बंगोपसागर से लाल समुद्र, मिस्त्र और भूमध्य सागर के तटवर्ती स्थानों के इर्द-गिर्द तक गया। पश्चात् फारस, अफगानिस्तान, रूस एवं मध्य एशिया में पहुँचा। सन् १८२३ ई० अर्थात् केवल ६ साल के अन्दर ही इस रोग ने समस्त भारत के अलावे–सिंहलद्वीप, ब्रह्मदेश, चीन इत्यादि स्थानों में अपना आधिपत्य जमा लिया। सन् १८३९ तक यह रोग रूस से अमेरिका और यूरोप में फैल गया।

एलोपैथिक मतानुसार प्रायः प्रत्येक रोगों का कारण कीटाणु ही हुआ करते हैं। अतः इस सिद्धान्त के मुताबिक इस रोग का कारण एक प्रकार का जीवाणु ही माना गया है, जिसका नाम कोमा बेसिलस (Comma bacillus) है।

हैजा रोग फैलने पर स्वच्छता पर विशेष ध्यान देना सभी चिकित्सा पद्धतियों के अनुकूल है। रोगी के कै और दस्त को गड्ढा खोदकर गाड़ देना चाहिये तथा वस्त्र को किसी ऐसे स्थान पर नहीं साफ करना चाहिये जहाँ पर आम जनता का आना-जाना हो। रोगी के स्थान पर चूना, फिनाइल छिड़कना चाहिये चाहे अगरबत्ती अथवा सुगन्धित धूप को जलाना चाहिये। जूते में गंधक का चूर्ण रखकर रोगी के यहाँ आना-जाना चाहिए। हैजा फैलने पर कपूर का अर्क नित्य एक बूंद बताशा अथवा जल के साथ सेवन करना हितकर बतलाया गया है।

साधारणतः हैजा दो प्रकार का होता है साधारण और कठिन। साधारण हैजा का रोगी कई एक दिनों तक रोग भोगने के पश्चात् भी अच्छा हो जाता है लेकिन संघातिक हैजा होने के साथ ही शरीर ठंडा पड़ जाता है और नाड़ी

छूटने लगती है। संघातिक हैजा के विषय में लिखा है कि केवल एक बार ही कै अथवा दस्त होने पर भी रोगी का मर जाना सम्भव है। वास्तव में यह महा भयानक रोग है।

हैजा की आक्रमणावस्था में साधारण रूप से क़ै और दस्त का होना देखा जाता है, लेकिन रोग के पूर्णरूप से प्रकट होने पर दस्त कै के साथ बेचैनी, प्यास, हाथ-पैर में ऐंठन और पेट में जलन आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। साधारण हैजा में उक्त अवस्था के बाद शरीर ठंडा पड़ने लगता है तथा नाड़ी कमजोर होने लगती है। शीताङ्ग होने पर बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता है। इस अवस्था में पेशाब की रुकावट और हिचको आदि उपसर्ग पैदा होने लगते हैं। हैजा में पेशाब रुकने से कोई डर की बात नहीं है लेकिन पेशाब सूख जाने पर रोगी की मृत्यु का विशेष डर रहता है। पेशाब रुक जाने पर साधारण उपचार से भी काम चल सकता है लेकिन सूख जाने पर दूर की बात पर ध्यान देना पड़ता है। अत्यधिक गर्मी के कारण मसाने (Kidney) की चाल ठप्प पड़ जाती है जिसके कारण पेशाब बन ही नहीं पाता है।

एलोपैथिक के आचार्यों के मतानुसार हैजे का प्रकार भेद प्रायः निम्न प्रकार है :—

१—कालेरा डायरिया (Diarrhoeaica)—इसमें केवल दस्त होती है।

२—कालेरा गैस्ट्रिक (Gastrica)—इनमें पाकस्थली में उत्तेजना होती है जिसके फलस्वरूप मिचली और कै दस्त होते हैं।

३—कालेरा गेस्ट्रो एण्टेरिका (Gastro Enterica)—इसमें दस्त और कै समान कष्टकर भाव से देखने में आते हैं।

४—ड्राई कालेरा (Dry cholera)—इसमें हाथ-पैर में ऐंठन, बेचैनी, प्यास तथा हैजा के सभी लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, केवल कै और दस्त नहीं होते हैं। यह बहुत ही भयानक रोग है।

५—कालेरा एक्यूट (Acute)—एक्यूट का अर्थ तो नूतन होता है लेकिन कॉलेरा एक्यूट में लिखा है कि पेट में गड़बड़ी होकर दस्ता कै होने के पहले

ज्ञान शून्यता तथा हाथ पैर में सुन्नता का भाव और माथा में भी भार जैसा मालूम होने लगता है।

६—कॉलेरा हेमरेजिक (Heamorrhagic)—इस रोग में दस्त के साथ रक्त भी निकलता है। यह रोग खासकर उन लोगों पर विशेष आक्रमण करता है जिन्हें गाँजा, चरस एवं शराब की विशेष आदत होती है।

७—कॉलेरा इन्फ्लामेट्री (Imflammatory)—इनको प्रदाहक हैजा भी कहते हैं। इसमें शरीर गर्म, नाड़ी चंचल तथा चेहरा लाल हो जाता है।

आयुर्वेद शास्त्र में लिखित विसूचिका, अलसक और विलम्बिका का वर्णनः—

विसूचिका के विषय में श्री माधवाचार्य जी ने लिखा है कि—

मूर्छातिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टन जृम्भ दोहः।
वैवर्ण्यं कम्पो हृदयेरुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः॥

अर्थात् मूर्छा, अतिसार, वमन, प्यास, दर्द, भ्रम, जंघों की जड़ता, जम्हाई, कम्प, दाह, हृदय वेदना तथा सिर में फटने की पीड़ा हो उसको विसूचिका कहते हैं।

अलसक—यह रोग रूखा हैजा कहा जा सकता है क्योंकि अलसक में कै और दस्त नहीं होता।

बिलम्बिका—इस रोग में भोजन किया हुआ पदार्थ कफ वात से दूषित होकर न तो पाखाना के रूप में निकलता है और न कै होती है। अलसक और विलम्बिका में केवल इतना ही अन्तर है कि अलसक में भयानक पीड़ा होती है और विलम्बिका में साधारण ।

चिकित्सा—हैजा रोग की चिकित्सा बहुत ही सावधानी से करना चाहिये। इसकी प्रथमावस्था में ही अफीम आदि औषध का प्रयोग करना भयानक भूल है। इस प्रकार की दवाओं से दस्त तो शीघ्र बंद हो जाती है लेकिन पेट फूल जाने पर जटिल समस्या उपस्थित हो जाती है। पेशाब पर भी पहले से ही ध्यान रखना जरूरी है। हैजा रोग में शीघ्र दस्त बंद कर देनेवाली दवा के बदले उस दवा को देना चाहिये जिससे दस्त जल्दी साफ हो जाय। पेट साफ करने के लिए रेचक औषधियों के अलावे डूस का भी प्रयोग किया जाता है

ऐसा करने से पेट भी साफ हो जाता है और मल निकल जाने से कुछ देर के लिए रोगी को दस्त व वमन से छुटकारा मिल जाता है। कै कराने के वास्ते सुसुम जल में सेंधा नमक मिलाकर देने का भी विधान है।

साधारण हैजा में प्याज और अदरख का रस एक-एक तोला पिलाना चाहिए। प्रथमावस्था में मदाग्नि रोग पर लिखी हुई संजीवनी वटी बहुत ज्यादा काम करती है। अर्क कपूर अथवा अमृतधारा से भी लाभ होता है। कपूर, अजवायन का सत और पिपरमेण्ट का सत एक साफ शीशी में डाट लगाकर रख छोड़ने से थोड़ी देर में गल जाता है, इसी को अमृतधारा और घनसार भी कहते हैं।

शिवाक्षार पाचन चूर्ण—सज्जीखार, हर्रे का चूर्ण और-हिंग्वष्टक चूर्ण तीनों को एक दिल करके रख लेवें। मात्रा ३ से ६ मासे। इससे अजीर्ण एवं विसूचिकादि नष्ट हो जाते हैं।

गन्धकाम्ल (Sulphuric Acid) को वराटिका भस्म के साथ सेवन कराने से हैजा में फायदा होता है। शुद्ध अम्लातक का चूर्ण इमली के स्वरस में घोटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर छाया में सुखा लेवें। इसको शीत कषाय के साथ देना चाहिये।

शीत कषाय—लौंग ५ नग, पुदीना, सौंफ और जीरा ६-६ माशे तथा ९ माशे। उक्त औषधियों को औट कर मिट्टी के कोरे पात्र में छानकर रख देवें। ठंढा होने पर काम में लावें। अजीर्ण के कारण हैजा होने पर रेंड़ो के तेल में सौंफ का अर्क मिलाकर पिलाना हितकर है। गोलमिर्च और अरहर के हरे पत्तों को समभाग लेकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा से भी हैजे में लाभ होता है। ओंगा की जड़ को पानी के साथ पीसकर पिलाने से लाभ होता है।

कर्पूरासव—देशी कपूर, छोटी इलाइची के बीज, नागरमोथा, सोंठ, अजवायन और वायबिडंग प्रत्येक दो-दो तोले और देशी मद्य साढ़े बारह सेर, उक्त औषधियों का चूर्ण बनाकर मद्य में मिलाकर एक बर्तन में रखकर उस बर्तन

का मुख बंद करके एक मास तक पृथ्वी में गाड़ कर रख देवें। पश्चात् निकाल कर छान लेवें।

अर्क कपूर—रेक्टीफायड स्प्रीट १६ औंस, कपूर चार औंस और पिपरमेंट का फूल एक औंस एकत्र एक शीशी में डालकर डाट लगा देवें। यह प्रथम श्रेणी का अर्क कपूर तैयार होगा। मात्रा ५ से २० बूंद।

अग्नि कुमार रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और सुहागा का लावा एक-एक तोला, शुद्ध वच्छनाग ३ तोले, कौड़ी भस्म और शंख भस्म दो-दो तोले तथा काली मिर्च ८ तोले लेवें। पारद गन्धक की कज्जली बनाकर अन्य औषधियों के चूर्ण को एकत्र मिलाकर नीबू के रस में तीन रोज तक मर्दन कर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान अजीर्ण और साधारण दस्त में छाछ के साथ, अतिसार में चावल के धोवन के साथ और हैजा में सौंफ के अर्क के साथ देना चाहिये। पित्त प्रधान हैजा में शंख, कौड़ी या शुक्ति भस्म, अनार, केला के साथ देने से लाभ होता है। पुरानी इमली का अर्क भी बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

मृगमदासव—मृतसंजीवनी सुरा अथवा रेक्टिफायड स्प्रीट सवा ६ सेर, शहद तीन सेर दस तोले, पानी तीन सेर दस तोले, कस्तूरी बीस तोले, काली मिर्च, लौंग, पीपल और दालचीनी दस-दस तोले। सर्वप्रथम कस्तूरी को सुरा में घोल लेवें पश्चात् सभी द्रव्यों को एक मास के लिए एक काँच के पात्र में मुख बंद कर रख छोड़ें। महीने भर बाद दवा को छान कर शीशी में रख लेवें। मात्रा—दस से पन्द्रह बूंद तक। अनुपान—एक तोला जल अथवा बताशा के साथ। इस दवा से हैजे की शीताङ्गावस्था तथा हिचकी एवं सान्निपातिक हैजा में लाभ होता है। हैजा में ऐंठन होने पर तेल में अर्क कपूर डाल कर मालिश करने से लाभ होता है। कुम्भार के आवाँ की राख और अरहर की भूनी हुई दाल का चूर्ण भी लाभदायक है। लौंग, धनियाँ एवं खस डालकर औटाए जल को पिलाने से प्यास शान्त होती है। पीपल-वृक्ष की सूखी छाल को आग में जलाकर लाल कर लेने के पश्चात् पानी में बुझाकर वही पानी

पिलाने से प्यास तथा पेट का जलन मिट जाती है। पेशाब बन्द हो जाने पर निम्नलिखित उपचार करना चाहिए—

आध पाव जौ का आटा और चार आने भर सज्जी को जल में घोलकर पका लेने के पश्चात् पेट पर लेप करना चाहिए। बोतल में गर्म जल रखकर बोतल को पेट पर फिराना चाहिए। अरवा चावल, हल्दी और तुलसी पत्र को समान भाग लेकर छाछ में पीस कर उदर पर लेप करने से लाभ होता है। भेंड़ की रोइँ की अथवा ऊन के कपड़े को पानी में खौला कर उसी रोवाँ अथवा ऊनी कपड़े से ऊपर स्वेद करने पर पेशाब हो जाता है। केले की जड़ और कलमी सोरा छोपने से भी लाभ होता है, लेकिन इस प्रयोग को कुछ लोग हानिकर बतलाते हैं। उक्त लेप से शीताङ्ग अधिक बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। मूत्राशय में पेशाब इकट्ठा होने पर कैथेटर नामक यंत्र से भी पेशाब निकाला जाता है। इस यंत्र का प्रयोग करने से पहले अच्छी तरह से जान लेना चाहिये कि मूत्राशय में पेशाब है या नहीं क्योंकि केवल अटका हुआ पेशाब निकालने के वास्ते ही इसका प्रयोग होता है। यंत्र प्रयोग के पहले साक्षात् ज्ञान भी आवश्यक है।

हैजा में एलोपैथिक चिकित्सक **'लवण घोल'** नामक यंत्र द्वारा रोगी के नस में **सैलाइन** चढ़ा देते हैं। इस प्रयोग से भी लाभ होता है लेकिन सैलाइन की मात्रा की न्यूनाधिकता से प्राण तक चला जाता है। इस रोग में उदर मण्डल विशाल हो उठता है। अतः औषधि की अल्प मात्रा ही उचित है—जैसा कि शास्त्रकारों ने वर्णन किया है। हैजा अच्छा होने के समय एक प्रकार की भूख पैदा होती है जिसको मिथ्या भूख कहा गया है। उस हालत में भोजन कदापि नहीं देना चाहिए।

पथ्य—हैजा रोग में दवा एवं जल के अलावे कोई अन्य वस्तु खाने अथवा पीने के लिए नहीं देना चाहिए। रोग छूट जाने पर छाछ, नीबू और मिश्री का शर्बत, लस्सी, साबूदाना, बार्ली और आरारोट वगैरह देना चाहिये। मिथ्या भूख में तो भूल कर भी किसी प्रकार का पेय भी नहीं देना चाहिये। पथ्य में जरा-सा गोलमाल होने से रोग का पुनः आक्रमण हो जाता है। जिससे प्राणान्त

तक हो जाता है। भययुक्त हैजा के रोगी को चिकित्सा के साथ-साथ सांत्वना की विशेष आवश्यकता होती है।

कृमि रोग (Worms)

आयुर्वेद शास्त्र में कृमि दो प्रकार की बतलाई गयी हैं बाह्य और आभ्यन्तरिक। लीख एवं जूं आदि को बाह्य कृमि कहते हैं। इन कृमियों में खुजली, फुन्सी तथा गाँठ इत्यादि रोग पैदा होते हैं। ज्यादा मीठी और चरपरी वस्तु तथा विशेष रूप में मांस के सेवन यानी आहार की गड़बड़ी से पित्त की विकृति होकर आँतों में दूषित मल जमा हो जाता है जिससे आँतों में कृमि हो जाती हैं। आयुर्वेद शास्त्र में कृमि रोग के निम्नलिखित कारण बतलाये गये हैं।

अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता।
व्यायोमवर्जीच दिवाशयानो विरुद्ध भुक्तलभते कृमींस्तु॥

अर्थात्—अजीर्ण पर भोजन करनेवाला, नित्यप्रति मीठा खट्टा खानेवाला, पतले पदार्थ का प्रेमी, पिट्टी का सतुआ आदि तथा गुड़ का पदार्थ खानेवाला, भोजन करके परिश्रम नहीं करे, दिन को सोनेवाला, विरुद्ध भोजन, जैसे—मछली और दूध का एक साथ सेवन आदि कारणों से कृमि रोग उत्पन्न हो जाता है।

पेट में कृमि पड़ जाने पर चेहरे का भद्दापन, नाक में खुजलाहट, मुंह में पानी भर आना, सोने पर दाँत किटकिटाना या डर जाने के कारण चौंकना अथवा उठ बैठ जाना। नाभि के समीप खरोंचने जैसे दर्द होना, भूख की अनियमितता और पतला दस्त होना। अम्ल, अनिद्रा, अतिसार तथा मिचली भी होती है। छोटे बच्चों को उजला पेशाब भी होता है। मल-मूत्रादि से सात प्रकार की, कफ से छ प्रकार की और रक्त से सात प्रकार की इस तरह २० प्रकार की कृमि होती है।

डाक्टरी मत से—मनुष्य के भीतर पायी जानेवाली कृमि सात प्रकार की हैं। जिनमें निम्नलिखित तीन प्रकार मानी जाती है।

१—केचुआकीर (Round worm)।

२—सूत जैसी—(थ्रेड या पिन वर्म Thread or pinworm)

३–फीतानुमा—(टेप वर्म Tape worm)

केचुआकार कृमि—केचुए जैसी लम्बी और गोली होती है। यह विभिन्न रंग युक्त होती हैं। उक्त कृमि छोटी आंत में रहती हैं। इनमें मादा और नर भी होते हैं। नर कृमि की अपेक्षा मादा कृमि लम्बी होती है। नर कृमि छः से दस इंच तक और मादा छः से पन्द्रह इन्च तक लम्बी होती हैं। मादा जाति की कृमि अंडा देती हैं जो मल के साथ निकलती हैं। यद्यपि इन कृमियों का निवास आंतों में रहता है लेकिन कभी-कभी पाकस्थली में प्रवेश कर जाती हैं जिसके फलस्वरूप मुख द्वारा बाहर निकलती देखी जाती हैं। इस जाति की कृमि की कई एक श्रेणियाँ हैं।

सूत्र कृमि—महीन सूते की तरह मादा और नर के रूप में निकलती हैं। नर की लम्बाई लगभग चौथाई इन्च और मादा की लम्बाई लगभग पौन इन्च तक होती है। इनका निवास छोटी आंत से लेकर मलद्वार तक रहता है। उक्त कृमि मलांत्र में अण्डे देती है। जिसके फलस्वरूप मलांत्र में कुटकुटाहट की प्रबलता रहती है। औषधि प्रयोग से मलांत्र की कृमि तो निकल जाती हैं लेकिन अंत्रपुट और उपांग की कृमि निकलना कठिन है। उक्त प्रकार की कृमि कभी-कभी छोटी बच्चियों की योनि में प्रवेश कर जाती हैं जिसके कारण भगोष्ठ में लाली और सूजन आ जाती है। ऐसा होने से घाव होकर कभी-कभी मवाद भी आने लगता है जो पैत्तिक प्रमेह रोग का भ्रम पैदा कर देता है।

फीतानुमा कृमि—ठीक फीता जैसी चिपटी और उजले रंग की होती हैं।

इस प्रकार की कृमि का निवास छोटी आंतों में रहता है। फीतानुमा कृमि के सर पर एक हुक जैसा बना रहना है जिसके सहारे वह नस में चिपक कर रस चूसती रहती हैं। यह कृमि प्रायः तीन प्रकार की होती हैं, १–टेनियां सोलियम (Taenia Solium), जो पांच फीट से लेकर लगभग पचीस फ़ीट तक लम्बी होती हैं। २–टेनियां मेडियो कैनिलेटा (Taenia Madio Canaellate) जो टेनियां सोलियम से बलवती और मोटी के अलावे लगभग ६० फीट

तक लम्बी बतलायी गयी हैं। ३—इसको ब्राड टेप वर्म (Broad tape worm) कहते हैं जो सत्रह फीट से लेकर लगभग ७५ फीट तक लम्बी होती है। इस कृमि की बनावट बहुत ही विचित्र है। यह गाँठ-गाँठ जुड़ी हुई होती है। उक्त गांठें एक अथवा दो चाहे चार या इससे भी अधिक एक बार टूट कर बाहर निकलती हैं। अगर किसी प्रकार यह गांठ किसी जानवर के पेट में चली जाय तो वह भी इसका शिकार हो जाता है। इस कृमि की गाँठों का आकार लौकी के बीज जैसा मालूम होता है।

चिकित्सा—बायविडंग, सेंधा नमक, हर्रे की छाल और जवाखार के चूर्ण को नीम के पत्तों के रस के साथ सेवन करना चाहिये। पलास का बीज, नीम का फूल, बायविडंग और हर्रे का समभाग लेकर चूर्ण कर लेवें। इस चूर्ण को छः माशा की मात्रा में समभाग पुराना गुड़ मिलाकर खिलाने के पश्चात् गाय का गर्म दूध पिलाने से कृमि निकल जाती हैं। अनार की छाल का काढ़ा भी बहुत ज्यादा लाभ करता है। सबेरे मुँह धोने के पश्चात् आधा छटांक गुड़ खाने के थोड़ी देर बाद कमीला अथवा बायबिडंग के चूर्ण को मिश्री में मिला कर औटा हुआ दूध पिलाने से कृमि निकल जाती हैं। अगर इस दवा से पाखाना नहीं हो तब कोई साधारण दस्तावर दवा देकर पेट साफ करा देना चाहिये। पलास का बीज और कुड़ा की छाल प्रत्येक एक-एक छटाँक, वायविडंग आधा पाव उक्त तीनों औषधियों को कूट कर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। मात्रा चार से आठ आने भर। इस दवा को भी पहले गुड़ खाकर ही खाना चाहिये। गुड़ खाने पर कृमि उस पर लिपट जाते हैं और बाद में कृमि निकाल फेंकनेवाली दवा का सेवन करने से सुविधा होती है।

कृमि कुठार रस—इन्द्र जौ, त्रायमाण, अजमोद, वायविडंग, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वच्छनाग और नागकेकर प्रत्येक एक तोल, कपूर ८ तोले और पलास के बीज का चूर्ण १५ तोले। उक्त सभी औषधियों का बारीक चूर्ण बनाकर—जलभांगरा, मूषाकर्णी और ब्राह्मी बूटी की एक-एक भावना देकर एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें।

अनुपान—सत्यानासी का काढ़ा अथवा शहद ।

इस रोग पर **सेन्टोनीन** (Santonin) नामक दवा बहुत ज्यादा काम करती है । यह अंग्रेजी दवाखानों में मिलने वाली एक विषैलो औषधि है, अतः मात्रा के विषय में अच्छी तरह सोच-समझ कर ही इसका प्रयोग करना चाहिये । श्री रामनारायण शर्मा जी वैद्य ने आरोग्य प्रकाश में लिखा है कि सेण्टोनीन काश्मीर में पैदा होने वाली "बुइबूटी" नामक जड़ी से तैयार होता है लेकिन तैयार होता है विदेश में जाकर ।

कृमिघातिनी वटी और विडंगासव भी कृमि रोग के लिए अत्युत्तम औषधियों में से हैं । चेनोपोडियम आयल भी कृमि के लिए उत्तम दवा है । मात्रा दस से १५ बूंद तक ।

विडंगावलेह—बायविडंग का चूर्ण शहद में मिला देने से विडंगावलेह तैयार हो जाता है जो कृमि रोग के लिए रामबाण है ।

कृमिवालों के लिए अजीर्ण होनेवाले पदार्थों का सेवन बिलकुल बन्द कर देना चाहिये । कच्चे फल तथा मटर की छीमियाँ और मीठा बिलकुछ बन्द कर देना चाहिये । कृमि का विशेष आक्रमण बच्चों पर ही होता है । अतः बच्चों के नियमानुसार भोजनादि का प्रबन्ध परमावश्यक है । परवल, करैला, लहसुन, नीबू, बथुआ और गूलर, बकरी का दूध तथा पुराना चावल का भात उत्तम पथ्य है ।

छोटे बच्चों का गुह्यद्वार पक जाने पर चिनंग अथवा चुन्ने कीड़ा लगना कहते हैं । यह रोग होने पर बार-बार अपने हाथों से खुजलाया करता है और वही हाथ अपने मुंह में भी लगाता है । अतः स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से इसका बहुत भयानक परिणाम देखने में आता है । चिन्नग पर अरंड अथवा धतूरे के पत्ते का रस लगाने से बहुत ज्यादा लाभ होता है जायतून का तेल भी लाभदायक होता है ।

बाह्य कृमियों पर उपचार—

इन्द्र लुप्त रोग—इस रोग में सिर के बाल गिर जाते हैं । पुरुष के मूंछ

और दाढ़ी में भी यह रोग होता है। कड़वे परवल के पत्तों का रस लगाने से बाल उग आते हैं। खटमल को उक्त स्थान पर रगड़ने से भी लाभ होता है। रीठा, नीम और अरंड के पत्तों का रस छोपने से भी लाभ होता है।

जूँ, खटमल और नारू। नारू को नहरुआ भी कहते हैं।

नीम का बीज पीसकर सिर में लेप करने, चाहे नीम की पत्ती पानी में औटाकर सिर धोने से जूँ मर जाते हैं। मैनसिल को कड़वे तेल में पीस कर लगाने से अथवा सिलारस को गोमूत्र में पीस कर लेप करने से जूँ नष्ट हो जाते हैं।

लाख, भिलावा, श्रीवास, सफेदअपराजिता, अर्जुन वृक्ष का फूल और फल, राल, बायविडंग और गूलर इन औषधियों का धूप बना कर धूनी देने से सर्प, चूहा डंस, मच्छर, घून, गुड़रा, सुढ़िया तथा खटमल आदि भाग जाते हैं।

नारू पर—कलोंजी को दही में पकाकर लेप करने अथवा चौलाई की जड़ को पीस कर बाँधने से लाभ होता है। दवा लगाने के साथ-साथ प्रतिदिन बकायन के सात दाने निगलते जाने से बहुत शीघ्र ही फायदा होता है।

स्कर्वी इस रोग में मसूढ़े फूल उठते हैं जिससे मवाद भी आने लगता है।

कड़वी तरोई का पिसा हुआ चूर्ण कागज में लपेट कर सिगरेट जैसा बना कर पीने से लाभ होता है। वायविडंग के चूर्ण को चिलम पर रखकर पिलाया जाता है। अनुसन्धान द्वारा पता चला है कि यह रोग **विटामिन सी** (Vitamin C.) की कमी के कारण होता है। अतः आँवले का ताजा रस सेवन करना चाहिये। इसमें विटामिन सी० मिलता है। रीठा के फल की छाल, मौलेसरी की छाल और फिटकरी मिलाकर कुल्ला करने से भी लाभ होता है।

विशेष—शार्ङ्गधर संहिता में २२ प्रकार की कृमियों का वर्णन आया है। अठारह प्रकार की कृमि जो भीतर रहने वाली होती हैं, तीन प्रकार की बाहर वाली कृमि जिनको जूँ, जमजूँ और लीख कहते हैं तथा एक कफ रक्त से उत्पन्न होने वाला स्नायुक नहरुआ अथवा नारू कहा जाता है।

आयुर्वेद शास्त्र में कृमि शब्द आया है। एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली का आधार जीवाणुवाद पर ही निर्भर है। अथर्ववेद में भी कृमि का दृष्ट और अदृष्ट के नाम से निर्देश किया गया है।

पाण्डु रोग (Jaundice)

यह रोग वातज, कफज, सन्निपातज और मृतिकाजन्य, इस प्रकार पाँच किस्म का होता है। भगवान धन्वन्तरि जी ने केवल चार प्रकार का ही बतलाया है। इस रोग में शारीरिक अवयवों में पीलापन देखने में आता है। अतः इस रोग को पाण्डु अथवा पीलिया रोग कहते हैं। श्री माधवाचार्य जी ने इस रोग का कारण निम्नलिखित बतलाया है :—

व्यायाममम्लं लवणानि मद्य मबुं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।
निसेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरता नयति॥

अर्थात्—अधिक व्यायाम, खट्टे पदार्थ का सेवन, लवण का सेवन, अत्यधिक मद्यपान, मिट्टी खाने, दिन में सोने तथा तीखे पदार्थ सेवन करनेवालों का रक्त दूषित होकर वातादि दोषों को प्रकुपित कर त्वचा एवं नखादि को पीला कर देता है। अधिक मैथुन भी इस रोग का एक प्रधान कारण है।

यह रोग होने के पहले त्वचा में रूखापन हो जाता है जिसके फलस्वरूप चमड़ा फट जाता है। मुँह से बार-बार थूक आना, अंगों का जकड़ना, मिट्टी खाने की इच्छा होना, नेत्र के पलक और नेत्र का निचला भाग सूजना तथा मल-मूत्रादि का पीत वर्ण हो जाना और अनपच आदि उपद्रव दृष्टिगोचर होते हैं।

अंग्रेजी चिकित्सा में इसके प्रायः दो प्रधान भेद हैं—हिपाटोजिनस (Hepatogenous) और हिमाटोजिनस (Haematogenous)। इस रोग के कारण के विषय में लिखा है कि पित्ताशय (Gall bladder) से पित्त निकल कर अगर किसी कारणवश उचित रूप से आँतों में न जाकर रक्त के साथ मिल जाय तो आँख, मुँह, हाथ, पैर तथा नखादि पीत वर्ण हो जाते हैं। हिपाटोजिनस के विषय में लिखा है कि—पित्तपथरी, पित्तनाली में कृमि का प्रवेश, पित्तनाली के

पथ पर अर्बुद वगैरह का दबाव, मंदाग्नि तथा सर्दी लग जाने आदि कारणों से यह रोग हो जाता है।

वातज पाण्डु—में नेत्र, गात्र एवं मूत्र में रूखापन, कलाई तथा ललाई, कम्प, सूई बेधने की-सी पीड़ा और अफरा, शूल एवं भ्रम आदि होते हैं।

पित्तज पाण्डु—में मूत्र, नेत्र तथा त्वचा में पीलापन, दाह, प्यास, ज्वर तथा मल का पतला उतरना आदि लक्षण होते हैं।

कफज पाण्डु—में मुँह से कफ निकलना, सूजन, झपैनो, शरीर का भारीपन तथा नेत्र एवं गात्रादि का सफेद रंगयुक्त होना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

सन्निपातज पाण्डु—इसमें उक्त तीनों दोषों के चिह्न देखने में आते हैं।

मृत्तिकाजन्य पाण्डु—यह रोग मिट्टी खाने से होता है। मिट्टी तीन प्रकार की होती है **कषैली मिट्टी** जो वातज होती है, खरा मिट्टी जो पित्तज होती है और **मीठी मिट्टी जो कफज होती है।** मिट्टी खाने से रसादि सप्त धातुओं में रूखापन होकर भोजन किया हुआ पदार्थ भी रूखा हो जाता है। इस प्रकार वह मिट्टी पेट में पहुँच कर बिना पके रस को रसवाहिनी नसों में ले जाकर राह बंद कर देती है।

ऐसा होने से इन्द्रियों को शक्ति कमजोर हो जाती है जिससे मनुष्य की शक्ति का नाश हो जाता है, फलतः कान्ति और तेज में न्यूनता आकर पाण्डु रोग हो जाता है।

पाण्डु रोग पुराना होने पर असाध्य हो जाता है। इस रोग की चिकित्सा बहुत शीघ्र होनी चाहिये। कुछ दिनों तक रोग ठहर जाने पर अरुचि, प्यास, वमन, ज्वर, सिर दर्द, अग्निमांद्य, कण्ठ में सूजन, कमजोरी, बेहोशी, हृदय में पीड़ा तथा हृदय में धड़कन आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। इस रोग में शोथ हो जाने के कारण शरीर के बेकार जलीय अंश का पूर्ण रूपेण पेशाब और पसीना द्वारा बाहर नहीं निकलना हा है।

पाण्डु रोग होने पर पित्त-कारक पदार्थों के विशेष सेवन से कामला रोग हो जाता है—जो कोष्ठाश्रय और शाखाश्रय के नामों से विख्यात है। कामला रोग

पुराना होने पर जठराग्नि को धर दबाता है जिसके फलस्वरूप पेट घड़ा सदृश्य हो जाता है। ऐसा होने पर कुम्भ कामला कहते हैं।

चिकित्सा—पाण्डु और कामला के रोगी के साध्यासाध्यता का विचार करने के पश्चात् इस रोग में ऐसी दवा का प्रयोग करना चाहिये जिसके द्वारा यकृत की क्रिया ठीक हो जाय। रोगी के बलाबल के मुताबिक दस्तावर दवा देकर पेट साफ कर लेना नितान्त आवश्यक है। साधारण पाण्डु तो केवल जुलाब देने से ही अच्छा भी हो जाता है। कामला रोग में पहले घृत पिलाकर तब जुलाब देना श्रेयस्कर है।

त्रिफला के काढ़े में घी और चीनी मिलाकर सेवन कराने से वातज पाण्डु, त्रिफला और नीम के नर्म पत्तों के चूर्ण से पित्तज पाण्डु तथा त्रिफला और त्रिकुला के साथ मधु मिलाकर सेवन करने से कफज पाण्डु रोग का नाश हो जाता है।

कुटकी के चूर्ण को तीन माशा की मात्रा से सबेरे, दोपहर और शाम को चीनी के साथ-साथ सेवन करने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। आँख में विशेष पीलापन होने पर गुमा (द्रोण पुष्पी) का रस रामबाण जैसा काम करता है। मंडूर भस्म को गोमूत्र अथवा त्रिफला के काढ़े के साथ सेवन करने से लाभ होता है।

पाण्डु एवं कामला रोग पर मंडूर भस्म के अलावे पुनर्नवा की बहुत अच्छी क्रिया होती है। पुनर्नवा के सेवन से मूत्रपिण्ड के अन्दर मूत्रोत्पन्न कारक परमाणुओं की शक्ति बढ़ जाती है। अतः शरीर का बेकार जलीयाअंश लासा पेशाब होने के साथ-साथ बराबर बाहर निकला करता है। पाण्डु रोग में पुनर्नवादि चूर्ण, क्वाथ, अरिष्ट, घृत और पुनर्नवादि मण्डूर से आशातीत लाभ होता है।

पुनर्नवादि मण्डूर—पुनर्नवा, निशोथ, सोंठ, पीपल, मिर्च, वायविडंग, देवदारू, चित्रक, पुहकर मूल, हर्रे, बहेरा, आमला, हल्दी, दारू हल्दी, जमालगोटे की जड़, चव्य, इन्द्र जौ, कुटकी, पीपला-मूल और नागरमोथा को एक-एक तोला तथा मण्डूर

भस्म ४० तोले लेवें। पहले मण्डूर भस्म को चार सेर गोमूत्र के साथ औटा कर गाढ़ा कर लेवें पश्चात् उक्त दवाओं के चूर्ण को मिलाकर तीन रत्ती प्रमाण गोलियां तैयार कर लेवें। अनुपान गोमूत्र। इस दवा से पाण्डु, शोथ, शूल, अफरा तथा उदर रोगादि नष्ट हो जाते हैं।

विडङ्गाद्य लौह—बायविडंग, त्रिफला, त्रिकुटा, दारू हल्दी, पीपल और मण्डूर को समभाग लेकर चूर्ण बना लेवें। उक्त चूर्ण को घी और मधु के साथ सेवन करने से पाण्डु एवं कामला रोग से छुटकारा मिलता है।

आमलक्यावलेह—आंवले के ४ सेर रस को पकाने पर जब आधा सेर शेष रह जाय तब उतार कर पीपल २० तोले, मुनक्का, २० तोले, मुलहठी २ तोले, बंशलोचन ४ तोले और सोंठ १ तोला को चूर्ण करके मिलावें (मुनक्का को सिल पर पीस कर मिलाना चाहिये)। इसमें ३ पाव चीनी की चाशनी मिला कर एक पाव मधु भी मिला देना चाहिये। मात्रा—आधा तोला। अनुपान—गोमूत्र अथवा छाछ।

पाण्डु पंचानन रस—लौहभस्म, अभ्रक भस्म और ताम्र भस्म ५-५ तोले। सोंठ, मिर्च, पीपल, आंवला हरड़, बहेरा, दन्ती मूल, चव्य, चित्रक, काला-जीरा, हल्दी, दारू हल्दी, निसोत, मानकंद, इन्द्र जौ, कुटकी, देवदारू, बच और नागर मोथा का चूर्ण लेकर ८ गुने गोमूत्र में पकाकर गाढ़ा कर लेवें। ठंडा होने पर उपरोक्त सभी औषधियों को मिलाकर २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। गर्म जल अथवा गोमूत्र के साथ सुबह शाम। वर्धमान पिप्पली भी इस रोग की प्रधान दवा है।

पथ्य—गाय और बकरी का दूध, मक्खन, मिश्री, छाछ, पुराने गेहूँ और जौ की रोटी, मूंग, मसूर और अरहर की दाल का जूस। परवल की तरकारी देना चाहिये। फल में अनार, अंगूर और सेव इत्यादि देना चाहिये। मांस खानेवालों के लिए जंगली पशुओं के मांस देने के लिए लिखा है।

इस रोग में घूमने फिरने से चित्त प्रसन्न रहता है। कब्ज करनेवाली वस्तुओं तथा मैथुनादि से सख्त परहेज रखना चाहिए।

रक्तपित्त (Haematemesis)

श्री माधवाचार्य जी ने लिखा है कि पांडु रोग के समान रक्त पित्त भी पित्त से ही होता है। इस रोग के पहले निम्नलिखित लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

सदनं शीतकामित्वं कण्ठ धूमायन वमिः।
लौहगंधिश्च निश्वासो भवत्यस्मिन्भविष्यति ॥

अर्थात्:—ग्लानि, शीत की इच्छा, कण्ठ में धूआँ-सा भरा रहना, वमन और तपे लोहे की-सी गन्ध आना तथा जल्दी-जल्दी श्वास लेना आदि लक्षण जिस मनुष्य में मिलते हों उसको रक्तपित्त का पूर्व रूप जानना चाहिए। शोक, धूप में ज्यादे घूमने, विशेष मैथुन और व्यायाम करने, लाल मिर्चा का विशेष सेवन अथवा ज्यादा गरमी पड़ने के कारण पित्त दूषित हो जाता है। उक्त प्रकार दूषित हुआ रक्त मुख, नाक, गुदा, योनि तथा लिंग द्वारा बाहर निकलने का नाम रक्तपित्त है। नाक से रक्तस्राव होने को नकसीर फूटना अथवा विनाश फूटना भी कहते हैं। यह रोग गर्मी के दिनों में बहुत से लोगों को अनायास हीं होते देखा गया है। सान्निपातिक रक्तपित्त में रोग चर्मसीमा पर पहुँचने पर सभी द्वारों के अलावे रोम कूप से भी रक्त आने लगता है जो मृत्यु का ही साक्षात् रूप है। मुँह से रक्त निकलने पर रक्तपित्त और यक्ष्मा आदि के पहचान के लिए निम्न प्रकार की बातों को ख्याल रखना चाहिये। रक्तपित्त का रक्त श्यामलता रंग लिये हुए धुमैला, काला और झाग रहित होता है। यक्ष्मा रोग का रक्त चमकीला लाल तथा झाग एवं कफयुक्त निकलता है। रक्तपित्त में मिचली होती है लेकिन यक्ष्मा रोग में रक्त वमन के पहले छाती में जलन, दर्द अथवा श्वास-कष्ट आदि लक्षण पाये जाते हैं।

अंग्रेजो में रक्त वमन को हिमेटिमेसिस कहते हैं। लिखा है कि यह रक्त कभी-कभी इतना ज्यादा निकलता है कि प्राणान्त तक हो जाता है। अंग्रेजी चिकित्सा के मतानुसार रक्त वमन के निम्नलिखित कारण हैं। यथा—

पाकस्थली के भीतर घाव अथवा पाकस्थली की शिरा, धमनी चाहे कैपिलरी का रक्ताधिक्य। पाकस्थली का नूतन प्रदाह यकृत की क्षय प्राप्ति आदि।

फुस्फुस अथवा हृत्पिण्ड के पुराने रोगों के कारण, टायफायड तथा चेचक आदि रोगों में रक्त दूषित होने के कारण और स्त्रियों के ऋतुस्राव या बवासीर की बीमारी में रक्तस्राव रुक जाने से—

चिकित्सा—ऊर्ध्वगामी अर्थात् ऊपर से रक्त निकलने पर शामक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। तिक्त और कषाय रस, उपवास एवं सोंठ रहित षडंग जल के प्रयोग द्वारा सुन्दर लाभ होता है। ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में दस्तावर दवा देकर पेट साफ कर लेने से विशेष सुविधा होती है। अधोगामी रक्तपित्त अर्थात् निम्न द्वारों से रक्तस्राव होने पर बृंहण औषधि और मधुर रस का प्रयोग हितकर है। अधोगामी रक्तपित्त में विरेचन देना लाभकर है।

श्वेत दूर्वा का रस शहद के साथ पिलाने और सुँघाने से लाभ होता है। निशोथ और स्याम निशोथ के कषाय में इन्हीं का कल्क मिलाकर अवलेह तैयार कर लेने के पश्चात् सुबह और शाम को एक-एक तोले सेवन कराने से लाभ होता हैं। अनुपान—मिश्री आँवले को पीसकर सिर पर छोपने से नाक से रक्त निकलना बन्द हो जाता है। चन्दन, खस, नागरमोथा, मूंग, पीपल, धाक की खील और जौ को रात भर पानी में भिगा देने के पश्चात् दूसरे दिन खरैटी के जल में इनका काढ़ा बनाकर सेवन करने से शीघ्र ही रक्त बन्द हो जाता है। वासक, नागरमोथा और आँवला सम भाग लेकर चूर्ण बना लेवें। मात्रा ६ माशे सुबह तथा शाम को। अनुपान मिश्री का शर्बत अथवा श्वेत दूर्वा के रस के साथ।

कूष्माण्ड खण्ड—बढ़िया कूष्माण्ड (भतुआ) के ऊपर का छिलका उतार कर कलईदार पात्र में पानी डालकर औटाने के पश्चात् रस निकाल कर थोड़ी देर तक धूप में सुखा लेवें। इस प्रकार रस रहित गुच्छे को ४०० तोले को मात्रा में लेकर एक सेर घी में भून लें। पश्चात् पेठे के १६ सेर रस में चार सौ तोले चीनी की चासनी तैयार कर उपरोक्त भुना हुआ कूष्माण्ड डाल देवें। उक्त दवा में ऊपर से निम्न दवा मिला देवें। पीपल, सोंठ और जीरा आठ-आठ तोले और दालचीनी, इलायची, तेजपत्ता, काली मिर्च तथा धनियाँ दो-दो तोले।

उक्त औषधियों का बारीक चूर्ण बनाकर मिला देना चाहिये। मात्रा एक तोला से दो तोले तक। अनुपान बकरी का दूध अथवा जल।

रक्तपित्तान्तक लौह—आँवला और पीपल का चूर्ण एक-एक तोला, लौह भस्म दो तोले को आँवले के रस में घोटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना लेवें। सुबह और शाम को दूर्वा रस अथवा शहद के साथ खिलाना चाहिये।

ऊशीरासव—खस, नेत्रवाला, लाल कमल, गम्भारी का फल, नीलोफर, प्रियँगु, पद्‌माख, लोध, मजीठ, धमासा, जलजमनी, चिरैता, बड़की छाल, गूलर की छाल, कचूर, पित्तपापड़ा, सफेद कमल, कचनार की छाल और मोचरस ५-५ तोले तथा कूटा हुआ मुनक्का १०० तोले और धाय का फूल १सेर लेवें। उक्त दवाओं को एक मटके में डालकर उसमें जल ६४ सेर, खांड सौ तोले और मधु ६। सेर मिलाकर मटके का मुँह बन्द करके एक मास बाद दवा को छानकर रख लेवें। मात्रा एक से दो तोले तक भोजनोपरान्त। कामदुधा रस भी इस रोग में विशेष फायदा करता है।

पथ्य—रक्तस्राव के समय साबूदाना तथा बार्ली आदि हलके पदार्थ का सेवन हितकर है। गौ का ताजा दूध तथा छाछ उत्तम पथ्य है। रक्त वमन के समय पेट और सिर पर जल-पट्टी अथवा रीठे का फेन लगाने से लाभ होता है। मैथुन, व्यायाम एवं धूप में जाने से सख्त परहेज रखना चाहिये—

खाँसी (Cough)

खाँसी दो प्रकार की होती है, सूखी और तर। सूखी खाँसी में खाँसने पर कफ नहीं निकलता अगर निकलता भी है तो थोड़ा-सा पानी की तरह। तर खाँसी में पतला अथवा गाढ़ा बलगम निकलता है। श्री माधवाचार्य जी ने इस रोग के पूर्व रूप के बारे में लिखा है।

पूर्व रूपं भवेत्तेषां शूक पूर्ण गलास्यता।
कंठे कंडश्च भोगानानवरोधाश्च जायते॥

अर्थात् गला और मुँह काँटों से भरा जैसा जान पड़े और कंठ में खुजली तथा भोजन से अरुचि होने पर खाँसी का होना समझा जाता है ।

मुँह और नाक में धुएँ का प्रवेश कुपथ्य एवं मल, मूत्र तथा छींक आदि के वेगों को रोकने से खाँसी हो जाती है । गलग्रंथि बढ़ जाने से भी खाँसी हो जाती है ।

यह रोग वातज, पित्तज, कफज और क्षतज इस प्रकार चार तरह का होता है । एलोपैथिक चिकित्सा में भी इसके कई एक आकार प्रकार हैं, जैसेः—कुकुर खांसी (Whooping cough), काली खाँसी (Croup) और ट्रू क्रूप आदि ।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा करने के पहले कारण जान लेना बहुत जरूरी है । अगर गल-ग्रन्थि (टानसिल) की खराबी से खांसी रहेगी तो खिलानेवाली दवा से उतना लाभ नहीं होता जितना उस पर दवा लगाने से ।

पिपली, हर्रे की छाल, पुष्करमूल, सोंठ, कपूर और नागरमोथा का चूर्ण बनाकर उक्त दवाओं के बराबर पुराना गुड़ मिला, तीन रत्ती की गोलियाँ तैयार कर लेवें । दो से चार गोली दवा नित्य सेवन कराना चाहिये ।

लवङ्गादि वटी—लौंग, मिर्च और बहेरा की छाल एक-एक तोला और सफेद पपरिया कत्था तीन तोले को बबुल की छाल के काढ़े में घोट कर चना प्रमाण गोली तैयार कर लेवें । चूसने से लाभ होता है । इस रोग में लवङ्गादि चूर्ण भी अच्छी दवा है ।

कास कर्तरी गुटिका—बंग भस्म १ तोला, पीपल दो तोला, हरड़ का बक्काल ३ तोला, यवाक्षार चार तोला, बास ५ तोला, भारंगी ६ तोला और कत्था २१ तोले को बारीक चूर्ण बनाकर बबूल के क्वाथ की सात भावना देकर चना प्रमाण गोली बना लेवें । तीन से चार गोलियाँ प्रतिदिन चुसवाना अथवा गर्म जल से खिलाने से कफ निकलकर खांसी शीघ्र ही छूट जाती है ।

आवाज बैठने अर्थात्—स्वर-भंग होने पर ब्राह्मी, बच और कुलंजन सम भाग लेकर चूर्ण अथवा बबूल के रस में घोंट कर चना प्रमाण गोली बनाकर सेवन कराना चाहिये ।

व्योषादि वटी, सोंठ, मिर्च, पीपल, अमलवेंत, चव्य, तासील पत्र, चित्रक मूल, जोरा और इमली का गूदा १-१ तोला, दाल चीनी, तेज पात, छोटी इलायची का चूर्ण ९-९ माशे लेवें। उक्त सभी औषधियों का बारीक चूर्ण तैयार कर २० तोले गुड़ मिलाकर १-१ माशा की गोलियाँ तैयार कर लेवें। यह सर्दी, खांसी एवं पीतस आदि की प्रसिद्ध दवा है। ३ अथवा ४ गोली रोज सुसुम जल के साथ दें।

सितोपलादि चूर्ण—दाल चीनी १ तोला, छोटी इलायची २ तोला, पीपल ४ तोला, बंसलोचन ८ तोला और मिश्री १६ तोले को बारीक चूर्ण बनाकर रख लेवें। अनुपान मधु और घी। सूखी खाँसी के लिये प्रसिद्ध है।

सर्वाङ्ग सुन्दर रस—शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक १-१ तोला लेकर कज्जली बना लेवें। जाफर, जावित्री, लौंग, नीमपत्र, निर्गुण्डी पत्र और छोटी इलायची के दाने १-१ तोला लेकर बारीक चूर्ण बनाकर ५-६ घन्टों तक खरल करके गोली तैयार करने के पश्चात् उसको मोतीसीप में रखकर कपड़मिट्टी करने के पश्चात् लघु पुट में रख दें। स्वांग शीतल होने पर सम्पुट को निकाल, मिट्टी हटाकर दवा को खरल में महीन पीस लेवें। मात्रा एक से दो रत्ती तक मधु के साथ।

वासावलेह—अरुस की जड़ की छाल १ सेर को ८ सेर जल में डालकर औटाने पर जब २ सेर काढ़ा बच रहे ½ सेर चीनी डाल कर चासनी तैयार कर लेवें। गाढ़ा हो जाने पर आग से उतार कर उसमें पीपल का चूर्ण और ताजा घी आध-आध पाव और शहद आध सेर मिला देवें। मात्रा आठ आने भर या १) रुपया भर।

कुकुरखांसी पर मिक्श्चर—एसिड कार्बोलिक ३० बूंद, अलकोहल ३ बूंद, रेक्टिफायडस्प्रीट में बना टिंचर २० बूंद, टिंचर बेलाडोना ६० बूंद और एक्वा मेंथा पिपररेटा २ औंस। सभी औषधियों को एक में मिला देने पर ४२ मात्रा दवा होती है जिसकी लागत २ आने और मूल्य १) १२ पैसा लिखा है।

कफ मिक्श्चर—"यह अमेरिकन दवा है।" लागत ३ आने और मूल्य

२) रुपया है :—ग्लिसरीन १ औंस, लेमन जूस ३ ड्राम और काडलिवर आयल १ औंस लेकर सभी औषधियों को मिलाकर लेवें। मात्रा १ ड्राम—

पेप्स—यह भी अमेरिकन पेटेण्ट दवा है जिसकी लागत ३ आने लेकिन कीमत १)५० पैसा शीशी है। नाम तो विदेशी, पर दवा है वास्तव में देशी।

पिपरमेण्ट दानेदार ½ ग्रेन, मुलहठी और शक्कर ६-६ ग्रेन, काकड़ासिंगी ५ ग्रेन और बंसलोचन का चूर्ण ६॥ ग्रेन को एक दिल करके गोंद जल में घोट-कर मशीन द्वारा लग-भग २४ ग्रेन की टिकिया तैयार की जाती है। इसके चूसने से गले की खराबी और खाँसी में लाभ होता है।

पथ्य—इस रोग में हलका पथ्य लेना चाहिये जिससे कब्जियत न होने पावे। दूध में पानी डालकर औटाना चाहिये। पीपल और मुनक्का देकर औटा हुआ लाभदायक होता है। गर्म पानी के उपयोग से विशेष लाभ होता है। ठंढी चीजों तथा बादी वस्तुओं का सेवन हानिकर है—

हिचकी (Hiccough)

हिचकी रोग—-अन्नजा, यामला, क्षद्रा, गंभीरा और महती इस तरह पांच प्रकार का होता है। केवल हिचकी रोग होने से कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं है लेकिन हैजा वगैरह रोग में हिचकी पैदा होने से बहुत खतरा पैदा हो जाता है। श्रीमाधवाचार्यजी ने इसके पूर्व के विषय में लिखा है–

कंठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता।
हिक्कानाँ पूर्वरुपाणि कुक्षेराक्षेप एवच ॥

अर्थात् कंठ एवं वक्षस्थल में भारीपन, मुख का कषैलापन और कूख में अफरा हो तथा गुड़गुड़ाहट की आवाज आवे तो हिचकी रोग का होनेवाला समझे ?

तीक्ष्ण, गर्म और उत्तेजक पदार्थों का सेवन तथा कृमि और अम्लपित्तादि के कारण से हिचकी होती है। खाली पेट रहने पर भी हिचकी आने लगती है।

चिकित्सा—हल्दी और उर्द का चूर्ण समभाग चिलम में रखकर हुक्का

पिलाने से सभी प्रकार की हिचकी नष्ट हो जाती है। सन की छाल का चूर्ण भी उक्त प्रकार पिलाने से लाभ होता है।

प्राणायाम तथा एक-ब-एक चिन्ता और भय पैदा करनेवाली किसी बात को कहने से हिचकी बन्द हो जाती हैं। खाली पेट के कारण हिचकी हो तो भोजन कराना चाहिये।

मयूर चन्द्रिका भस्म दो रत्ती और पीपल का चूर्ण एक रत्ती लेकर शहद के साथ चटाने से हिचकी बंद हो जाती है।

एलादि चूर्ण—दालचीनी, नागकेसर, काली मिर्च, पीपली और सोंठ को उत्तरोत्तर वृद्धि क्रम, (अर्थात् पहली दवा १ तोला, दूसरी २ तोला और तीसरी ३ तोले इस प्रकार) लेकर सभी औषधियों के बराबर मिश्री मिला, घृत में सान कर दो टंक प्रमाण सेवन करावें।

पथ्य—हिचकी में गर्म दूध देना चाहिये।

दमा (Asthma)

दमा अर्थात् श्वास रोग महाश्वास ऊर्ध्व श्वास, छिन्न श्वास, तमक श्वास और क्षुद्र श्वास इस तरह पाँच प्रकार का होता है। इस रोग के पूर्व रूप पर माधवाचार्य जी ने लिखा है :—

प्राग्रूपंतस्य हृत्पीड़ा शूलमाध्मानमेवच।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शंखनिस्तोद एवच॥

अर्थात् हृदय में पीड़ा, शूल, अफरा पेट तना रहे, मुख का स्वाद रहित होना, कनपटी में फटने जैसा दर्द होने पर दमा रोग का होना जानना चाहिये। महर्षि चरक ने लिखा है कि पेट फूलना, पार्श्वशूल, हृदयपीड़ा, प्राणवायु का उलटा फिरना यह श्वास का पूर्व रूप है। श्रीभावमिश्रजी ने भी ऐसा ही लिखा है:—

दमा रोग बहुत दिनों तक रहने वाला रोग है लेकिन हिचकी की तरह अगर किसी अन्य रोग में श्वास में विकृति हो जाती है तब जीवन खतरे में पड़ जाता है।

चिकित्सा—इस रोग में सर्वप्रथम पसीना निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। पसीना निकल जाने के कारण कफ पिघल कर ढीला हो जाता है। तिल के तेल में सेंधा नमक मिलाकर गर्म मालिश के पश्चात् बालू की पोटली से स्वेद करके गर्म वस्त्र से शरीर ढक देना चाहिये। पित्त, दाह, रक्त, स्वेद, धातुक्षीण वाले और गर्भिणी को स्वेदन क्रिया द्वारा उपचार वर्जित है। इस रोग में वमन कराने का भी विधान लिखा है।

ताम्रभैरव रस—शुद्ध सिंगीया, श्वेत कत्था, सुहागे का लावा, शुद्ध ताम्र भस्म, शुद्ध अफीम, सोंठ, मिर्च और पीपल समभाग लेकर जल के साथ घोंटकर करजनी (गुञ्जा) प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। कब्ज वाले रोगी के लिये इस दवा का प्रयोग हानिकर है।

कासकर्तकी रस—शुद्ध पारा एक भाग, गंधक दो भाग, छोटी पीपल ४ भाग, हर्रे का छिलका ८ भाग, बेहरे का छिलका १६ भाग, अरुस के पत्ते का चूर्ण ३२ भाग। पारा गंधक की कज्जली बनाकर बाद में अन्य औषधियों का चूर्ण मिलाकर बबूल की छाल के काढ़े में २१ बार भावना देकर सुखा लेवें मात्रा आधी रत्ती से १ रत्ती तक की, अनुपान मधु।

भार्गीगुड—भार्गी की जड़ ४०० तोले, दशमूल ४०० तोले और हर्रे १०० नग। उक्त दवाओं का कलईदार पात्र में ४४ सेर जल के साथ औंटाकर ११ सेर शेष रहने पर उतार लेवें। हर्रे और काढ़ा के अलावे अन्य औषधियों को हटाकर पुनः उस काढ़े में हर्रे को ४०० तोले गुड़ के साथ औटाकर गाढ़ा बना लेने पर—सोंठ, मिर्च, पीपल, दालचीनी, तेजपात और इलायची का चूर्ण चार-चार तोले और मधु २४ तोले मिला लेवें। इस दवा में १ हर्रे और आधा तोला से दो तोले तक चटनी को बकरी के दूध के साथ देने से आशातीत फल होता है।

श्वास कुठार रस—शुद्ध पारा और शुद्ध गंधक की कज्जली दो तोले, शुद्ध वच्छनाग और सुहागे की खील १-१ तोला, काली मिर्च ८ तोला और सोंठ, मिर्च तथा पीपल २-२ तोले। उक्त सभी औषधियों को अदरक के रस में घोंट

कर ४ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अथवा ४ घंटों के अन्तर से अदरक के साथ देवें।

श्वास चिन्तामणि रस—शुद्ध पारा ८ माशे, शुद्ध गन्धक १ तोला, लोह भस्म २ तोले, अभ्रक भस्म १ तोला, स्वर्ण माक्षिक भस्म ८ माशे, मोती भस्म ४ माशे और स्वर्ण भस्म ४ माशे, उक्त औषधियों को एकत्र खरल कर कटेरी और अदरक के रस तथा बकरी के दूध और मुलेठी के क्वाथ की ७-७ भावना देकर २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। सबेरे और शाम को बहेरे की मींगी के चूर्ण और मधु के साथ।

च्यवनप्राश—बेल, अरणी, आलू, गंभारी, पाटला, मूंगपर्णी, माषपर्णी, छोटी पीपल, बड़ी पीपल, गज पीपल, गोखरू, बला, शलिपर्णी, पृष्णपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, मुई आँवला, काकड़ा सिंगी, मुनक्का, जीवंती, पुष्करमूल, अगर, गिलोय, बड़ी हर्रे, बराही कंद, बिदारी कंद, कचूर, नागरमोथा, पुनर्नवा, शतावर, छोटी इलायची, नीलोफर, सफेद चंदन, बिदारी कंद, अरुस की जड़, असगंध और काक नासा। उक्त औषधियों को ५-५ तोले और पके हुए आँवले ६२५ नग लेकर एक बड़े मटके में १६ सेर जल के साथ औटावें। ४ सेर काढ़ा शेष रहने पर छानकर काढ़ा और आँवलों को अलग रख लेवें। आँवलों के अन्दर की गुठली निकाल कर चलनी पर गुद्दे को मल देवें ताकि रेशे भी निकल जायँ। फिर उस गुद्दे को तिल तेल डेढ़ पाव और गाय का घी डेढ़ पाव डालकर तब तक भुनता रहे जब तक पानी बिल्कुल जल न जाय। इस प्रकार अच्छी तरह से भुन जाने पर पहले के काढ़े में सवा तीन सेर मिश्री डालकर चासनी बना लेवें तब उसमें भुने हुए गुद्दे के साथ बंसलोचन २० तोला, पीपल १० तोला, दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची और नागकेसर के १।-१। तोले चूर्ण और डेढ़ पाव मधु मिला देवें। मात्रा १ तोला बकरी अथवा गाय के दूध के साथ खिलावें। इस रसायन की आठ दवाएँ (जो अष्ट वर्ग कहलाती हैं) अप्राप्य हैं। अतः उनके प्रतिनिधि वर्ग से काम लिया जाता है। इसी रसायन से च्यवन ऋषि वृद्धत्व से यौवनावस्था प्राप्त कर पाये थे।

कनकासव—शाखा, जड़, पत्ते और फल सहित धतूरे को कूटकर १ सेर लेवें। अगर गीला हो तो २ सेर लेवें पश्चात् वासा की जड़ की छाल आधा सेर, मुलेठी, पीपल, छोटी कटेरी, नाग केसर, सोंठ, भारंगी और तालीस पत्र २–२ तोले तथा धव के फूल २ सेर और मुनक्का २॥ सेर सभी औषधियों को जवकूट कर लेवें।

उक्त औषधियों को एक बड़े मटके में रखकर ऊपर से ३ मन ८ सेर जल, १२½ सेर खाँड़ और ६¼ सेर मधु मिलाकर घोल देवें। मटके का मुख बन्द कर एक मास तक रखने के बाद छानकर बोतलों में भर लेवें। मात्रा एक से दो तोले समभाग जल के साथ भोजनोपरान्त सेवन कराना चाहिए।

धतूरे की पत्तियों का सिगरेट जैसा लपेट कर रोगी को पिलाने से भी दमा रोग में लाभ होता है। इस रोग में सोमलता जिसको अँग्रेजी में Ephedra Vulgaria कहते हैं, बहुत ज्यादा लाभ करता है। इसके सत को Ephedrin कहा जाता है जो एलोपैथिक दवाखाने में मिलता है। सोमलता जड़ी से अन्य भी कई एक रोग अच्छे हो जाते हैं लेकिन इसका मिलना कठिन जान पड़ता है। निघण्टु में इसका गुण विस्तृत रूप से लिखा गया है। सोमरस—नामक सुरा सोमलता से ही तैयार होता था।

एलोपैथिक चिकित्सक इस रोग में स्वामिन की सूचिका तथा फेलसल नामक पुड़िया की दवा देते हैं। फेलसल नामक दवा से दमा का दौरा अतिशीघ्र शांत हो जाता है। यह एक जहरीली दवा है। अतः इसका विशेष सेवन हानिकर है। अंग्रेजी दवाखाना में प्राप्त सिगरेट के सेवन से भी दम फूलना बन्द हो जाता है लेकिन रोग शान्ति के लिए पथ्य और परहेज पर ध्यान देना ही अत्युत्तम उपचार है।

पथ्य—इस रोग में भी पेट साफ रखना चाहिए। रोगी को उचित है कि बादी और कफकारक द्रव्यों से बचता रहे। अगर दूध लेना हो तो उसको पीपल के चूर्ण के साथ औटाकर काम में लाना चाहिए। गीली अथवा संकीर्ण जगह में रहने से बहुत ही कष्ट होता है। इस रोग के रोगी को बराबर खुली हवा में रहना चाहिए।

राजयक्ष्मा (Phthisis)

यह रोग सभी रोगों का राजा है। एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार समस्त संसार में प्रतिवर्ष लगभग ग्यारह लाख आदमी इस रोग द्वारा यमलोक की यात्रा करते हैं। १९५० में एक मोटे हिसाब द्वारा भारत सरकार की ओर से निश्चय हुआ था कि भारत में लगभग २५ लाख आदमी यक्ष्मा से पीड़ित हैं। इस रोग से भारत में मरने वालों की संख्या लगभग ५ लाख बतलायी गयी थी जो विश्व की मृत्यु-संख्या की आधी के लगभग है। उक्त मृत्यु-संख्या से ही इस देश में यक्ष्मा की व्यापकता का अन्दाज सहज में ही लगाया जा सकता है।

वेद एवं आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि सर्वप्रथम यह रोग चन्द्रमा को हुआ था। यह एक बहुत ही रोचक कथा के रूप में कहा गया है। कथा का संक्षिप्त सारांश निम्न प्रकार है—

दक्ष प्रजापति की २८ कन्याओं का विवाह चन्द्रमा जी के साथ हुआ था। उन कन्याओं में एक कन्या का नाम रोहिणी था। चन्द्रमा जी रोहिणी के साथ विशेष प्रेम करने लगे। अतः रोहिणी के साथ विशेष प्रेम एवं विषयासक्त होने के कारण अन्य २७ रानियों से विमुख हो गये। ऐसी हालत में सभी कन्याओं ने अपने पिता के पास जाकर इस दुखगाथा से उन्हें अवगत कराया। एक तो विशेष रूप से विषयासक्त होने के कारण चन्द्रमा जी क्षीण होते जा रहे थे दूसरे श्री दक्ष जी के क्रोध से निस्वास निकल कर चन्द्रमा जी के अन्दर प्रवेश कर गया। ऐसा होने पर चन्द्रमा जो निस्तेज हो गये जिससे उनको क्षय रोग हो गया। पश्चात् जब उनकी बुद्धि ठिकाने आयी और चन्द्रमा जी ने उन २७ भार्याओं से क्षमा माँगी तब दक्ष प्रसन्त होकर अश्विनी कुमार द्वारा चिकित्सा कराकर उनको रोग मुक्त करा दिया।

उक्त कथा को अलंकृत अर्थात् काल्पनिक रूप में लेते हुए निम्न प्रकार निष्कर्ष निकाला गया है—

"चन्द्रमा मनसोजातः" अर्थात् चन्द्रमा मनोवाचक यानि "मन" को

चन्द्रमा कहते हैं। महर्षि चरक ने चरकसंहिता में २८ नाड़ियों का वर्णन किया है जो दक्ष की कन्या स्वरूप हैं। उनमें रोहिणी नामक नाड़ी से मन का सम्बन्ध होने से शारीरिक और मानसिक व्यवाय बढ़ जाते हैं। दक्ष का क्रोध निस्वास ज्वर स्वरूप है। अतः केवल रोहिणी नाड़ी से मन के सम्बन्ध को विषयासक्त और सभी नाड़ियों के साथ समान सम्बन्ध को निराश अर्थात् रोगमुक्त समझना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्र में यक्ष्मा होने का कारण निम्नलिखित चार प्रकार का बतलाया गया है--

१--मल, मूत्र एवं अधोवायु के रोगों को रोकना।

२--शुक्रक्षय।

३—दुःसाहस—अर्थात् शक्ति से अधिक कार्य करना या बोझ ढोना और

४—न्यूनाधिक और असामयिक भोजन। अत्यधिक चिन्ता और चोट से भी यह रोग हो जाता है।

यह छूत रोग है। इस रोग का सर्व प्रधान कारण "टियुबरकल बेसिलाई" नामक एक प्रकार का कीड़ा (Germ) है जो दुर्बल फुफ्फुस में पाया जाता है। परीक्षा द्वारा उक्त कीड़े रोगी के थूक खखार में पाये जाते हैं। उन कीड़ों के विषय में लिखा गया है कि वे बहुत मुश्किल से मरते हैं। उक्त कीड़े रोगी के थूक द्वारा बाहर निकल कर स्वस्थ मनुष्यों के श्वास एवं आहारादि के साथ भीतर घुस कर यक्ष्मा रोग पैदा करते हैं। टाइफायड, निमोनियाँ एवं प्लेगादि भयानक रोगों से आक्रान्त मनुष्य अत्यधिक कमजोर हो जाते हैं, उन लोगों पर भी इस रोग का अनायास ही आक्रमण हो जाता है। घनी बस्ती, गीली जगह तथा यक्ष्मा के रोगियों के साथ रहने से भी यह रोग हो जाता है। मिलों का धुआँ भी इस रोग का एक खास कारण है।

इस रोग को शोष, क्षय, रोगों का राजा और यक्ष्मा भी कहते हैं। निदान भेद से शोष रोग ६ प्रकार का बतलाया गया है, यथा—

रोग	कारण
१—व्यवाय शोष	अत्यधिक मैथुन से

२. शोक शोष	,,	शोक और क्रोध से
३. वार्धक्य शोष		असामयिक बुढ़ापा से
४. व्यायाम शोष		अधिक व्यायाम एवं कुश्ती से
५. अध्व शोष		अत्यधिक रास्ता चलने से
६. व्रण शोष		व्रण होने से और–
७. उरःक्षत शोष		छाती में घाव होने से

विशेष दृष्टव्य––कुछ लोग उरःक्षत को अलग भी बतलाते हैं। यक्ष्मा पशु को भी होता है। यक्ष्मा रोग पीड़ित जानवरों के दुग्ध पान से भी यह रोग हो जाता है।

डाक्टरी मतानुसार भी इस रोग के कई एक श्रेणी विभाग हैं, जैसे–

१. लेरेञ्जियल थाइसिस	स्वर यांत्रिक ट्युबर्कल
२. हेमोरेजिक ,,	रक्तस्रावी यक्ष्मा
३. हिमाप्टिसिस ,,	रक्त वामिक यक्ष्मा
४. निमोनिक ,,	फुफ्फुस प्रदाह जनित यक्ष्मा
५. न्यूमोथोरेक्स ,,	श्वास प्रवासिक यक्ष्मा और
६. फाइब्राएड ,,	जीर्ण रोगिक यक्ष्मा आदि

आयुर्वेद मतानुसार यक्ष्मा रोग शरीर के प्रत्येक अंग में हो सकता है लेकिन फुस्फुस, कंठ, हड्डी, हड्डियों की सन्धि, आँत और कंठमाला पर विशेष रूप से पाया जाता है।

आयुर्वेदमतानुसार यक्ष्मा का पूर्व रूप–

मंदाग्नि, तालू सूखना, श्वास विकृति, सर्दी, खांसी, नाक से पानी गिरना, अत्यधिक छींक, नींद एवं मैथुनेच्छा, उदासीनता, हाथ पैर एवं कधे के नीचे पीठ में जलन आदि। यह रोग होने पर खांसी, ज्वर, स्वरभेद, अग्निमांद्य, अरुचि, रक्तवमन, मलभेद और पसलियों में संकोचन आदि उपसर्ग दृष्टिगोचर होते हैं। यह रोग त्रिदोषिक अर्थात् सन्निपात-जनित रोग है। यक्ष्मा को मृत्यु तुल्य माना गया है लेकिन जिस रोगी का माँस और बल पूर्ण रूप में क्षीण नहीं होता वह बच भी जाता है।

निज और आगन्तुक भेद से यक्ष्मा रोग दो प्रकार का माना गया है। निज यक्ष्मा में प्रारंभ से ही रसादि सप्त धातुओं का क्षय होने के कारण यक्ष्मा रोग हो जाता है। आगन्तुक यक्ष्मा में मंथर ज्वरादि कारणों से क्षय कीटाणुओं के संसर्ग से यक्ष्मा होकर २, ४ अथवा ६ सप्ताह के अन्दर ही रोगी मर जाता है। अनुलोम और प्रतिलोम भेद से भी यह रोग दो प्रकार का माना गया है।

"राज यक्ष्मा" और	"क्षत क्षीण" में भेद
१. इसमें वक्षस्थल में घाव नहीं होता।	१. वक्षस्थल में घाव अवश्य होता है।
२. वक्षस्थल में शूल नहीं होता।	२. वक्षस्थल में शूल होता है।
३. साधारण खाँसी होती है।	३. बहुत ज्यादा खाँसी होती है।

अनुलोमक्षय—यक्ष्मा	प्रतिलोम-क्षययक्ष्मा
१—इसमें रसादि धातुओं का क्रम पूर्वक क्षय होकर अन्त में वीर्य का क्षय होता है।	१—इसमें वीर्य का क्षय होकर प्रतिलोम "उल्टा" क्रम से अन्त में रस का क्षय होता है।

हकीम लोगों के मत से भी सिल हकीकी और सिल गैर हकीकी भेद से केवल कच्चा कफ आता है। वे लोग यक्ष्मा को तपेदिक कहते हैं।

चिकित्सा—श्री चरकाचार्य जी का कथन है कि यह रोग त्रिदोषज है। फिर भी उनका उपदेश है कि वातादि दोषों के बलाबल के मुताबिक चिकित्सा व्यवस्था होनी चाहिये।

कंधा और पसली में दर्द, शूल तथा स्वर भेद होने पर वात प्रधान, ज्वर, दाह, प्यास, जलन एवं अतिसार तथा रक्त वमन आदि हो तो पित्त प्रधान और सुस्ती, शरीर का भारीपन, अन्न से विशेष अरुचि, मुँह का स्वाद मीठा और कण्ठ की जकड़न आदि लक्षण हो तो कफ प्रधान यक्ष्मा समझना चाहिये।

आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान स्वर्गीय श्री त्रयम्बक शास्त्री जी (काशी) का कहना है कि इस रोग की सर्वश्रेष्ठ दवा हीरक भस्म है। प्रथमावस्था में मृगश्रृंग भस्म, प्रवाल भस्म, कपर्दक भस्म, शंख, शौक्तिक एवं मौक्तिक को भी विशेष उपयोगी बतलाते थे। लेकिन यक्ष्मा की विकसित अवस्था में हीरक भस्म को ही सर्व प्रधान बतलाते थे।

रसादि धातुओं की क्षय क्रय क्रम से चिकित्सा :—

रस क्षय में अग्निमांद्य, अनपच, चिड़चिड़ापन, सिर दर्द और शरीर कम्पन आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इस हालत में भै०र० का जीवन्त्यादिघृत बकरी के दूध के साथ देना चाहिए। अदरक के स्वरस में गिलोय का सत्त भी फायदा करता है। पुराने गेहूँ की रोटी और पुराने शालि धान का चावल हितकारी है।

रक्त क्षय में मंदाग्नि, पाण्डु, मुँह में पानी भर आना, उदासीनता और शरीर का सूखते जाना आदि लक्षण पैदा होते हैं। ऐसी हालत में अजाघृत अथवा शिलाजीत लौह देना चाहिए। अथवा घी, दूध, मिश्री, काली मिर्च, शहद और पीपल इनका पन्ना बनाकर पिलाने से रक्त की वृद्धि होती है। अनार और मोसम्बी के फल का प्रयोग भी विशेष लाभकर है।

मांसक्षय में—रोगी अत्यन्त दुबला होता है। मांस वृद्धि के लिए वृहच्छागलाद्य घृत अथवा मांस रस देना चाहिए। मेद क्षय में अग्निमांद्य, अनपच, बदन टूटते रहना, कमजोरी, श्वास तथा खांसी की अधिकता और थकावट आदि लक्षण देखने में आते हैं। इस हालत में च्यवनप्राश, शतावरी घृत और अश्व गंधाद्यघृत बकरी के दूध के साथ देना चाहिए। गो दूध, बकरी का दूध, मक्खन, मिश्री तथा सितोपलादि चूर्ण (मोती भस्म युक्त) से भी लाभ होता है। इस अवस्था में "**कॉड लिवर आयल**" भी बहुत ज्यादा काम करता है।

अस्थिक्षय में –शरीर काँपना, वमन, कृशता, उदासीनता, सूजन एवं चमड़े का रूखापन आदि उपसर्ग देखने में आते हैं। शृंग, प्रवाली तथा मोती भस्म और बंसलोचन को मधु के साथ देकर बकरी का दूध पिलाना हितकर है। जंगली पशुओं का मांस और छागलाद्य घृत से भी लाभ होता है।

मज्जा क्षय—में अग्निमांद्य, कृशता एवं चित्तभ्रम आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें बादाम, अखरोट, बादाम पाक, नारियल और बेदाना तथा मोसम्बी वगैरह का प्रयोग करना चाहिए—

शुक्र क्षय—में अधीरता, भ्रम, हाथ, पैर, गांठ और चेहरे की सूजन, उदासीनता, दाह, जलन, शरीर कम्प, क्रोध और चिड़चिड़ापन आदि लक्षण पैदा

होते हैं। इस पर शतावरी पाक, शतावरी घृत, त्रिबंगभस्म और गाय तथा बकरी का दूध देना चाहिए। इस रोग में बकरी का दूध, घृत सेवन करना तथा जिस स्थान पर बकरी रहती हो वहाँ रहना लाभकर है।

बसंत कुसुमाकर रस—प्रवाल पिष्टी, रस सिन्दूर, मोती पिष्टी, अभ्रक भस्म, प्रत्येक ४-४ तोले; सोना और चांदी भस्म २-२ तोले; लौह, नाग एवं बंग भस्म ३ तोले; सभी औषधियों को एक पत्थर के खरल में रखकर एक दिल कर लेवें। पश्चात् अरुस की पत्ता का रस, हल्दी का रस, ईख का रस, कमल फूलों का रस, शरावरी का रस, केले के कंद का रस और चन्दन भिगोया हुआ जल इन प्रत्येक की ७-७ भावना दें। अन्तिम भावना के समय उसमें २ तोले कस्तूरी मिला, तीन घण्टों तक मर्दन कर, दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ बनाकर छाया में सुखा लेवें। मात्रा दो गोलियाँ रोज प्रातः एवं सायं; अनुपान गो दूध अथवा बकरी के दूध के साथ। यक्ष्मा रोग की यह बहुत ही उत्तम औषधि है।

स्वर्ण बसंत मालती—स्वर्ण भस्म १ तोला, मोती पिष्टी २ तोला, शुद्ध हिंगुल ३ तोला, मिर्च का चूर्ण ४ तोला और यशद भस्म ८ तोले लेवें। सभी औषधियों को एक दिल करके गाय के सवा तोले मक्खन के साथ एक दिन मर्दन करें पश्चात् ९६ नीबू का रस देकर मर्दन करते-करते मक्खन की चिकनाई को दूर कर देवें। नीबू का रस (एक-एक नीबू का रस) देकर मलते जाना चाहिए। अच्छी तरह से चिकनाई दूर हो जाने पर एक १ माशे की टिकिया तैयार कर लेवें। इस दवा को दोनों शाम खिलाना चाहिए। अनुपान पीपल का चूर्ण और मधु। यह अनुपान भेद से कई एक रोगों में काम आने वाली दवा है। पूर्ण विवरण के लिए **आयुर्वेद सार संग्रह** देखें।

हेमगर्भ पोटलीरस—स्वर्णभस्म १ तोला, ताम्र भस्म १ तोला, गंधक १ तोला और रग सिंदूर २ तोला। उक्त सभी द्रव्यों को दोपहर तक चित्रक के रस में खरल करें, पश्चात् कौड़ी में भर कर सुहागा से कौड़ी का मुख बन्द कर हांड़ी में रख, गजपुट में फूंक देवें। स्वांग शीतल होने पर बोतल में रख लेवें। मात्रा चौथाई रत्ती से १ रत्ती तक। अनुपान मक्खन अथवा मलाई।

यक्षमारि लौह—स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध शिलाजीत, लौह भस्म और

बायबिडंग तथा हर्रे का चूर्ण; घी और शहद लेवें। उक्त सभी औषधियों को एकत्र खरल कर तीन रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। दोनों शाम पीपली चूर्ण और मधु के साथ दें।

द्राक्षारिष्ट—मुनक्का सवा ६ सेर, मिश्री अथवा देशी चीनी सवा ६ सेर, धाय का फूल १ सेर, शीतल मिर्च, लौंग, जायफल, मिर्च, दालचीनी, इलायची, नागकेसर, तेजपात, पीपल, चित्रक, चव्य, पिपलामूल और रेणुका प्रत्येक ५ तोले लेवें। पहले मुनक्का को ६४ सेर जल में औटावें पश्चात् १६ सेर शेष रहने पर मुनक्का को अच्छी तरह से मसल कर छान लेवें। उक्त काढ़े में सभी दवाओं का चूर्ण डाल कर घड़े का मुँह कपड़ मिट्टी से बन्द कर देवें। एक मास बाद छान कर बोतलों में भर लेवें। मात्रा १ से दो तोले तक समभाग जल के साथ।

चन्दनवाला लाक्षादि तैल—सफेद चन्दन, खरेंटी की जड़, लाख और खस प्रत्येक १ सेर लेकर सोलह सेर जल में औटावें पश्चात् चतुर्थांश शेष रहने पर छान कर काढ़ा रख लेवें। फिर निम्नलिखित औषधियों का कल्क, ४ सेर गाय का दूध और उक्त काढ़े के साथ दो सेर तिल तेल सिद्ध कर लेवें। कल्क की औषधियाँ—

सफेद चन्दन, खस, मुलैठी, कुटकी, देवदार, सोया, हल्दी, कूठ, मजीठ, नेत्रवाला, असगंध, खरैंटी, दारू हल्दी, मूर्वा, मोथा, मूली, इलायची, दालचीनी, नागकेसर, रासन, लाख, अजमोद, चम्पक, शिलाजीत, साखा, बिड लवण और सेंधा नमक।

हकीम लोग केकड़ा भस्म को भी विशेष लाभदायक बतलाते हैं। केकड़ा एक प्रकार का जीव है जो गड़हों के समीप बिल में रहता है। इसके भस्म में खटिक (Calcium) पाया जाता है।

प्रायः अँग्रेजी चिकित्सा के मुताबिक इस रोग में पहली अवस्था में प्रायः कैलशियम रेडक्शन की सूचिका तथा कॉडलिवर आयल का प्रयोग होता है। सूचिका एवं औषधियाँ तो अनेकानेक पड़ी हैं लेकिन आजकल विशेष रूप से **स्ट्रेप्टोमाइसीन** की सूचिका का विशेष व्यवहार हो रहा है। पहले एलोपैथिक

चिकित्सक स्वर्ण का व्यवहार नहीं करते थे। उन लोगों के मतानुसार स्वर्ण का प्रयोग उचित नहीं था। लेकिन अब तो स्वर्ण एवं पारद आदि सभी द्रव्यों का अच्छी तरह से प्रयोग होने लगा है। यक्ष्मा रोग के लिए स्वर्ण एक परम उपयोगी वस्तु है। किसी भी चिकित्सा विज्ञान के योगों के बाद एक दूसरा योग आकर प्रथम को न्यून साबित कर देता है। लेकिन आयुर्वेद शास्त्र का **मकरध्वज** इस उदाहरण के लिए अपवाद है।

मकरध्वज—सोने का वरक ४ तोला, शुद्ध पारा ३२ तोला और शुद्ध गंधक ६४ तोला लेवें। पहले पारद को सोने के वरक में मिला लेवें पश्चात् गंधक को भी मिलाकर बढ़िया खरल में अच्छी तरह से घोट लेवें जिससे अच्छी कज्जली तैयार हो जाय। फिर घीकुआर के रस में कज्जली को भिगोकर एक दिन तक घोंटे पश्चात् सूख जाने पर सात कपरौटी की हुई आतशी शीशी में भर देवें। **मुल्तानी मिट्टी को जल में भिगोकर पतले नये कपड़े पर लेप करके इस कपड़े को युक्ति-पूर्वक शीशी पर चपका देवें (इसी को कपरौटी कहते हैं)** आसमानी रंग की बोतल जिसमें तेजाब भरी जाती है चतुर्थांश मकरध्वज बनाने के लिए पर्याप्त है। उक्त कपरौटी की हुई शीशी को बालुका यंत्र में रखकर सिद्ध कर लेवें। बालुका यंत्र में तीन प्रकार की आँच देने का विधान है आठ घण्टा मन्द, आठ घंटा मधुर फिर आठ घण्टा तीव्र आँच देना चाहिये। चार घण्टों के पश्चात् ठंडा होने पर शीशी तोड़कर मकरध्वज निकाल देना चाहिये। इस दवा को तैयार करने के पहले साक्षात् ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है।

अगर मकरध्वज बनाने में औषधि प्रस्तुतकर्त्ता किमियागिरी नहीं करें और विधि विधान के साथ बनावें तो वास्तव में इस दवा के मुकाबले कोई औषधि नहीं टिक सकती। इसका प्रयोग निःसंकोच रूप से प्रायः सभी चिकित्सा प्रणाली के चिकित्सक करते हैं।

यक्ष्मा रोग से पीड़ित रोगी को खुली हवा में किसी नदी के किनारे रखना विशेष लाभप्रद है। गूलर के वृक्ष के नीचे भी निवास बनाना हितकर है। बकरी की झुण्ड में रहना, उगते हुए सूर्य की धूप में बैठना, त्यागी एवं वीर

तथा तपेश्वरी आदि के जीवन चरित्र के श्रवण से भी लाभ होता है। हवन, पूजन एवं चन्दन तथा माला वगैरह से भी मन पर अच्छा असर होता है। लेकिन यक्ष्मा रोग में कामोत्तेजना विशेष रूप से देखने में आती है। अतः सात्विक कथा वगैरह का ही श्रवण करना चाहिये।

पथ्यापथ्य—जङ्गली पशुओं का मांस अथवा मांस रस, बकरी का दूध, गाय का दूध और मक्खन, मिश्री, मोसम्बी, अनार, आम, सेव, किसमिस, साबूदाना, बार्ली, अखरोट, बार्ली, पुराने गेहूँ की रोटी, पुराने चावल का भात और मंदाग्नि नाशक, वीर्य-वर्धक तथा शक्ति-वर्धक वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिये।

रात्रि जागरण, क्रोध, व्यायाम, मैथुन, विशेष घूमना, कामोत्तेजक वस्तुओं का सेवन तथा तद्विषयक श्रवण एवं मनन बिल्कुल त्याग देना चाहिये।

स्वरभंग, अरुचि और छर्दि रोग

गला बैठ जाने को स्वरभंग कहते हैं। यह रोग ६ प्रकार का है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, स्थूल कायिक और याक्ष्मिक। कड़ी आवाज में बोलने, कंठ में चोट लगने, विष सेवन और वातादि दोष कुपित हो जाने से गला बैठ जाता है। यक्ष्मा रोग के कारण गला बैठना, त्रिदोष जनित स्वरभंग तथा जन्म काल से ही गला बैठ जाना बहुत मुश्किल से आराम होते हैं। साधारण स्वरभंग में बच अथवा कुलंजन को मुख में रखकर चूसने से लाभ होता है। गुलमिर्च चबाने से भी साधारण शिकायत दूर हो जाती है।

अरुचि—शोक, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय एवं दुर्गन्ध और ग्लानि-कारक भोजन करने से अरोचक रोग उत्पन्न हो जाता है। भोजन के पहले अदरक और सेंधा नमक खिलाने से अरुचि में लाभ होता है। अरुचि में नीबू का रस और अदरक भी सेवन कराया जाता है। लवणभास्कर चूर्ण :—

काला नमक और सेंधा नमक तीन-तीन तोले, बिड नमक, पीपलामूल, श्वतजीरा, पत्रज अमलवेंत, धनियाँ, छोटीपीपल, चव्य, नागकेशर और तालीश-

पत्र २-२ तोले, स्याहजीरा, काली मिर्च और सोंठ १-१ तोला, अनारदाना ४ तोले और छोटी इलाइची तथा तज ६-६ माशे और लवण ८ तोले। सभी औषधियों को कूटकर चूर्ण बना लेवें। इस चूर्ण से अजीर्ण तथा उदर विकारादि रोग भी नष्ट हो जाते हैं। छर्दि अर्थात् वमन, यह रोग वात, पित्त, कफ, सन्निपात एवं ग्लानि भेद से पाँच प्रकार का होता है। पतली, चिकनी और ग्लानिकारक वस्तुओं के भोजन से वमन रोग हो जाता है। कृमि, अधिक भोजन तथा स्त्रियों के गर्भाधान के समय भी वमन होता है। घृत में सेंधानमक मिलाकर पिलाने से वातज वमन शान्त होता है। पित्तपापड़ा के क्वाथ में मधु मिलाकर पिलाने से पित्तज वमन अच्छा हो जाता है। अनार का रस मधु के साथ पिलाने से त्रिदोषज वमन शान्त हो जाता है। केशर और इलायची १-१ माशा और हिंगुल दो रत्ती को महीन चूर्ण बना लेवें। उक्त चूर्ण को चटाने से प्रायः सभी प्रकार का वमन रोग शान्त हो जाता है। इन रोगों में हलका पथ्य देना चाहिये। अनार का रस और छाछ सर्वोत्तम पथ्य हैं—

मूर्च्छा

यह रोग वातादि भेद से सात प्रकार का होता है, यथा—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मद्यज और विषज मूर्च्छा का पूर्व रूप—

हृत्पीड़ा जृम्भणंग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि यथास्वं तां विभावयेत्॥

अर्थात्—हृदय में पीड़ा, जंभाई, ग्लानि, अच्छी तरह से चीज को नहीं पहचानना आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

मूर्च्छा रोग का आक्रमण होने का कोई खास समय नहीं रहता है। यह किसी भी समय किसी भी हालत में आक्रमण कर बैठता है।

यह रोग अत्यधिक चिन्ता, अत्यधिक मद्यपान, मासिकस्राव रुकने, भय, शोक, क्षीणता, पराक्रमहीनता, मिथ्या आहार-विहार एवं वेगावरोध तथा चोट आदि के कारण हो जाता है।

मूर्च्छा होने पर यूकलिप्टस आयल या कपूर अथवा नौसादर और चूना सुँघाने से लाभ होता है। अगर गहरी बेहोशी हो तो तीव्र नस्य चाहे गुलमिर्च का चूर्ण नाक में देना चाहिये। होश आने पर मकरध्वज सेवन कराना चाहिये। अश्वगंधारिष्ट के सेवन से भी स्नायविक रोगों में लाभ होता है।

वातज मूर्च्छा—में रोगी आकाश में काला, लाल अथवा नीला रंग देखते हुए अंधकार में डूब जाता है। इसमें स्वेद से ज्यादा लाभ होता है।

पित्तज मूर्च्छा—में लाल, हरा अथवा पीला रंगयुक्त आकाश दिखलाई पड़ता है। इसमें दाह, प्यास तथा शरीर का पीलापन आदि लक्षण देखने में आते हैं। कपूर एवं चन्दन आदि का लेप तथा मणिधारण आदि उपाय से लाभ होता है।

कफज मूर्च्छा--में आकाश मेघाछन्न दिखलायी पड़ता है। सुस्ती, शरीर का भारीपन और मुँह का स्वाद मीठा इत्यादि लक्षण पैदा होते हैं। कफज मूर्च्छा में देर से होश आता है। सिरस का बीज, काली मिर्च, पीपल और सेंधानमक को बकरे के पेशाब में पीस कर सुँघाने से तत्काल लाभ होता है।

रक्तज मूर्च्छा—तामसी पुरुष रुधिर की गन्ध से ही मूर्च्छित हो जाता है। तैलादि में दस गुण होते हैं। उक्त गुण मद्य एवं विष में तीव्र रूप में पाये जाते हैं। मद्य एवं विष में तीव्रता के कारण ही इनसे भी मूर्च्छा हो जाती है। रक्तज, मद्यज और विषज मूर्च्छा के लक्षण प्रायः एक दूसरे से मिलते-जुलते निम्न प्रकार के होते हैं। रक्तज मूर्च्छा में अंग और नेत्र निश्चल हो जाते हैं तथा श्वास की गति में विकृति आ जाती है। मद्यज मूर्च्छा में संज्ञाहीनता और पृथ्वी पर हाथ-पैर पटकना आदि लक्षण देखने में आते हैं। विषज मूर्च्छा में प्यास, कम्पन और चकचौंधी आदि लक्षण देखने में आते हैं। ठंढे जल अथवा चन्दन घिस कर माथे पर छापने से रक्तज मूर्च्छा में लाभ होता है। मद्यज मूर्च्छा में मधु पिलाना लाभकर होता है। विषज मूर्च्छा के लिए मैनफल का बीज पिलाकर कै करा देना हितकर है।

भ्रम, तन्द्रा और निद्रा मूर्च्छा के ही भेद हैं। पित्त तमोगुणी है जिससे मूर्च्छा होता है। रजोगुण-पित्त एवं वायु से भ्रम होता है तथा तमोगुण, वायु

एवं कफ से तन्द्रा और तमोगुण—कफ से निद्रा उत्पन्न होती है।

मूर्च्छा का ही एक भेद संन्यास भी है। दोषों के नष्ट हो जाने से मूर्च्छा तो ठीक हो जाती है लेकिन संन्यास बिना औषधि के ठीक नहीं होता है।

पथ्य—इस रोग में छाछ में जीरा भूनकर देना लाभदायक है। दूध और घी का भी सेवन कराना चाहिये। बलकारक भोजन ही इस रोग का उत्तम पथ्य है। खुली हवा में टहलना और साधारण व्यायाम से भी लाभ होता है।

मृगी (Epilepsy)

इसको आयुर्वेद शास्त्र में अपस्मार करते हैं। यह रोग वातादि भेद से वातज, पित्तज, कफज और सन्निपातज इस प्रकार चार तरह का होता है। चोट लगने से भी मृगी रोग हो जाता है। मृगी का पूर्व रूपः—

हृत्कंपः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढ़ता।
निद्रानाशश्च तस्मिस्तु भविष्यति भवंत्यथ॥

अर्थात् हृदय में कंप और शून्यपन। पसीना निकलना तथा ध्यान लग जाना मूर्च्छा, प्रमूढ़ता एवं निद्रा नाश आदि लक्षण दृष्टिगोचर होने पर मृगी का पूर्व रूप समझना चाहिये।

मृगी और	मूर्च्छा भेद :—
मृगी में मुँह से फेन निकलता है।	मूर्च्छा में फेन नहीं निकलता है।
,, रोगी दाँत से होठ दबाता है।	,, नहीं दबाता है।
,, नेत्र वैकृतादि लक्षण दिखलाई पड़ते हैं।	,, नहीं
मृगी में रोगी हाथ-पैर एवं अंग को इधर-उधर फेंकता है।	मूर्च्छा में नहीं

डाक्टरी मत से मृगी के निम्नलिखित चार प्रधान भेद हैं।

१—पेटिट मेल (Petit mal)—इसमें रोगी को साधारण बेहोशी होती है चेहरा भी नाम मात्र का ही बिगड़ता है। इसमें रोगी कोई काम करते समय अथवा बोलते समय थोड़ी देर के लिए रुक जाता है।

२—ग्रैंड मेल (Grand mal)—इसमें रोगी बिल्कुल चेतनाशून्य हो जाता है। कम्पन अथवा आक्षेप भी होती है।

३— जैकसोनियन (Jacksonian)—इसमें पूर्ण चेतना रहती है, केवल किसी अंग के खास स्थान पर ही आक्षेप नजर आता है।

४—औरा (Aura)—इसमें रोग का दौरा होने के पहले अंग-प्रत्यंग में एक प्रकार की बिजली की गति की सुरसुरी पैदा होती है। मुँह का स्वाद बिगड़ना तथा कानों में एक प्रकार की आवाज सुनाई पड़ना आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। रोगी चिल्लाकर आग, पानी अथवा किसी भी स्थान पर उलट पड़ता है। वातज मृगी में रोगी काँपता एवं दाँत किटकिटाता है। मुँह से झाग निकलना तथा काला एवं लाल रंग को देखना जो अपनी ओर तेजी से आता प्रतीत होता है। लहसुन और तिल खिलाने से लाभ होता है। रास्नादि काढ़ा से वातज मृगी में लाभ होता है।

पित्तज मृगी में शरीर एवं नेत्रादि पीतवर्ण हो जाते हैं। मुँह से आग निकलना तथा प्यासयुक्त गर्मी आदि लक्षण पैदा होते हैं दूध में शतावर डालकर पिलाने से पित्तज मृगी में लाभ होता है। कफज मृगी में शरीर एवं आँखें सफेद हो जाती हैं। मुँह से फेन निकलना तथा सुस्ती एवं रोमाञ्च आदि लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। वातज एवं पित्तज मृगी तो जल्द ही आराम हो जा सकती है लेकिन कफज को छुड़ाना बहुत कठिन है। ब्राह्मी के रस को मधु के साथ पिलाने से कफज मृगी में लाभ होता है।

सन्निपातज मृगी—पारद भस्म, अभ्रक, कान्तिसार, शुद्ध गंधक, पारद भस्म, मैनशिल, हरताल भस्म और रसोत लेवें। उक्त सभी औषधियों को गोमूत्र में एक दिन पर्यन्त खरल करके सभी ओषधियों के वजन से दोगुने गंधक को लोहे की कड़ाही में रखकर एक पहर तक आँच देवें। पश्चात् शीतल हो जाने पर शीशी में रख लेवें। मात्रा १ रत्ती भर कुछ दिनों तक खिलाने से प्रायः सभी प्रकार की मृगी अच्छी हो जाती है। महापैशाच घृत से भी बहुत ज्यादा लाभ होता है।

स्मृति सागर रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल

और ताम्र भस्म समभाग लेवें। पहले पारद और गंधक की कज्जली तैयार कर लेवें पश्चात् अन्य औषधियाँ मिलाकर बच एवं ब्राह्मी के क्वाथ का २०-२१ भावना देकर सुखा लेवें। बाद में मालकगनी के तैल की एक भावना देकर एक रत्ती प्रमाण गोली तैयार कर लेवें। अनुपान मधु अथवा अश्वगंधारिष्ट।

इस रोग में मस्तिष्क बिल्कुल कमजोर पड़ जाता है। अतः जलसमूह, जनसमूह, एवं प्रज्वलित अग्नि आदि से रोगी को अलग रखना ही चाहिए। यह रोग बहुत ही भयानक रोग है। यह रोग कहीं पर कभी भी हो सकता है लेकिन साधारणतः वातज मृगी १२ दिनों पर, पित्तज १५ दिनों पर और कफज मृगी ३० दिनों पर उभड़ती है। ज्यादा दिनों तक मृगी रोग ठहर जाने पर पागलपन अथवा लकवा वात भी हो जाया करता है।

पथ्य—शोक, भय एवं मानसिक चिन्ता से बचाना चाहिये। पुष्टिकारक भोजन एवं साधारण व्यायाम तथा खुली हवा में टहलना लाभप्रद है।

उन्माद

यह रोग मन से सम्बन्ध रखने वाला तथा वातादि भेद से ६ प्रकार का है यथा--वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, शोकज और विषज।

देव, गुरु के अपमान, प्रकृति विरुद्ध पदार्थ एवं अपवित्र भोजन के सेवन तथा गाँजा, भाँग और शराब के अतियोग से उन्माद रोग पैदा हो जाता है। अत्यंत शोक, भय एवं हर्ष से भी मनुष्य उन्मत्त हो उठता है। फिरँग रोग के पश्चात् किसी-किसी रोगी को पागलपन हो जाता है तथा अधिक स्त्री सहवास एवं मासिकस्राव रुक जाने के कारण से भी।

यह रोग विशेषकर पढ़े लिखे लोगों में पाया जाता है। मस्तिष्क पर ज्यादा भार पड़ने से इस रोग को प्रोत्साहन मिलता है। डॉक्टरी मतानुसार अवटुका ग्रंथि वृद्धि तथा क्षय (Hyperthyroidism), जीवनीय द्रव्य की कमी विटामिन तथा धमनीदार्ढ्य (Arteriosclerosis), गर्भाशय और मासिकधर्म विकृति कारणों से भी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

वातज उन्माद—शरीर में रूखापन, नेत्र लाल एवं कालिमा रंग लिये हुए। हँसना, नाचना, मुस्कुराना तथा अंग-प्रत्यंग को इधर-उधर फेंकना आदि लक्षण वातज उन्माद में उत्पन्न होते हैं। उन्माद रोग में ब्राह्मी, वच, जवासा, शंख पुष्पी, जहरमोहरा, खताई, धनबरुआ, बनफसा और उस्तखद्दूस आदि औषधियाँ अकेली अथवा अन्य औषधियों के साथ काम में लाई जाती हैं। घृत पान कराने से भी वातज उन्माद नष्ट हो जाता है।

पित्तज उन्माद में बहुत ज्यादा उग्रता होती है। रोगी किसी की बात अथवा धमकी सहन नहीं कर सकता है। हाथ पैर-फैलाना, नंगा होना, शरीर एवं नेत्र पीली हो जाना आदि लक्षण इसमें पैदा होते हैं। बढ़िया विरेचन से पित्तज उन्माद में लाभ होता है।

कफज उन्माद शरीर में सुस्ती का भाव, बहुत कम बोलना, शरीर एवं नेत्र में सफेदी तथा कामेच्छा आदि लक्षण पैदा होते हैं। वमन कराने से कफज उन्माद रोग शान्त होता है। सन्निपातज उन्माद में वातादि तीनों दोषों के लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। इसकी चिकित्सा भी उसी प्रकार होनी चाहिए।

उन्माद पर अनुभूत नुस्खे—

सिरस का फूल; मजीठ, पीपल, सरसों, बच, हल्दी और सोंठ को बकरी के दूध में पीसकर गोलियाँ बना लेवें। इन गोलियों को छाया में सुखाकर काम में लावें। यह दवा पानी अथवा स्त्री के दूध में घिसकर उन्माद रोगग्रस्त व्यक्ति की आँखों में अंजन की तरह लगाई जाती है।

उन्मादगज केशरी—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मन:शिला और धतूरे का बीज समभाग लेवें। उक्त औषधियों को एक दिल करके ब्राह्मी एवं बच को सात-सात भावना देकर दवा तैयार कर लेवें। मात्रा एक से दो रत्ती तक। अनुपान घृत, मृतसंजीवनी सुरा अथवा पान के रस के साथ। इस दवा से मृगी, अनिद्रा तथा सभी प्रकार के उन्माद रोग दूर हो जाते हैं।

कल्याण घृत—इन्द्रायण, रेनुका, त्रिफला, देवदारु, एलुवा, शालिपर्णी, अनन्तमूल, हल्दी, दारू हल्दी, नील कमल, प्रियंगू का फूल, इलायची, दन्तीमूल,

मजीट, अनार, नागकेशर, तालिसपत्र, बड़ी कटेली, चमेली के ताजे फूल, बायबिडंग, पृष्णिपर्णी, कूट और चन्दन को १-१ तोला लेवें। उक्त औषधियों का कल्क वना लेने के पश्चात चतुर्थांश शेष रहने पर काढ़ा को छान कर रख लेवें। चौगुने क्वाथ के साथ २ सेर घृत का पाक सिद्ध कर लेवें। यह दवा भी सभी प्रकार के उन्माद एवं मृगी आदि पर काम आती है।

ब्राह्मी घृत—मूल और पत्र सहित ब्राह्मी बूटी लेकर पहले पानी में धो लेवें पश्चात् कूट कर स्वरस निकाल लेवें। ८ सेर स्वरस में २ सेर घी और निम्नलिखित कल्क तथा ८ सेर जल मिलाकर पकाकर घृत सिद्ध कर लेवें।

कल्क द्रव्य—हल्दी, चमेली के फूल, कूट, निशोथ और हर्रे, प्रत्येक पाँच-पाँच तोले, पीपल, पीपलामूल, बायबिडंग, सेंधानमक, खांड और बच प्रत्येक सवा-सवा तोले लेकर पानी के साथ पीसने के पश्चात् मिला देवें। इस दवा से भी सभी प्रकार का उन्माद अच्छा होता है। मृगी रोग में लिखे हुए स्मृति-सागररस से भी लाभ होता है।

अनुभूत क्वाथ—दशमूल २ तोले, बायविडंग, जवासा, निशोथ, जावित्री, बनफ्सा, ब्राह्मी और गुर्चं ६-६ माशे तथा जायफल ३ माशे को आधा सेर जल में क्वाथ वनाकर दोनों शाम पिलावें। यह उन्माद के लिए रामबाण है। मजबूत रोगी की कनपटी में जोंक लगाने से भी होता है। बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन पटना से निःशुल्क प्राप्त होने वाली धनबरुआ नामक जड़ी से उन्माद रोग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। नींद लाने के लिए एलोपैथिक चिकित्सा पोटाशियम ब्रोमाइड काम में लाते हैं। दशमूलारिष्ट एवं अश्वगंधारिष्ट का प्रयोग लाभप्रद है।

पथ्य—बलकारक भोजन देना चाहिए जिससे स्नायुमण्डल में बल आवे। दूध, दही, घी, चावल, गेहूँ तथा मांसादि पथ्य।

———

वात व्याधि

यह रोग ८० प्रकार का होता है लेकिन कुछ आचार्यों ने ८४ प्रकार का भी बतलाया है। कसैले, कड़वे, रुक्ष, एवं तीक्ष्ण पदार्थ के सेवन, अत्यधिक मैथुन, रात्रिजागरण, राह चलने, आम दोष, वेगावरोध तथा वृद्धापन और विशेष जल क्रीड़ादि से वात रोग की उत्पत्ति होती है। उपवास, बासी भोजन, काम क्रोधादि तथा फिरंग आदि रोगों के कारण भी वात व्याधि का प्रादुर्भाव होता है। कुछ प्रमुख वात व्याधियाँ एवं तदनुसार चिकित्सा—

शिरोग्रह वातरोग—विकृत वायु रक्त में प्रवेश कर, मस्तक को धारण करने वाली नसों में रुक्षता, कालापन एवं दर्द पैदा करके मस्तक को जकड़ देता है। दशमूलादि क्वाथ अथवा दशमूलारिष्ट पिलाने और बिजौरे के रस द्वारा सिद्ध किया हुआ तैल मालिश से भी लाभ होता है।

अल्पकेश रोग—लोमकूपस्थ वायु कुपित होकर-लोम रंध्र को कमजोर बना देता है, फलस्वरूप थोड़ा बाल निकलता है। गोखरू और तिल के पुष्प का चूर्ण समभाग लेकर दोनों के बराबर मधु मिला लेवें। उक्त औषधियाँ घृत में मिलाकर मालिश करने से लाभ होता है।

हनुग्रह वातरोग—अधिक चबाने, दातौन चीरने के समय ज्यादा जोर लगाने अथवा जीभ को ज्यादा घिसने से वायु दूषित होकर निचले जबड़े को जकड़ देता है जिसके फलस्वरूप मुंह बन्द हो जाता है अथवा खुला हो जाता है। लहसुन को तेल में तल कर सेंधा नमक के साथ खिलाने तथा सुसुम तेल के मालिश से इस रोग में लाभ होता हैं।

जिह्वा स्तम्भ—शब्द प्रवृत्तिकारक नसों में वायुविकृत होकर जीभ को जकड़ देता है, फलस्वरुप बोलने; खाने अथवा पीने में कठिनाई हो जाती है। गर्म पानी से कुल्ला कराने पर यह रोग शान्त हो जाता है।

त्वचा शून्य रोग—यह रोग होने पर स्पर्शज्ञान नष्ट हो जाता है। धमासा और सेंधा नमक को कडुआ तेल में मिलाकर मालिश करने से लाभ होता है। इस रोग में रक्तमोचन अर्थात् रक्त निकलवाने से भी फायदा होता है। दशमूलादि क्वाथ भी दिया जाता है।

अर्दित क्वाथ— यह रोग वातादि भेद से तीन प्रकार का और त्रिदोष जनित इस तरह ४ प्रकार का होता है। इस रोग में गर्दन सहित मुख टेढ़ा हो जाता है, फलस्वरूप बोलने में कठिनाई होती है। इस रोग में गर्म सेंक तथा रास्नादि क्वाथ से लाभ होता है।

रास्नादि क्वाथ—रास्ना, पुनर्नवा, सोंठ, गुर्च और रेंड़ को औटाकर क्वाथ बना लेवें।

मन्यास्तंभ रोग—दिन में अधिक सोने और ऑफिस तथा गद्दियों में देर तक बैठे-बैठे काम करनेवाले मनुष्यों का कफ कुपित होकर वायु से मिल, गर्दन को जकड़ देता है। सुसुम तेल की मालिश करके अरंडपत्र बाँधने अथवा मुर्गी के अण्डे को घी के साथ मिलाकर उसमें सेंधा नमक देकर मालिश करने से लाभ होता है।

बाहु शोष—कंधा स्थित वात में विकृति होकर बाँह जकड़ कर सूखने लगती है। रास्नादि क्वाथ एवं कल्याण घृत सेवन कराने से इन सभी वात रोगों में लाभ हो सकता है।

अध्मान रोग—अपान वायु रुक जाना; पेट में दर्द एवं अफरा होने पर अध्मान रोग कहते हैं। यह रोग कुपथ्य से होता है। इसमें पाचन औषधि देना तथा दस्त कराना हितकर है।

तूनी रोग—मलमूत्राशय स्थित वात विकृत होकर गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय में दर्द पैदा करता है। प्रति तूनी रोग में लिङ्ग एवं गुदा में दर्द होकर पेड़ू तक चली जाती है। सोंठ, मिर्च, पीपल, सेंकी हुई हींग, जवाखार, सज्जी और सेंधा-नमक का चूर्ण गर्म जल के साथ सेवन कराना चाहिए। त्रिकशूल रोग में कमर की त्रिकास्थि में दर्द होता है। सुसुम तेल की मालिश करके बालू अथवा चोकर की पोटली से स्वेद करने से लाभ होता है।

गृध्रसी रोग—अर्थात् कटिस्नायु शूल (Sciatica)—यह रोग पहले कुल्हा पकड़ता है पश्चात् कमर, पीठ, जंघा और पैर को भी जकड़ देता है सर्दी लगने तथा गीली जगह में रहने से यह रोग हो जाता है। जरायु के निकटस्थ अर्बुद तथा आँतों में गाँठ-गाँठ मल इकट्ठा होने से भी, 'सायेटिका' नर्व पर दबाव पड़ता है जिसकी वजह से यह रोग हो जाता है। यह रोग दो प्रकार का

होता है—वात गृध्रसी और वातकफ गृध्रसी। वातकफ गृध्रसी में अग्नि मंद पड़ जाती है तथा रोगी के मुंह से लार गिरती है। इस रोग में पहले हर्रे की जुलाब देने के पश्चात् बस्ति क्रिया का प्रयोग करना उचित है। जो दूध में रेंड़ी का बीज औटाकर पिलाने से लाभ होता है। इसी पुस्तक में लिखा हुआ महा-पिशाच तेल से भी यह रोग दूर हो जाता है।

खंजवात—कमर स्थित वात विकृत होकर जंघे की नसों को पकड़ कर एक पैर को बेकार कर देता है जिसको लँगड़ा भी कहते हैं। दोनों जंघों की नसों की विकृति के कारण मनुष्य पंगु हो जाता है।:उक्त रोगों में पहले अच्छी तरह से पेट साफ कर लेने के पश्चात् योगराज गुग्गुल खिलाने से लाभ होता है।

योगराज गुग्गुल:—

कुटकी; सोंठ, पीप्पल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल की छाल, भुनी हुई हींग, अजमोद, सरसों, स्याह जीरा, सफेद जीरा, रेणुका, अतीस, भारंगी, बच, मूर्वा, इन्द्रजौ, पाठ, बायबिडंग और गजपीपल प्रत्येक दवा चार-चार आने भर लेवें। उक्त दवाओं में त्रिफला १० तोले और शुद्ध गुग्गुल १५ तोले मिलाकर अरण्ड तेल दे-देकर लोहे के इमामदस्ते में ५-७ रोज तक अच्छी तरह से कूट-कूट कर दवा तैयार कर चार आने भर की गोलियाँ तैयार कर लेवें। अगर इस दवा में बंग चाँदी, शीशा, लौह, अभ्रक तथा मण्डूर भस्म और रस सिन्दुर को ५–५ तोले मिलाकर उक्त रीति से दवा कर एक माशा की गोलियां बना लेवें तो यह सर्व वात व्याधि की अमोघ औषधि तैयार होगी।

क्रोष्टु शीर्ष—वादा एवं रक्तविकार के कारण घुटने में शृङ्गाल के सर के आकार की बड़ी सूजन हो जाती है जिसमें भयानक पीड़ा होती है। इस रोग में ढाई टंक विधारा का चूर्ण, आध सेर गो दुग्ध के साथ रोज खिलाना चाहिए।

धनुष्टंकार—इसको अंग्रेजी भाषा में (Tetanus) टिटनेस कहते हैं। यह रोग होने पर रोगी का शरीर धनुष की भांति टेढ़ा हो जाता है। इनसे बराबर आक्षेप रहता है। कठिन धनुष्टंकार में सिर एवं एड़ी के बल रोगी पड़ा रहता है। शरीर टेढ़ा होने के साथ-साथ मुंह भी बन्द हो जाता है जिसकी वजह से मुंह में कोई दवा पिलाना भी कठिन हो जाता है। यह बहुत ही भयानक

रोग है। आयुर्वेद मतानुसार मिथ्या आहार-विहार एवं गीली जगह में निवास आदि से यह रोग हो जाता है। एलोपैथी के विशेषज्ञों का कहना है कि हाथ अथवा पैर के किसी भाग के छिल जाने अथवा कट जाने पर उसमें एक प्रकार का कीट (Germ) प्रवेश कर जाता है जिसकी वजह से टिटनेस हो जाता है। साधारण धनुष्टंकार का लक्षण मूर्छागत वायु एवं सेरिब्रो स्पाइनल मेनिञ्जाइटिस से कुछ मिलता-जुलता-सा देखने में आता है। लेकिन मूर्छागतवायु में केवल आक्षेपिक लक्षण ही देखने में आता है इसमें जबड़ा नही बैठता है। सेरिब्रो-स्पाइनल मेनिञ्जाइटिस में ज्वर रहता है। और धनुष्टंकार में ज्वर नहीं रहता है। यह बहुत ही भयानक रोग है। रोग होते ही शीघ्र चिकित्सा होनी चाहिए। इस रोग में जुलाब देकर पेट साफ कर लेने के पश्चात् कुचलाबटी का सेवन करना चाहिए तथा मेरुदण्ड पर महापिचास तैल की मालिस का प्रबन्ध करना चाहिए।

कुचलाबटी—

शुद्ध कुचला ७ तोले, सोंठ, मिर्चं, पीपल, आँवला, हर्रे, बहेरा एवं लोहबान का फूल १–१ तोले। उक्त औषधियों को पानी के साथ घोट कर एक रत्ती प्रमाण गोली बना लेवें। इस दवा को बात गजांकुश अर्क के साथ अथवा दशमूलारिष्ट के साथ देने से विशेष लाभ होता है।

लकवा (पक्षाघात)

विकृत वात के कारण शरीर की मोटी तथा मध्यम नसें सूख जाती हैं, फलतः संधियों का बन्धन ढीला पड़ जाता है जिसके फलस्वरूप निम्नांग अथवा शरीर का कोई खास अंग बेकार हो जाता है। यह रोग पित्तवात पक्षाघात एवं कफवात पक्षाघात भेद से दो प्रकार का होता है। अंग्रेजी चिकित्सा शास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार भी यह दो प्रकार का होता है, यथा :—

१ - जेनरल (सर्वाङ्गिक) और

२ —लोकल (स्थानिक)

निम्नांकित में पक्षाघात होने पर रोगी का चलना-फिरना बन्द हो जाता है। कुछ आचार्यों के मत से लकवा एकाङ्गिक रोग है। लेकिन इसका प्रकोप दोनों बगल में भी देखने में आता है। लकवा होने पर मल एवं मूत्र का अवरोध हो जाता है। पहले तो पेशाब बिल्कुल बन्द हो जाता है लेकिन बाद में धीरे-धीरे

पेशाब होने लगता है। पेशाब में तीव्र गन्ध होती है तथा क्षारयुक्त अथवा डोरी का-सा पेशाब निकलते देखा जाता है। भयानक लकवा में ज्वर का ताप १०७ तक हो जाता है। इस रोग का हमला मस्तिष्कावरक झिल्ली पर होता है। अतः दिमाग काम नहीं कर पाता है। साधारण लकवा में तो थोड़ी देर के बाद आप ही आप होश हो जाता है लेकिन कठिन लकवा में रोगी को देर से होश आता है। लकवा रोग का पुनराक्रमण प्रायः मृत्यु स्वरूप ही होता है। एक डेढ़ साल बाद इस रोग का दुबारा हमला होता है। जिसके फलस्वरूप ९९ प्रतिशत रोगियों की मृत्यु हो जाती है। मस्तिष्कावरक झिल्ली में प्रदाह, मेरुदण्ड की मज्जा का सूख जाना तथा उसमें प्रदाह, अधिक दिनों तक मूर्छा अथवा मृगी रोग झेलने के पश्चात् पारा, शीशा एवं विष सेवन करने आदि कारणों से लकवा मार देता है। ज्यादा भींगने, धूप में घूमने, सर्दी लगने तथा चोट की वजह से भी लकवा हो जाता है।

वात रोग में पेट साफ रखना नितान्त आवश्यक है। अतः पेट साफ रखने के लिये विरेचन देना चाहिये। शुद्ध कुचिला सेवन कराने से इस रोग में लाभ होता है। निम्नलिखित तैल इस रोग के लिये रामबाण है—

महापिशाच तैल

पारा, गन्धक, हरताल और मैनसिल को ढाई-ढाई तोले लेकर पहले पारा और गन्धक की कज्जली बना लेवें। हरताल और मैनसिल को अलग-अलग पीसकर चूर्ण बनाने के पश्चात् सभी औषधियों को भैंस के गोबर के रस अथवा मट्ठा में सान लेवें। उक्त पतले लेप को मलमल के कपड़े अथवा किसी भी बारीक कपड़े पर लेप कर छाया में सुखा लेवें। लोहे के गज में उक्त कपड़ों को लपेट कर लुकार जैसा बना लेने के पश्चात् लोहे की कड़ाही में तिल का बढ़िया तेल १ सेर लेवें। लुकार में सलाई लगाकर लुकार जला देने के बाद कड़ाही से उस पर तेल डाला जाय। जब तक लुकार पूर्ण रूप से नहीं जल जाय तब तक उस पर तेल डालता रहे। उस लुकार से गिरता तैल हरा रंग लिए हुए गाढ़ा तेल तैयार हो जाता है। इस तैल के मालिश से वात के सभी रोग दूर हो जाते हैं।

लेकिन इसके बनाने में सावधानी रखनी होगी। चूँकि इस तैल का धुआँ जहरीला होता है। अतः नाक बाँधकर इस तैल को बनाना चाहिए। जहाँ पर रसोई आदि का सामान हो वहाँ इसको नहीं तैयार करना चाहिए। और इस तैल को सींक से चौथाई बूँद पानी में रखकर खाने से बोली बहुत जल्द ही सुधर जाती है लेकिन रोगी नपुंसक हो जाता है। अतः खिलाने वाली क्रिया को काम में लाना हानिकारक है। इस तैल पर मेरा दृढ़ विश्वास है।

नारायण तैल—असगंध, बरियार की जड़, पाढ़, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, सम्भालू की पत्ती, सोना पाढ़ा, गंधा पुरैना, ऊड़द, कट सरैया, रास्ना, रेंड़ की जड़, देवदार प्रसारिणी और अरणी। प्रत्येक औषधि आध-आध सेर लेकर जव कूटकर चार द्रोण जल में औटाकर काढ़ा तैयार कर लेवें। चौथाई काढ़ा शेष रहने पर छान कर रख लेवें। २५६ तोले शतावर का रस, २५६ तोले गाय का दूध और उतना ही तिल का तेल लेवें। इस तेल को सिद्ध करने के लिये निम्तलिखित औषधियों का कल्क तैयार कर लेवें। कूट, छोटी इलायची; सफेद चंदन; जटामासी, छड़िला, सेंधानमक, असगंध, बच रस्ना, सौंफ, देवदार, सरिवन, पिठवन, माषपर्णी, मूंगपर्णी और तगर। उक्त सभी औषधियों को मिलाकर तेल सिद्ध कर लेवें। इस तेल से सभी वात रोगों में लाभ होता है।

प्रसारिणी तैल—प्रसारिणी सवा छः सेर, खरैटी की जड़ तीन सेर, शतावर सोंचर, असगन्ध, पुनर्नवा, गिलोय, दशमूल, चित्रक, मैनफल और कचूर प्रत्येक ५-५ तोले लेकर ३२ सेर जल के साथ काढ़ा तैयार कर लेवें। तिल ८ सेर, गो दुग्ध ८ सेर और काँजी आठ सेर लेकर रख लेवें। पश्चात् निम्नलिखित औषधियों का कल्क बनाकर उक्त सभी औषधियों के साथ तेल सिद्ध कर लेवें।

कल्क द्रव्य—रास्ना, सोया, मुलहठी, पीपल, सोंठ, बच, कूट, रेनुका, बालछड़, प्रियगू, इन्द्रजौ, बायबिडंग, सेंधानमक, सोंठ, यवाक्षार चीता और मूर्वं प्रत्येक ५-५ तोले। यह तैल मालिश करने और खिलाने के लिए भी काम में लाया जाता है। खिलाने की मात्रा आठ आने भर तक है। इस तेल से मृगी, उन्माद, अस्थिभंग, गृध्रसीवात एवं पक्षाघातादि में लाभ होता है।

विषगर्भ तैल—असगन्धमूल, कनेर की जड़, आक की जड़, धतूरे का पंचाङ्ग, सम्भालू की पत्ती, और कत्थफल प्रत्येक औषधि को ६४–६४ तोले लेकर अठगुने जल के साथ काढ़ा तैयार कर लेवें। तिल तेल १२८ तोले, बच्छनाग, धतूरे का बीज, घुंघची, अफीम, खुरासानी, अजवायन, कलिहारी की जड़, कूट, कुचला, और बच चार-चार तोले लेकर कल्क बनाकर सभी औषधियों के साथ तेल सिद्ध कर लेने के पश्चात् उसमें ५ तोले कपूर का महीन चूर्ण मिला लेवें। इस तेल से पुराना वातरोग भी अच्छा हो जाता है।

वातारि तैल—सफेद मोम ८० तोले, सेंधालवण २० तोले, रूमीमस्तगी ४० तोला, लौंग, जावित्री और जायफल पांच-पांच तोले, कुचला दस तोले, लाल करोजनी दस तोले, लोबान २० तोले और भारगी ३ सेर लेवें। पहले कुचला को गाय की दही में और करोजनी को पानी में भिगोकर छिलका उतार दें, पश्चात् सभी औषधियों को एक हाड़ी में भरकर पाताल यन्त्र द्वारा तेल निकाल लेवें। इस तेल को भी सींक से पान पर देकर खिलाने और मालिश करने का विधान है। पक्षाघात के लिए यह रामबाण है।

निरामिष महामाष तैल—आठ सेर दशमूल को चौसठ सेर जल में औटाकर काढ़ा तैयार करें और ८ सेर उड़द का भी काढ़ा तैयार कर अलग-अलग रक्खें। असगन्ध घरैटी, रासन, कपूर, कचरीं, देवदार, प्रसारिणी, कूट, फालसा, भारंगी, कुंभड़ा, भुइकुंभड़ा, पुननंवा, जम्बीरी नीबू, जीरा, स्याहजीरा, हींग, सौंफ, सतावरी, गोखरू, पीपलमूल, चित्रक, सेंधानमक और जीवनीय गण इन सभी औषधियों को एक सेर की मात्रा में लेकर कल्क तैयार करें। तिल का तेल चार सेर और गाय का दूध १६ सेर लेकर उक्त सभी औषधियों के साथ तेल सिद्ध कर लेवें। इस तेल के मालिश से पक्षाघात, हनुस्तभ, अर्दित तथा अपतंत्रक आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। लक्का कबूतर का मांस तथा उसके पंखों को हवा से भी लाभ होता है।

एलोपैथिक चिकित्सक लोग ज्यादातर बेरिन और बिनर्वा की सूचिका का प्रयोग करते हैं। लहसुन की सूचिका भी वात रोग में अच्छा काम करती है। अगर उत्तम तेलों की मालिश के साथ रसौषधियों को अच्छी तरह से तैयार कर काम में लाया जाय तो सूचिका से कहीं ज्यादा लाभ होता है।

वातगंजाकुश रस—पारदभस्म, लौहभस्म, स्वर्णमाक्षिक भस्म, शुद्ध गंधक शुद्ध हरताल, हर्रे, काकड़ासिगी, शुद्ध बच्छनाग, सोंठ, मिर्च, पीपल, अरणी की जड़ की छाल और सुहागा समभाग लें। पारद और गंधक की कज्जली तैयार कर लेने के पश्चात् अन्य औषधियों के महीन चूर्ण को मिलाकर मुण्डी और सम्भालू के रस में एक-एक दिन घोटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर छाया में सुखा लेवें। एक-एक गोली दोनों सुबह-शाम। अनुपान दशमूलादि क्वाथ।

वातकुलान्त रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, मनःशिला और कस्तूरी एक-एक तोला, नागेसर, बहेरा, जायफल, इलायची और लौंग भी एक-एक तोला लें। पारद गन्धक कज्जली तैयार कर अन्य औषधियों का बारीक चूर्ण मिला जल के साथ घोटकर १ रत्ती प्रमाण गोलियां तैयार कर लेवें। दिन में तीन से चार तक ब्राह्मी, शंखपुष्पी, लौंग और जटामासी के क्वाथ के साथ।

अमरसुन्दरी बटी—सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्रे, बहेरा, आंवला, रेमुआ, चित्रक, लौहभस्म, दालचीनी, ईलायची, तेजपात, नागकेशर, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सिंगी मोहरा बायबिडंग, अकरकरा और नागरमोथा एक-एक तोला लेवें। पारद गन्धक की कज्जली तैयार कर उक्त औषधि का चूर्ण मिलाकर ४० तोले गुड़ में घोटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा से ८० प्रकार के वात रोग श्वास, कास, मृगी एवं सन्निपात में भी लाभ होता है। अनुपान मधु अथवा दशमूलारिष्ट अथवा दशमूल क्वाथ।

वातचिन्तामणि रस—स्वर्णभस्म एक तोला, रौप्य और अभ्रकभस्म दो-दो तोला, मोती पिष्ठी और प्रवाल पिष्टी तीन-तीन तोला, काकोली चूर्ण तथा अम्बर एक-एक तोला और चन्द्रोदय ७ तोला लें। चन्द्रोदय को अच्छी तरह से बारीक बनाकर काकोली चूर्ण और अम्बर डालकर अन्य औषधियों को भी मिला कर एक दिल कर लेवें। पश्चात् ग्वारपाठा के रस में घोटकर रत्ती प्रमाण गोली बना लेवें। अनुपान मधु। अनुपान भेद से इस दवा से सभी प्रकार के वातरोग समूल नष्ट हो जाते हैं।

बलारिष्ट— खरैंटी की जड़ और असगन्ध प्रत्येक सवा ६-६ सेर लेकर अलग-अलग ६४ सेर पानी में औटा कर १६ सेर काढ़ा तैयार कर दोनों को एक में मिला लेवें। उक्त क्वाथ में पौने ऊन्नीस सेर गुड़, एक सेर धाय का फूल, दस-दस तोले विदारी कन्द एवं रेंड़ की जड़ को छाल तथा पाँच-पाँच तोले रास्ना, इलायची, प्रसारणी, लौंग, खस और गोखरू का चूर्ण मिलाकर मटके में रख मुख बन्दकर एक मास तक रखा रहने के पश्चात् छान लेवें। इस दवा से समस्त वात व्याधियों का नाश हो जाता है। मात्रा १ से दो तोले तक।

दशमूलारिष्ट—दशमूल की प्रत्येक औषधि २५-२५ तोला, चीता और पुष्करमूल २५-२५ पल, लोध और गिलोय २०-२० पल, आँवला सोलह पल, धमारू १२ पल, खेरसाल आठ पल, इन्द्रायन ५ पल, विजयसार ४ पल तथा मजीठ, मुलैठी, कूट, केथा, देवदारू, बायबिडंग, चव्य, लोध, भार्गी, पीपल, कालाजीरा, सुपारी, पद्माख, कपूर, फूलप्रियगू, सरिवा, जटामासी, रेनुका, नागकेसर, निसोथ, हल्दी, रास्ना, मेढ़ासिगी, पुनर्नवा, शतावर, इन्द्रजौ और नागरमोथा दस-दस तोले लेकर सभी औषधियों को जवकूट कर चौगुने जल में औटाकर काढ़ा तैयार कर लें। उक्त काढ़ा को मटके में रखकर निम्नलिखित औषधि डालकर एक मास मुँह बन्द रखने के बाद छान लेवें।

प्रक्षेप द्रव्य— मुनक्का ५० पल, शहद और धाय का फूल ३०-३० पल और गुड़ ४०० पल तथा पीपल, सफेद चन्दन, सुगन्द वाला, जायफल, लौंग, दालचीनी, इलायची, तेजपात तथा नागकेसर २-२ पल और कस्तूरी सवा तोले।

आमवात रोग—जब मंदाग्निवाला मनुष्य कुपथ्य करता है तब भोजन किया हुआ पदार्थ का कच्चा रस कफाशय में प्रवेश कर नसों में घुस जाता है। वह रस त्रिदोष द्वारा विशेष विकृत होकर आम तथा अनेक प्रकार का रोग उत्पन्न कर देता है। स्वस्थ मनुष्य भी विशेष स्निग्ध भोजन का सेवन करके परिश्रम से विमुख हो जाते हैं तो ऐसा हो जाता है। आमवात होने पर मस्तक, पीठ, कंधा, कमर, घुटनों तथा अन्य अङ्गों में पीड़ा होने के साथ-साथ नसों में संकोचन होकर

शरीर स्तंभित हो जाता है। अर्थात् आमवात होने पर अंग में पीड़ा, शरीर में भारीपन, मंदाग्नि, पाचनशक्ति का अभाव, आलस्य, प्यास, अंग में सुन्नपन का भाव तथा ज्वरादि उपद्रव लक्षण देखने में आते हैं। हाथ, पैर तथा शरीर के अन्य अंग सूज जाते हैं। इस रोग में लंघन कराने के पश्चात् चित्रक, कुटकी, हर्रे की छाल, बच, देवदार, अतीस और गुर्चं का क्वाथ पिलाने से लाभ होता है। निम्नलिखित आमवातारि रस इस रोग की अमोघ औषधि है।

आमवातारि रस --शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, त्रिफला ३ तोला, चित्रमूल छाल ४ तोला और गूगल ५ तोले। इन सभी औषधियों को बारीक चूर्ण कर गूगल मिलाकर रेड़ो के तेल में अच्छी तरह से कूट कर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। एक से दो गोलियाँ तक सुबह तथा शाम को गर्म जल के साथ सेवन कराने से आमवात नष्ट हो जाता है। इस दवा को सेवन कराते समय मूंग की दाल और दूध का त्याग करा देना चाहिए।

पथ्य—वातव्याधि में स्निग्ध एवं पुष्टिकर भोजन देना चाहिए।

गठिया वात (Gout)

यह रोग प्रायः ३० वर्ष के उपरान्त ही होता है और स्त्री की अपेक्षा पुरुषों को ही यह विशेष रूप से होते देखा जाता है। इस रोग के आक्रमण के साथ ज्वर भी होता है। साधारण गठियाँ में पाँच छः रोज के बाद दर्द एवं ज्वर घटने लगता है। यह रोग वर्षा और बसंत ऋतु में ज्यादा हुआ करता है। यूरिक एसिड पूर्ण रूप से पेशाब के साथ नहीं निकल कर जब रक्त के साथ मिलकर छोटी सन्धियों में जम जाती है तब गठिया रोग हो जाता है। इस जमने वाले पदार्थ को "यूरेट ऑफ सोडा" कहते हैं।

गठिया होने पर चलने-फिरने को कौन कहे करवट बदलना भी कठिन हो जाता है। वातनाशक औषधियों से यह रोग भी अच्छा हो जाने वाला है। लेकिन यह रोग विशेषकर उपदश और प्रमेह विष द्वारा ही प्रस्फुटित होता है।

अतः रक्तशोधक अथवा लक्षण भेद से उपदंश और प्रमेह रोग में लिखित औषधियों से चिकित्सा करना श्रेयस्कर है।

शूल (Colic)

यह रोग वात, पित्त, कफ, सन्निपात आमरस, वातकफ, कफपिक और वातपित्त भेद से आठ प्रकार का होता है। चरक एवं सुश्रुत मतानुसार परिणाम, अन्न द्रव और जरित्पित्त नामक तीन और शूलों का वर्णन पाया जाता है। श्री माधवाचार्यजी का कथन है कि सभी प्रकार के शूल रोगों में प्रायः वात की ही प्रब ्ता होती है।

विशेष मैथुन, अत्यन्त रुक्ष, कड़वा, कषैला, स्निग्ध तथा गरिष्ट भोजन करने अथवा अन्दाज से अधिक भोजन कर लेने से पेट में शूल हो जाता है। मल, मूत्रादि वेग तथा अघोवायु वेग के रोकने तथा शोक एवं व्रतोपवास से भी पेट के अलावे हृदय, पार्श्व, पीठ, त्रिकस्थान एवं मल-मूत्रस्थान में शूल हो जाता है। अम्लशूल होने पर जी मिचलाना, मुँह में पानी भर आना तथा कै आदि उपसर्ग देखने में आते हैं। वृक्कशूल में बूँद-बूँद पेशाब होता है तथा पेशाब और पाखना का वृथा वेग बराबर बना रहता है। आयुर्वेद शास्त्र में ऊपर लिखे हुए ग्यारह प्रकार के शूलों का अलग-अलग विस्तृत वर्णन है लेकिन स्थानाभाव के कारण यहाँ पर शूलमात्र की ठोस परिभाषा ही रखी गयी है।

शूल होने पर पेट में सूई अथवा शलाका चुभने जैसा दर्द, पेट का गुड़गुड़ाना, मिचली, डकार, हिचकी, श्वासकष्ट, बेचैनी एवं पाखाना की वृथा प्रवृत्ति तथा पेशाब रुकना अथवा बूँद-बूँद पेशाब होना आदि लक्षण दिखलायी पड़ते हैं।

सभी प्रकार के शूल रोगों में गर्म सेंक से लाभ होता है। साधारण विरेचन तथा मूत्र प्रवंतक औषधियों का प्रयोग भी हितकर है। शूल का कारण जानकर चिकित्सा करने से शीघ्र लाभ होता है। इस रोग में सोडा वगैरह दवा की आदत डाल लेना भयानक भूल है।

राई और त्रिफले का चूर्ण शहद के साथ सेवन कराने से शूल मात्र का नाश हो जाता है। मैनफल को कांजी में अथवा हींग के जल में घोलकर नाभि

पर लेप करने से उदरशूल में लाभ होता है। तीसी की पुल्टिस में घी मिलाकर सुसुम लेप से प्रायः सभी स्थानों का शूल अच्छा हो जाता है।

शूलनाशक चूर्ण—शंखभस्म, करंजमूल, शुद्ध हींग, मिर्च, पीपल, कालीमिर्च और सेंधानमक समभाग लेकर चूर्ण बना लें। अनुपान—सुसुम जल।

शूलवर्जिनी बटी—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और लोहभस्म चार-चार तोले, शुद्ध सोहागा, शुद्ध हींग, सोंठ, मिर्च, पिपल, हर्रे, बहेरा, आँवला, शाठी, दालचीनी, इलायची, तेजपात, तालीसपत्र, जायफल, लौंग, अजवायन, जीरा और धनियाँ प्रत्येक दवा समभाग लेकर बारीक चूर्ण कर लेने के पश्चात् बकरी के दूध में घोंटकर एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान अजवायन का अर्क अथवा सुसुम जल। शूलरोग में जामुन तथा ईख का सिर्का भी बहुत अच्छा काम करता है।

शूल गजकेशरी रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, शुद्ध बच्छनाग, कौड़ीभस्म, जवाक्षार, सेंधानमक, पीपल और सोंठ को समभाग लेकर पहले पारद और गन्धक की कज्जली तैयार करें। पश्चात् अन्य औषधियों का बारीक चूर्ण मिलाकर पान के रस में घोंट, दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। गर्म जल के साथ। अनुपान भेद से यह "यो० र०" में लिखित दवा कुष्ठ, कृमि, प्लीहा, गुल्म, उदर रोग, संग्रहणी एवं अम्ल पित्त आदि रोगों में काम आती है।

शूल कुठार रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, सुहागा की खील, शुद्ध हरताल, शुद्ध बच्छनाग, शुद्ध जमालगोटा, ताम्रभस्म, हर्रे, बहेरा, आँवला, सोंठ, मिर्च एवं पीपल को समभाग लेकर पारद गन्धक की कज्जली तैयार करें। फिर उसमें अन्य औषधियों को मिलाकर भाँगरे के रस में घोट, २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान काली मिर्च का चूर्ण चाहे अदरक के रस के साथ—यह रसायन रेचक है। इससे विष्टम्भ और अजीर्णजन्य शूल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इससे मल संचय, अधोवायु की रुकावट और आँतों का मरोड़ भी अच्छा हो जाता है।

शूल नाशक रस—रस सिंदूर, शंख भस्म, शुद्ध गन्धक, सोंठ, मिर्च, पीपल, सेंधानमक, अम्लबेंत और सफेद जीरा समभाग लें। उक्त औषधियों

का अर्ध भाग शुद्ध कुचिला चूर्ण एकत्र करके अदरक और सहिजन के रस में घोट-कर २ रत्ती प्रमाण गोली बना लेवें। अनुपान गर्म जल।

कब्जियत रहने पर आरोग्य प्रकाश में लिखित अमलतास की चटनी बहुत अच्छा काम करती है। यह दवा अनेकों बार की परीक्षा की हुई है—

अमलतास की चटनी

एक सेर नीबू के रस में अमलतास का आधा सेर गुद्दा २४ घण्टों तक भिगोकर रखने के बाद झांजर कपड़े में छान लें। फिर दालचीनी, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, भुनी हुई हींग और बड़ी इलायची के बीच २॥-२॥ तोले तथा सेंधानमक, कालानमक, भुना हुआ काला दाना, भुना हुआ जीरा और अजमोद का ५-५ तोले चूर्ण मिलाकर दस तोले मुनक्का (बीज रहित) पीसकर डाल देवें। इस चटनी को खिलाकर ऊपर से गर्म जल पिलाने से कब्जियत अच्छी हो जाती है। कब्जियत में मधुयष्टि चूर्ण तथा अभयामोदक से भी बहुत ज्यादा लाभ होता है। इस रोग में दवा से अधिक परहेज की आवश्यकता है। शारीरिक परिश्रम से ज्यादा लाभ होता है।

उदर रोग

यह रोग वातादि भेद से—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, प्लीहा, बद्ध गुदा, क्षत और जल इस तरह से आठ प्रकार का होता है। रोगोत्पत्ति के निम्न कारण हैं :—

मंदाग्नि, अजीर्ण, मल संचय, क्षीर एवं मत्स्य के एक साथ ही भोजन तथा अन्य प्रकार के कुपथ्यादि स्वरूप उदर रोग पैदा होते हैं। उदर रोग का अर्थ मध्यगत रोग है। इस रोग के पूर्व रूप के विषय में श्री सुश्रुताचार्यजी ने लिखा है कि :—

यत्पूर्वं रूपं बलवर्णकांक्षा बलीविनाशी जठरे तु राज्यः।
जीर्णापरिज्ञान विदाहवन्यो वस्तौरुजः पादगतश्च शोथः॥

अर्थात् बल, वर्ण एवं इच्छा आदि का नाश तथा उदर में धारी पड़ जावें, जीर्णता, जलन, वस्ति में पीड़ा और पैरों में सूजन आ जाना उदर रोग का पूर्वरूप है।

वातोदर—में हाथ, पैर, नाभि एवं कुछ में सूजन, पेट पीठ एवं सन्धि-स्थान में दर्द; मलावरोध, पेट गुड़गुड़ाना तथा सूखी खाँसी आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस रोग में वातघ्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। त्रिफला के क्वाथ अथवा दशमूल के क्वाथ से इस रोग में लाभ होता है। क्वाथ में गोमूत्र अथवा अरंड तैल मिलाकर देने से ज्यादा लाभ होता है। गर्म दूध में रेड़ी का तेल और गो-मूत्र मिलाकर पिलाने से भी फायदा है।

पित्तोदर—में दाह, प्यास, जलन, ज्वर, भ्रम, मूर्छा तथा अतिसार के साथ-साथ धूमयुक्त डकार आती है। पेट की नसें पित्त अथवा हरे रंगयुक्त दिखलाई पड़ती हैं। मिश्री, काली मिर्च और नीबू के रस को जल के साथ पिलाने से पित्तोदर में लाभ होता है।

कफोदर—में सुस्ती, शरीर का भारीपन, झपैनी, अन्न से अरुचि, शरीर ठंडा, पेट में गुड़गुड़ाहट तथा पेट की नसें श्वेत रंगयुक्त हो जाती हैं। सोंठ, मिर्च, पीपल, अजवायन, जीरा और झाऊ वृक्ष की जड़ का चूर्ण अथवा काढ़ा कफोदर रोग के लिये हितकारी है।

सन्निपातोदर—में उक्त तीनों दोषों के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इसको दुष्योदर रोग भी कहते हैं। सोंठ और त्रिफला के क्वाथ में सिद्ध किया हुआ घृत सन्निपातोदर में विशेष फायदा करता है।

प्लीहोदर—में जीर्ण ज्वर, मंदाग्नि तथा कमजोरी आदि इसके लक्षण हैं। प्लीहा और यकृत के बारे में इसी पुस्तक में अन्यत्र पूर्ण विवरण देखें। —लेखक

बद्धगुदोदर—अपक्व अन्न सेवन करने से पेट की महीन आँतों में रुककर वातादि दोष के साथ मल का संग्रह हो जाता है। वह मल बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बहुत दर्द एवं कठिनाई से बाहर निकला करता है। ऐसी हालत में हृदय और नाभि का मध्यभाग बढ़ जाता है।

क्षतोदर—(इसको परिस्रावी भी कहते हैं)—भोजन के साथ कंकड़ काँटा

तथा कण आदि पक्वाशय में पहुँच आँतों में जाकर छिद्र कर देते हैं। ऐसी हालत में पेड़ू में सूजन के साथ पेट में दर्द एवं शूल भी होता है।

जलोदर—घी आदि चिकनी वस्तु पान करने, वस्तिकर्म करने, जुलाब लेने तथा वमन करने के पश्चात् तत्क्षण ही ठंडे जलपान करने आदि कारणों से जल-वाही नसें दूषित होकर जलोदर रोग पैदा कर देती हैं। जलोदर रोग होने पर नाभि के आस-पास चिकनाहट, पेट बढ़ जाना तथा पेट हिलने पर पेट में जल का हड़-हड़ शब्द करना आदि चिह्न देखने में आते हैं। इसको "उदकोदर" भी कहते हैं।

चिकित्सा—आक के पत्तों को मिट्टी के बर्तन में इस प्रकार रखें कि प्रत्येक पत्ते की तह पर सेंधानमक का चूर्ण डालता जाय। इस प्रकार पत्तों को रखने के पश्चात् पात्र का मुँह बन्दकर कंडे की आँच में पात्र को रखकर भस्म तैयार कर लें। इससे प्राय: सभी प्रकार के उदर रोग अच्छे हो जाते हैं।

नारायण घृत—थूहर का दूध, दात्यूणी, त्रिफला, बायबिडंग, कटेली, चित्रक और कुकुर भाँगरा को दो सेर की मात्रा में लेवें। पश्चात् उस दो सेर कूटी हुई औषधि को आठ सेर जल के साथ औटा लें। उस क्वाथ में एक सेर गाय का घी डालकर सिद्ध कर लें। मात्रा दो टंक। यह दवा विरेचक है। इससे सभी प्रकार के उदररोग दूर हो जाते हैं। (भावप्रकाश)

उदयभास्कर रस—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, सुहागा, पाँचों नमक और सज्जीखार सम भाग लेवें और इन सभी औषधियों के बराबर शुद्ध जमालगोटा का चूर्ण लेकर नात्युणी और नीबू के रस की तीन-तीन पुट देकर खरल कर लेने के पश्चात् आधी रत्ती की मात्रा से प्रयोग करें। इस दवा से समस्त उदर रोग, प्लीहा, गुल्म तथा आफरा आदि रोग अच्छे हो जाते हैं। इस दवा को आँख में आंजने से सर्प विष भी दूर हो जाता है। (रत्नप्रदीप)

उदरारि रस—नीलाथोथा, शुद्ध गन्धक, पीप्पली और हर्रे की छाल का चूर्ण थूहर के दूध में ५ दिन पर्यन्त और फिर माले की गुददी के रस में ५ दिन पर्यन्त खरल कर उष्ण जल के साथ नित्य ही एक माशे की मात्रा से दोनों सुबह शाम सेवन कराना चाहिए। इस दवा से जलोदर अच्छा हो जाता है। पथ्य के लिये चावल और इमली का शर्बत दें : (योगतरंगिणी)।

प्रवाल पंचामृत रस—प्रवाल पिष्टी २ तोला, मोती पिष्टी, शंख भस्म, मुक्ता शुक्ति पिष्टी और कौड़ी भस्म प्रत्येक एक-एक तोला लेवें। उसमें ६ तोले आक का दूध डालकर एक दिन अच्छी तरह से घोंटकर गोला बना, शराव सम्पुट में बन्द कर गजपुट में फूँक दें। दवा ठंडी हो जाने पर निकाल कर रख लेवें। मात्रा एक रत्ती से दो रत्ती तक दोनों शाम सेवन कराना चाहिए। अनुपान—पुनर्नवादि क्वाथ। अनुपान भेद से यह दवा गुल्म, प्लीहा, अग्निमांद्य तथा वातज रोग एवं अजीर्ण आदि में भी बहुत अच्छा काम करती है।

अभयारिष्ट—बड़ी हर्रे का छिल्का १२ सेर, मुनक्का ६। सेर, बायबिडंग १। सेर और महुए का फूल १। सेर को ६ मन १६ सेर जल के साथ औटावें। १ मन २४ सेर काढ़ा शेष रहने पर छान लेने के पश्चात् निम्नलिखित प्रक्षेप द्रव्य डालकर चिकने पात्र में अनुसंधान कर एक मास बाद छान कर रख लें।

प्रक्षेप द्रव्य—उक्त काढ़ा में १२॥ सेर गुड़ घोल देने के पश्चात् छोटा गोखरू, निशोथ, धनियाँ, धव के फूल, इन्द्रायन की जड़, सौंफ, चव्य, सोंठ, दन्ती मूल और मोचरस के २-२ तोले जवकूट चूर्ण मिला दें। (उक्त काढ़ा करते समय आधा औटा जाने पर महुए का फूल डालना उत्तम है) मात्रा १ से २ तोला समभाग जल के साथ दोनों शाम सेवन करावें। इस दवा से समस्त उदर रोग के अलावे गुल्म, मदाग्नि, यकृत रोग, हृद्रोग तथा बवासीर आदि रोग भी अच्छे हो जाते हैं।

———

अम्लपित्त रस

यह रोग रूखा, कड़वा, खट्टा एवं उष्ण भोजन विशेष के कारण पित्त दूषित होने के कारण हो जाता है। अम्ल पित्त रोग हो जाने पर—अनपच, खट्टी डकार, वमनेच्छा, शरीर का भारीपन, बिना परिश्रम के भी थकावट, हृदय तथा गले में जलन और खट्टी कै होना आदि लक्षण देखने में आते हैं। यह रोग मंदाग्नि के जैसा ही रोग है लेकिन चिकित्सा भेद के कारण इसका अलग वर्णन आया है। वातादि भेद से यह रोग वातज, वातकफज और कफज इस प्रकार तीन तरह का होता है तथा इसके ऊर्ध्व और अधोभेद भी होते हैं।

ऊर्ध्वगामी अम्लपित्त में हरा, नीला तथा काला, चिकना, कड़वा, खारा, तीखा एवं कफयुक्त अधिक परिमाण में मुख द्वारा कै होती है।

अधोगामी अम्लपित्त में नाना प्रकार के रंग युक्त पाखाना होता है। इसमें दाह, वमन, मूर्च्छा, भोजन में अरुचि, कन्ठ, कुक्ष, हृदय, हाथ और पैर आदि में जलन होती है।

वातयुक्त अम्लपित्त में कम्प, मूर्च्छा, प्रलाप, शूल, मोह तथा चक्कर आना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

कफयुक्त अम्लपित्त में आलस्य, निर्बलता, निस्तेजता, झँपैनी, सुस्ती, अरुचि तथा कफ वमन आदि लक्षण दृटिगोचर होते हैं। यह रोग नवीन दशा अर्थात् नया होने पर साध्य पुराना होने पर असाध्य हो जाता है।

चिकित्सा—अम्लपित्त में वामक एवं विरेचक औषधियों को प्रयोग कर वमन एवं विरेचन करा देने से लाभ होता है। ऊर्ध्वगामी अम्लपित्त में वमन एवं अधोगामी अम्लपित्त रोग में विरेचन से विशेष लाभ होता है।

नारिकेल खण्ड—नारियल का खोपरा छीलकर खरल में महीन कूट, गोदूध में डालकर खोवा तैयार कर लें। खोपरे से चौगुने बिनौले के रस में चीनी की चासनी तैयार कर लें। उक्त खोवा और चासनी मिलाकर उसमें धनियाँ, पिपलामूल, तज, पत्रज, इलायची और नागकेशर सब दवा का चूर्ण १-१ टंक लेकर अच्छी तरह से मिला लेवें। एक टंक प्रमाण गोलियाँ तैयार कर खिलाने से अम्लपित्त एवं रक्तपित्त रोग अच्छे हो जाते हैं। (भावप्रकाश)

अविपत्तिकर चूर्ण—सोंठ, मिर्च, पोपल, हर्रे, बहेरा, आंवला, नागरमोथा, बिडनमक, बायबिडंग, छोटी इलायची और तेजपात १-१ तोला और निशोथ की जड़ ४-४ तोला तथा मिश्री ६-६ तोले लेकर कूट कपड़छान कर लें। मात्रा तीन से ६ माशे तक। अनुपान कच्चे नारियल के साथ। इस दवा से अम्लपित्त एवं शूल में लाभ होता है।

लीला विलासरस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म, ताम्रभस्म और लौहभस्म समभाग लेकर पारागन्धक की कज्जली तैयार करने के पश्चात् अन्य औषधियों के चूर्ण मिला लेवें। उक्त औषधि को आंवला और बड़हड़ (जिसको लकुच भी कहते हैं) के स्वरस में तीन रोज घोंटकर एक दिन भांगरे रस की

भावना देने के पश्चात् एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान शहद, दूध का रस अथवा च्यवनप्राश। इस दवा से पित्त की शान्ति होती है। अम्लपित्त, तृषारोग, वमन एवं हृदय-दाह तथा कृमि आदि रोगों में भी लाभ होता है।

कामदुधा रस—मोती भस्म, प्रवाल भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, कौड़ी भस्म, शंखभस्म, स्वर्ण गेरु और गिलोय का सत्व समभाग लेकर एकत्र खरल कर लेवें। यह सौम्म एवं रसायन है। अनुपान भेद से यह दवा आम्लपित्त एवं जीर्ण ज्वर आदि काम में आती है।

द्राक्षादि गुटिका—धो लेने के पश्चात् बीज निकाला हुआ मुनक्का और हर्रे के छिलके का चूर्ण दोनों समभाग लेकर इन दोनों दवाओं के द्विगुण भाग चीनी मिलाकर १-१ माशा की गोलियाँ बना लें। दोनों शाम शीतल जल के साथ देने से अम्लपित्त, कण्ठ एवं हृदय के दाह तथा भ्रम, मूर्च्छा एवं मन्दाग्नि आदि रोगों में लाभ होता है। (सिद्ध योग सं०)

अम्लपित्त रोग में भी मन्दाग्नि रोग जैसा संयम परहेज रखना चाहिए। गोदूध सर्वोत्तम पथ्य है। कच्चे नारियल का पानी इस रोग में पथ्य एवं अनुपान दोनों के लिए काम आता है। मट्ठा का गुण तो पहले ही लिखा जा चुका है। अम्लपित्त रोग में मट्ठा बहुत ही उपयोगी पदार्थ है। अम्ल वस्तुओं से सख्त परहेज रखना परमावश्यक है।

———

गुल्म

आहार-विहार की गड़बड़ी होने के कारण वातादि दोषों में विकृति आने के फलस्वरूप गुल्म रोग हो जाता है। वातादि भेद से यह चार प्रकार का होता है लेकिन रक्तज गुल्म नामक एक प्रकार का गुल्म केवल स्त्री को होता है। अतः यह रोग वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज लेकर पाँच प्रकार का होता है।

गुल्म रोग होने पर हृदय और मूत्राशय के बीच एक प्रकार का गोला जैसा उत्पन्न हो जाता है। यह दो प्रकार का होता है। एक तो स्वस्थिर और दूसरा घूमने वाला। गुल्म रोग होने पर अन्न से अरुचि, मल और मूल त्यागने

में कठिनाई, पेट में वायु की वृद्धि एवं आँतों में शब्द होना आदि लक्षण पदा हो जाते हैं।

वातज गुल्म—यह रोग रूखे अन्न पान, विषमासन बैठने, अपने से बलवान के साथ लड़ने, चोट, चिन्ता और मल मूत्रादि के वेगावरोध के कारण पैदा होता है। इसमें कभी अधिक, कभी कम दर्द होना, रूक्ष, कषैला और कटु पदार्थ से दर्द में वृद्धि हृदय कुक्ष और पार्श्व में कठिन दर्द, भोजन पचने के पश्चात् दर्द लेकिन भोजन कर लेने पर दर्द का घटना आदि लक्षण पैदा होते हैं। वातज गुल्म में शरीर की कान्ति बिगड कर शरीर झांवर हो जाता है। इस रोग में कभी शीत ज्वर भी देखने में आता है।

चिकित्सा—हर्रे और अजवायन का चूर्ण अरंड तेल के साथ सेवन कराने से वातज गुल्म रोग अच्छा हो जाता है।

पित्ताज गुल्म—गरम, कटु, खट्टा तथा तीक्ष्ण पदार्थ एवं विशेष शराब पीने के कारण, धूप में ज्यादा घूमने अथवा ज्यादा अग्नि तापने तथा क्रोध करने और चोट लगने आदि कारणों से पित्तज गुल्म की उत्पत्ति होती है। यह रोग होने पर प्यास, दाह, ज्यादा पसीना निकलना, व्रण पैदा होना तथा भोजन करते समय गला पर हाथ लगाने से भयानक दर्द होना आदि लक्षण पैदा होते हैं।

चिकित्सा—आँवला, हर्रे, बहेरा और मिश्री को समभाग लेकर मधु के साथ सेवन करने से पित्तज गुल्म रोग में फायदा होता है।

कफज गुल्म - शीतल, भारी और चिकने पदार्थ के सेवन तथा दिन में सोने आदि कारणों से कफज गुल्म रोग होता है। इस रोग में भोजन से अरुचि, शरीर का भारीपन, सुस्ती, ज्वर, खाँसी, सर्वाङ्ग पीड़ा तथा वमन आदि लक्षण देखने में आते हैं—

चिकित्सा—त्रिफला, कूट, सज्जी और जवाखार समभाग लेकर चूर्ण बना लेवें। मात्रा आठ आने भर। अनुपान अरंड के साथ।

सन्निपातज गुल्म—इस रोग में वातादि तीनों दोषों के उपसर्ग देखने में आते हैं।

चिकित्सा—चार आने भर सोरा को चार आने भर अदरक के रस के साथ सेवन कराने से गुल्म रोग में बहुत ज्यादा लाभ होता है। शंखद्राव, कुमार्यासव, प्राणावल्लभ रस तथा महानाराच रस से गुल्म का नाश हो जाता है।

वज्रक्षार चूर्ण—साँभरनमक, सेंधानमक, कालानमक, सोंचरनमक, जवाखार सोहागा और सज्जी को समभाग लेकर चूर्ण बना लेवें। उक्त चूर्ण को थूहर के दूध में तीन रोज तक भिगो रखने के पश्चात् दूध में सुखा लेवें। इस चूर्ण को आक के पत्तों में लपेटकर घड़े में भर लेने के पश्चात् गजपुट में फूंक कर शीतल होने पर निकाल लेवें। उक्त भस्म में सोंठ, मिर्च, पीपल, त्रिफला, अजवायन, जीरा और चित्रक का चूर्ण उक्त औषधियों के मात्रानुकूल ही मिलाकर गोमूत्र के साथ सेवन कराने से गुल्म रोग का नाश हो जाता है।

गुल्म कुठारस—नागभस्म, वंगभस्म, अभ्रक भस्म, कान्तलौह भस्म और ताम्रभस्म सबको समान भाग लेवें। जम्बीरी नीबू के रस में घोंटकर एक रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। मात्रा एक दो गोली सुबह तथा शाम को। अनुपान—अदरक का रस, सज्जीक्षार, यवाक्षार चूर्ण के साथ अथवा शहद के साथ सेवन कराने से गुल्म रोग नष्ट हो जाता है।

नाराच रस—शुद्ध पारा, सुहागे की खील और काली मिर्च का चूर्ण १-१ तोला, शुद्ध गन्धक, सोंठ और पीपल २-२ तोले तथा शुद्ध जमालगोटा। पारद गन्धक की कज्जली तैयार कर लेने के पश्चात् अन्य औषधियों का चूर्ण मिलाकर २ दिन पर्यन्त खरल करके दवा तैयार कर लेवें। मात्रा एक से दो रत्ती चावल के धोवन के साथ। प्रातः चार बजे दवा खिलाना चाहिए। इस दवा को खिलाकर ठंडा जल देते रहना चाहिए। इस दवा से सुखपूर्वक विरेचन होता है। इस दवा को सेवन कराने के पश्चात् रात को मूंग की खिचड़ी देना चाहिए।

रक्तज गुल्म—यह रोग स्त्री के रोग के अन्तंगत है। इस रोग के होने का निम्नलिखित कारण श्रीमाधवाचार्यजी ने बतलाया है :—

नवप्रसूता स्त्री का कुपथ्य सेवन, अपक्व गर्भ को गिरवा देने अथवा रजोधर्म के समय कुपथ्य सेवन से यह रोग हो जाता है। इस रोग में पित्तज गुल्म के विशेष चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं। रक्तज गुल्म होने पर गर्भ का सन्देह होने

लगता है। चूँकि इस रोग में भी मासिकस्राव रुक जाता है। सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि मुँह में पानी भर आना, भोजन में अरुचि तथा कै आदि लक्षण भी देखने में आते हैं। गर्भावस्था में स्तन का अग्रभाग काला हो जाता है उसी प्रकार रक्तज गुल्म में भी देखने में आता है। अतः रक्तज गुल्म की चिकित्सा करने के पहले किसी अच्छी धाय से पूर्ण रूपेण जाँच कराकर ही चिकित्सा करना उचित है।

कुछ आचार्यों का मत है कि दस मास पर्यन्त तक अर्थात् गर्भाधान से प्रसव काल तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् ही चिकित्सा करना उचित है। अधिक दिनों तक गुल्म रोग रह जाने पर कछुआ के सदृश पेट मात्र में छा जाता है जो कष्ट-साध्य ही नहीं बल्कि असाध्य अथवा महाकाल के रूप में ही प्रकट होता है।

चिकित्सा—रोग का अच्छी तरह निर्णय हो जाने पर निम्नलिखित औषधियों से लाभ होता है:—

सौंफ, गणकच की जड़, तज, दारू हल्दी और पीपल के क्वाथ में तिल, गुड़, सोंठ, काली मिर्च, सेंकी हींग और भारंगी डालकर पुनः औटा छान कर लेवें। इस काढ़ा से रक्तज गुल्म दूर होकर मासिकस्राव जारी हो जाता है।

कंकायन वटी—कपूर कचरी, पुहकर मूल, दन्ती, चीता, अरहर, अदरक, बच और निसोथ चार-चार तोले, अजवायन, जीरा, काली मिर्च और धनियाँ १।-१। तोले, कलौंजी और अजमोद २॥-२॥ तोले, जवाखार १० तोले तथा सेंकी हुई हींग १५ तोले को चूर्ण बनाकर जम्जीरी नीबू के रस में घोंटकर गोलियाँ बना लेवें। गोमूत्र अथवा गर्म जल के साथ सेवन करने से सभी प्रकार के गुल्म नष्ट हो जाते हैं। रक्तज गुल्म में रजः प्रवर्तिनी वटी से भी लाभ होता है।

पथ्य—गाय और बकरी का दूध, साठी चावल का भात। चूने का पानी दूध के साथ मिलाकर पिलाने से भी लाभ होता है। अरंड तैल से पेट साफ करते रहना भी हितकर है। रक्तज गुल्म में रेचन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। उष्ण जल के स्नान एवं टहलने तथा साधारण परिश्रम से भी लाभ होता है।

यकृत रोग (Diseases of the liver)

यकृत द्वितीया के चन्द्रमा के आकार का होता है—इस पुस्तक में यकृत के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है कि यकृत शरीर का सर्वप्रधान यन्त्र है। आज-कल यकृत के रोगियों क संख्या बहुत ज्यादा बढ़ गयी है तथा यकृत में विभिन्न प्रकार के रोग भी होने लग गये हैं। पुरातन काल के लोग आज के लोगों से परिश्रमी एवं पराक्रमी होते थे। आज के युग में व्यसन एवं व्यवसाय का साम्राज्य है। कमजोर माता-पिता की सन्तान भी दिन पर दिन निर्बल एवं कल्पनाहीन होती जा रही हैं। पहले के युग में मनुष्य को शुद्ध भोजन, शुद्ध जल एवं शुद्ध वायु मिलती थी जिसके फलस्वरूप लोग स्वस्थ एवं विस्तृत मस्तिष्क वाले होते थे। आज भी ऐसा देखने में आता है कि देहात में रहनेवाले ग्रामवासियों की अपेक्षा शहरी लोगों में यह रोग विशेष रूप से देखने में आता है।

कलियुग में अन्नमय प्राण है, अर्थात् आज के युग में शरीर के लिए अन्न जल ही स्तम्भ स्वरूप हैं। लेकिन अन्न जल अर्थात् भोजन मिलने पर भी अगर उसका ठीक रीति से सेवन नहीं हो तो भोजन करना एक प्रकार का शारीरिक बोझ ही साबित होता है। भोज्य पदार्थ की तीसरी पाचनावस्था में यकृत द्वारा पित्त आकर भोजन का शुद्ध पाक कर देता है। ऐसा होने से भोजन का सारा भाग रस बनकर पश्चात् रक्तादि धातुओं से होते हुए शुक्र बन जाता है और भोजन की सिट्ठी मल, मूत्र, पसीना, कान की खोंट और आँख का कीचड़ आदि के रूप में बाहर निकल जाती है, हाँ उक्त पित्त अगर भोजन से नहीं मिलकर रक्त से मिल जाय तो महा अनर्थ हो जा सकता है। यकृत, भोज्य पदार्थ एवं रक्त का माध्यम यन्त्र है।

शर्करायुक्त भोजन आँत से पचकर यकृत में पहुँच, एक प्रकार का रस स्वरूप हो जाता है जिसको अंग्रेजी भाषा में ग्लाइकोजन कहते हैं। यकृत छिद्रों में रहकर उक्त रस पुनः शर्करा के रूप में परिवर्तित होकर यकृत शिरा के सहारे रक्त में मिल जाता है। एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली के मतानुसार पाँच सौ छँटाक रक्त में लगभग आधी छँटाक शर्करा पायी जाती है। यही कारण है कि यकृत की क्रिया

में विकृति आने पर पेशाब में चीनी आना तथा विभिन्न प्रकार के रक्तज रोग देखने में आते हैं।

परीक्षण द्वारा वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया है कि चर्बी तैयार करने में भी सर्व प्रधान कार्य यकृत का ही है। उन लोगों का कहना है कि आहार में निसस्ता (जिनको अंग्रेजी में स्टार्च कहते हैं) रहता है जिसके द्वारा शर्करा और चर्बी तैयार होती है।

एलोपैथी मतानुकूल यकृत की स्थान च्युति, यकृत-शोथ, यकृत उपदंश, यकृत का सौत्रिकतन्तुमय परिवर्तन, यकृत का तीव्र प्रदाह तथा यकृत का फोड़ा आदि प्रायः २० रोगों का वर्णन मिलता है। यूनानी चिकित्सा शास्त्र मतानुकूल भी यकृत की निर्बलता, कलेजे में सूजन, कलेजे में धड़कन, कलेजे का सिकुड़न तथा पीलिया आदि प्रायः १७ प्रकार के यकृत रोगों का वर्णन मिलता है।

आयुर्वेद-शास्त्र में यकृत से उत्पन्न होने वाले रोगों की मुख्य संख्या प्रायः निम्नलिखित १३ प्रकार की बतलायी गयी हैं :—

ज्वर, जलन, पाण्डु, रक्त वमन, मधुमेह, सरदर्द, शरीर की श्यामवर्णता, राजयक्ष्मा, यकृतोदर, यकृति विद्रधि, श्वास, हिचकी और आँखों में लाली छा जाना।

आयुर्वेद मतानुसार यकृत रोग की कुछ चुनी हुई औषधियाँ :—जवाखार को ऊँटनी के दूध के साथ सेवन कराने से लाभ होता है।

यकृत-प्लीहारि लौह—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म और अभ्रक-भस्म १-१ तोला ताम्र भस्म २ तोले, शुद्ध जमालगोटा शुद्ध मनःशिला, सुहागे का लावा, शुद्ध शिलाजीत और हल्दी का चूर्ण आठ-आठ आने भर लेवें। पारद गन्धक की कज्जली बनाकर उक्त औषधियों को मिला लेने के पश्चात निम्नलिखित औषधियों से १-१ भावना देकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। भावना औषधि दन्ती मूल, निसोथ, चीता, सम्भालू, त्रिकूटा, अदरक और भाँगरा। अनुपान गोमूत्र अथवा तक्र के साथ। यह यकृत रोग की महौषधि है। इसके सेवन से मन्दज्वर, आमजन्य विकृति तथा मन्दाग्नि आदि रोगों का नाश हो जाता है।

यकृदारि लौह—शुद्ध पारा, अभ्रक भस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल, कुटकी, त्रायमाण, अतीश, पाठा, नीम की छाल, हर्रे, चित्रक मूल, पित्तपापड़ा और नागरमोथा १–१ भाग तथा लौह भस्म सभी औषधियों के अर्ध भाग लेवें। उक्त सभी औषधियों को एक दिन गुर्च से घोटकर तीन-तीन रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान—गोमूत्र अथवा जल के साथ। इसके द्वारा पाचन-क्रिया ठीक हो जाती है तथा पित्त एवं रक्त अपने-अपने स्थान पर उचित कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं।

पिप्पल्यासव—पीपल, मिर्च, हल्दी, चव्य, चीता, नागरमोथा, वायबिडंग, सुपारी, लोध्र, जलजमनी, पाठा, आँवला, एलुआ, खस, लाल चन्दन, कूट, लौंग, तगर, जटामांसी, दालचीनी, इलायची, तेजपात, प्रियगू और नागकेसर प्रत्येक ढाई तोले, धाय का फूल १० छटांक, मुनक्का ३॥। सेर, गुड़ १८॥। सेर लेकर कूटने वाली औषधियों को जवकूट कर ६४ सेर जल के साथ घोलकर चिकने मटके में अनुसंधान कर आसव तैयार कर लेवें। मात्रा एक से २ तोले तक। भोजनोपरान्त दोनों शाम सेवन कराना चाहिये। अनुपान समभाग ताजा जल। इसके सेवन से उदररोग, पाण्डुरोग, गुल्म, ग्रहणी, मदाग्नि, मन्दज्वर, अरुचि तथा आंतों की कमजोरी भी ठीक हो जाती है।

रोहितकारिष्ट—कोहड़े की छाल ६। सेर को यवकूट कर ११२ सेर जल में औटाकर चौथाई अर्थात् २८ सेर शेष रहने पर छान लेवें। इस काढ़ा में १२॥ सेर गुड़ १ सेर धाय का फूल, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, दालचीनी, इलायची, तेजपात, हर्रे, बहेरा एवं आँवला प्रत्येक ५-५ तोला मिला कर मिट्टी के चिकने पात्र में अनुसंधान कर दवा तैयार कर लेवें। १ से २ तोले तक समभाग जल के साथ दोनों शाम। इसके सेवन से यकृत-प्लीहा के रोग, वायुगोला, अग्निमांद्य, पाण्डु, संग्रहणी, हृद्रोग तथा कुष्ठादि रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

अरोग्यवर्धिनी गुटिका—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, अभ्रक भस्म, लौह भस्म और ताम्र भस्म प्रत्येक दवा १-१ तोला, शिलाजीत ३ तोले, शुद्ध गुग्गुल और चित्रक मूल ४-४ तोले कुटकी २२ तोले तथा त्रिफला ६ तोले लेवें। पारद गन्धक की कज्जली तैयार करने के पश्चात् सभी औषधियों का बारीक चूर्ण मिला-

कर दो दिन पर्यन्त नीम की पत्ती के रस में घोंट कर ४ रत्ती की गोलियाँ तैयार कर लेवें। इक दवा से यकृत रोग के अलावे कुष्ठ रोग का भी नाश हो जाता है।

बृहद लोकनाथ रस—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक दो तोले और अभ्रक भस्म १ तोला को घृतकुमारी के रस में खरल कर लेवें। पश्चात् ताम्र भस्म और लौह भस्म २–२ तोले और कौड़ी भस्म ६ तोले को मिलाकर काकमाची के रस में घोंट, गोला बना गजपुट में फूँक देवें। मात्रा २ रत्ती अनुपान मधु।

पथ्य—मन्दाग्नि रोग में लिखे हुए पथ्य परहेज के साथ रहना चाहिये। इसके रोगी को साधारण व्यायाम एवं खुली हवा में टहलना हितकर है। घी और चीनी से सख्त परहेज रखना परमावश्यक है।

———

प्लीहा रोग (Diseases of the Spleen)

जिस प्रकार अनियमित आहार-विहार, अत्यधिक मद्यपान, वात रोग, मलेरिया, सन्निपातिक ज्वर तथा स्त्रियों के ऋतुस्राव बन्द होने आदि कारणों से यकृत रोग पैदा होता है उसी प्रकार प्लीहा रोग भी। प्लीहा का वर्णन भी पहले ही किया जा चुका है लेकिन संक्षेप में इसका परिचय यहाँ भी दिया जा रहा है।

जिस प्रकार यकृत मनुष्य के दाहिने भाग में स्थित है उसी प्रकार वाम भाग में प्लीहा अर्थात् तिल्ली का स्थान है। पूर्ण स्वस्थ मनुष्य की तिल्ली लगभग ४-५ इन्च लम्बी और ३-४ इन्च चौड़ी तथा डेढ़ इन्च मोटी होती है। इसका वजन लग-भग ७ औंस अर्थात् पावभर के करीब होता है।

प्लीहा रोग की परीक्षा खाली पेट ही करना अच्छा होता है। यकृत रोग वातादि भेद से चार प्रकार का बतलाया जाता है। इसके अलावे तिल्ली में पीव, तिल्ली की निर्बलता, तिल्ली के कण, तिल्ली में गाँठ और तिल्ली में सूजन वगैरह रोग के भी वर्णन मिलते हैं।

प्लीहा रोग होने पर मंदाग्नि, मंदज्वर तथा बल और शक्ति का नाश होकर मनुष्य क्षीण होता जाता है।

वातज प्लीहा—बदन का रूखापन, पेट में अफरा तथा शूल आदि उपद्रव देखने में आते हैं। पित्तज प्लीहा में—दाह, ज्वर, प्यास, जलन तथा शरीर का वर्ण पीत हो जाना आदि लक्षण देखने में आते हैं।

कफज प्लीहा—मुँह का स्वाद मीठा, शरीर का भारीपन, आलस्य तथा खाँसी वगैरह उपसर्ग देखने में आते हैं। कफज प्लीहा बडी हुआ करती है। रक्तज प्लीहा में—अंग में भारीपन, भ्रम, दाह, ज्वर तथा शरीर एवं नेत्र में लाली आदि लक्षण देखने में आते हैं।

चिकित्सा—जवक्षार और अर्कक्षार को मिलाकर चार आने भर की मात्रा से सवेरे-शाम गोमूत्र के साथ सेवन कराने से लाभ होता है। कूट, कुटकी, करञ्ज, त्रिफला, काला नमक, अजवायन और पीपल १-१ तोला को चूर्ण बना लेवें पश्चात् उसमें ताम्र भस्म, लौह भस्म और त्रिविक्रम रस १-१ तोला मिलाकर एक दिन पर्यन्त नीबू के रस में अच्छी तरह से घोंटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान गोमूत्र अथवा लोहासव। इस दवा से यकृत और प्लीहा रोग में बहुत ज्यादा लाभ होता है।

तिल्ली अधिक बढ़ जाने अथवा उसमें फोड़ा हो जाने पर पेट का बाम भाग अर्थात् जहाँ प्लीहा का स्थान है, सूज जाता है। ऐसी हालत में बिना हाथ लगाए आँख से देखने पर ही पता चलता है कि प्लीहा बढ़ गयी है। प्लीहा में सूजन आ जाने पर अरंड की छाल, रीठे की छाल और नागफनी के पत्तों को हलुआ जैसा बनाकर प्लीहा पर सुसुम लेप करने से लाभ होता है। केवल नागफनी की जटा को भी तवे पर गरम कर बाँधने से लाभ होता है। इस प्रयोग में सावधानी से काम लेना परमावश्यक है। चूँकि नागफनी के पत्ते का काँटा निकाल, ऊपर का छिलका हटाकर तावा पर गर्म करना पड़ता है। ऐसा हालत में गुद्दा इतना ज्यादा गर्म हो जाता है कि अगर सावधानी से काम नहीं लिया जाय तो उससे हाथ अथवा प्लीहास्थान जल जाने का डर रहता है। प्लीहा में फोड़ा होकर पक जाने पर शस्त्र चिकित्सा द्वारा लाभ उठाना चाहिये।

प्लीह पर—यूनानी नुस्खा :—

हब्बसिकबनिज

सिकबनिज, एलुवा, गुगुल और गारीकून समभाग लेकर पानी के साथ घोट सात से साढ़े दस माशे तक की गोलियाँ तैयार कर लेवें।

प्लीहा पर बम्बई को एक पेटेण्ट दवा (Spleen Cure)

फेरी पर क्लोराइड आधा ड्राम, लाइकर आर्सेनिक १५ बूँद, कुनैनसल्फ ६५ ग्रेन, मैग्नेसियासल्फ एक औंस, एक्सट्रेक्ट आरगट लिक्विड २० बूँद, एमोनिया क्लोराइड आधा ड्राम और एक्वा क्लोर फार्म तीन औंस। उक्त सभी औषधियों को एकत्र मिलाकर ३२ माशा दवा तैयार होती है। इसको सुबह, दोपहर तथा शाम को पिलाने का विधान है। दवा पिलाने के पहले बताशा अथवा मुनक्का खिला देना चाहिये।

जमराँवा फतेहपुर निवासी श्री डा० रामकृष्ण वर्मा जी ने लिखा है कि प्लीहा और मलेरिया ज्वर में इससे लाभ होगा। इस दवा की लागत दो आने और चार औंस की शीशी का दाम १।।) रखा गया है।

इस प्रकार की बहुत सी पेटेण्ट औषधियाँ बाजारों में देखी जाती हैं लेकिन पेटेण्ट का तो अर्थ ही सेवा नहीं बल्कि व्यापार होता है।

आयुर्वेद शास्त्रानुकूल यकृत और प्लीहा रोग दोनों में यकृत पर लिखी औषधियाँ काम आती हैं। अतः यकृत प्रकरण की दवा और पथ्य से लाभ उठावें।

———

हृद्रोग (Heart disease)

हृदय शरीफा फलाकार एक यन्त्र है जो वाम पार्श्व के स्तन के समीप रहता है। इसको रक्त सञ्चालन यन्त्र भी कहते हैं। यह बराबर खुलता और बन्द होता रहता है। इसकी गति रुक जाने पर मृत्यु हो जाती है। इसका पूर्ण परिचय पहले ही लिखा जा चुका है। मिथ्या-आहार-विहार तथा अत्यधिक शोक भय, चोट, गर्मी तथा चिन्ता आदि से यह रोग हो जाता है। मानसिक परिश्रम करनेवालों में तो इस रोग का खास स्थान बन जाता है। वातादि भेद से यह रोग पांच प्रकार का होता है।

वातज हृद्रोग—में हृदय में मंथन तथा संकोचन जैसा अनुभव होता है। अतः वातज हृद्रोग होने पर हृदय में कुल्हाड़ी की चोट की तरह पीड़ा होने लगती है। पित्तज हृद्रोग में—प्यास, मूर्च्छा, पसीना, साधारण जलन तथा मुख का सूखना आदि लक्षण पैदा होते हैं। कफज हृद्रोग में-मन्दाग्नि, कफ निकलना, शरीर का भारीपन, सुस्ती तथा हृदय में जकड़ने का भाव आदि लक्षण देखने में आते हैं। त्रिषोद हृद्रोग में उक्त तीनों दोषों के लक्षण उपस्थित रहते हैं। अगर कुपथ्य हो जाता है तब हृदय में ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। कृमिज हृद्रोग में मुँह का सूखना, सर में चक्कर; मिचली, कै, खुजलाहट तथा हृदय में नोचने की-सी पीड़ा होती है। हृद्रोग होने पर मन में चंचलता, हृदय में धड़कन और दर्द, नाड़ी की गति में तीव्रता, मृत्युभय, अनिद्रा तथा मूर्च्छा और भ्रम आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

चिकित्सा—पुष्करमूल का चूर्ण मधु के साथ सेवन कराने से हृद्रोग में लाभ होता है :—

हरीतक्यादि चूर्ण—हर्रे की छाल, बच, रास्ना, सोंठ, पीपल, कचूर और पुहकरमूल को समभाग लेकर चूर्ण बना लेवें। अनुपात जल। इस दवा से हृद्रोग में ज्यादा लाभ होता है। अर्जुन वृक्ष की छाल की हृदय पर बहुत सुन्दर क्रिया होती है। अतः अर्जुन घृत क्वाथ तथा आरिष्टादि से हृदय रोग दूर हो जाता है।

अर्जुनारिष्ट—अर्जुन वृक्ष की छाल ६। सेर, मुनक्का तीन सेर आध पाव और महुए का मूल सवा सेर को कूट लेने के पश्चात् ६४ सेर जल में औटा कर काढ़ा तैयार कर लेवें। बचे हुए १६ सेर जल को छानकर उसमें गुड़ ६। सेर और धाय का फूल सवा सेर मिलाकर आरिष्ट विधि से अनुसन्धान कर एक मास बाद छान लेने के पश्चात् काम में लावें।

अर्जुन घृत—अर्जुन छाल का स्वरस १६ सेर लेवें। अगर स्वरस नहीं मिले तब १६ सेर छाल को ६४ सेर पानी में औटाकर काढ़ा तैयार कर लेवें। उक्त स्वरस अथवा काढ़ा के बाद अर्जुन का कल्क एक सेर से लेकर ४ सेर गो घृत में डालकर सिद्ध कर लेवें।

हृदयार्णवरस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक एक-एक तोला, ताम्र भस्म दो तोले लेवें। पहले पारद और गन्धक की कज्जली तैयार करें पश्चात ताम्र भस्म को भी अच्छी तरह से मिलाकर एकदिल कर लेवें। उक्त कज्जली को त्रिफला और मकोय के रस में एक-एक दिन खरल करके चना प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा को दोनों शाम सेवन कराने से लाभ होता है। अगर निम्नलिखित क्वाथ के साथ इस योग का प्रयोग किया जाय तो बहुत ज्यादा फायदा होता है। मकोय का फल सवा तोले, त्रिफला का चूर्ण पांच तोले और जल ४० तोले, शेष काढ़ा १० तोले भैषज्य रत्नावली में लिखा कल्याण सुन्दर रस भी बहुत ज्यादा लाभकर होता है।

पथ्य—हृद्रोग में पुष्टकर भोजन देना हितकर है। साधारण परिश्रम करने पर भी यह रोग विराट रूप धारण कर लेता है। अतः रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

मूत्रकृच्छ्र और मूत्रघात

पेशाब की थैली में पेशाब रुक जाने पर मूत्रकृच्छ्र और पेशाब सूख जाने पर मूत्रघात कहते हैं। मूत्रकृच्छ्र को मूत्रस्तम्भ भी कहा जाता है। मूत्रस्तम्भ वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, प्रहारज, मलावरोधजन्य, शुक्रावरोधजन्य तथा पथरीजन्य इस प्रकार आठ तरह का होता है। यह रोग तीक्ष्ण, उष्ण, कच्चे तथा रूखे अन्नपान, जलचर जीवों के मांस खाने तथा अजीर्ण में भोजन, अधिक मद्यपान, घोड़े की सवारी, नृत्य तथा अत्यधिक परिश्रम करने के कारण हो जाता है। मूत्र स्तम्भ हो जाने पर पेशाब बन्द हो जाता है अथवा बहुत कठिनाई से जलन एवं दर्द के साथ-साथ बूँद-बूँद पेशाब होता है।

मूत्रघात रोग भी कुपथ्यादि कारणों से ही होता है। यह रोग १३ प्रकार का होता है। यथा—कुण्डलिका, अठीला, वातवस्ति, मूत्रातीत, मूत्रजठर, मूत्रोत्संग, मूत्रक्षय, मूत्रग्रन्थि, मूत्रशुक्र, उष्णवान, मूत्रसाद, विडविघात और वस्ति कुण्डली। (इनके लक्षण माधवनिदान में देखें।)

चिकित्सा—जवाखार और मिश्री का चूर्ण ताजा गौ के दूध के साथ सेवन कराने से लाभ होता है। आँवले का रस और शहद मिलाकर सेवन कराना हितकर है। जवाखार को गोखरू के साथ सेवन करने से फायदा होता है।

गोक्षुरादि क्वाथ—बड़ा गोखरू, किरवारे की गिरी, डाभ की जड़, कास की जड़, जवासा, आँवला, पाषाण-भेद और हर्रे की छाल समान भाग लेकर काढ़ा तैयार कर लेवें। अनुपान मधु—गोक्षुरादि गुग्गुल के सेवन से भी बहुत ज्यादा फायदा होता है।

गोक्षुरादि चूर्ण—गोखरू, तालमखाना, शतावर, कौंच के बीज, नागबला और खरैंटी को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। मात्रा ३ से ६ माशे दोनों शाम अथवा आवश्यकतानुसार सेवन करावें। अनुपान—मिश्री युक्त गौ के दूध के साथ।

त्रिविक्रम रस—अश्मरी रोग पर—२० तोले ताम्र भस्म को २० तोले बकरी के दूध में पकावें। दूध के सूख जाने पर २० तोला शुद्ध पारा और २० तोले शुद्ध गन्धक मिलाकर उक्त तीनों औषधियों की कज्जली तैयार कर एक दिन सम्भालू के पत्तों के रस में घोंट, गोला बनाकर सुखा लेवें। पश्चात सम्पुट में बन्द कर बालुका यन्त्र में रख तीन घन्टों तक तीव्र आँच देकर पका लेवें। शीतल होने पर दवा को निकाल कर पीस लेवें। मात्रा एक से दो रत्ती। अनुपान हजरूल यहूद की भस्म तीन रत्ती और मधु के साथ। इस दवा से मूत्रस्तम्भ, मूत्रघात तथा पथरी रोग में लाभ होता है।

चन्दनादि वटी—श्वेत चन्दन चूर्ण, छोटी इलायची के बीज, कबाब चीनी, सफेद राल, गन्धा बिरोजा का सत, कत्था और आँवला प्रत्येक ४-४ तोला और कपूर एक तोला लेवें। उक्त सभी औषधियों का चूर्ण बनाकर चन्दन के पांच तोले तेल में रसौत मिलाकर सभी औषधियों के एकदिल करके गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा से बहुत ज्यादा लाभ होता है। अनुपान—ठंढा जल। यह आचार्य यादव जी का योग है।

चन्दनासव—सफेद चन्दन, नेत्रवाला, गंभारी की छाल, प्रियंगू का फूल, पद्माख, पाठानी लोध, मजीठ, लालचन्दन, पाठा, चिरायता, बड़ की छाल,

पीपर की छाल, कचनार की छाल, आम की छाल, कचूर, पित्तपापड़ा, मुलेठी, रास्ना, परवल का पत्ता और मोचरस प्रत्येक औषधि ५-५ तोले और धाय का फूल सवा सेर लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। उक्त औषधियों को ३२ सेर जल में घोलकर उसमें ६ 1/4 सेर चीनी अथवा खांड और ३ सेर २ छटांक गुड़ मिलाकर एक पात्र में रखकर एक मास तक संधान कर रखने के बाद छान कर काम में लावें। मात्रा एक से दो तोले तक। इस दवा से पेशाब की जलन, धातु स्राव, श्वेत प्रदर, उपदंश, अग्निमांद्य तथा हृद्रोग में भी लाभ होता है।

मूत्रकृच्छ्र और मूत्रघात रोग में बाह्य प्रयोग से भी बहुत ज्यादा लाभ होता है। उदर पर चूहे की मींगी अथवा कलमी सोरा और केले की जड़ छापने से पेशाब उतर जाता है। अगर गर्म सेंक देना हो तो पुराना कम्बल का टुकड़ा अथवा ऊनी वस्त्र को उबाल कर उदर पर सेंक करने से लाभ होता है। उक्त रोगों में मूत्र-प्रवर्तक औषधियों का सेवन तथा पुराने चावल का भात तथा उड़द का यूष सेवन कराना चाहिए। परिश्रम, व्यायाम, मैथुन तथा क्रोध एवं उत्तेजना से रोग बढ़ जाता है। अतः रोगी को बिलकुल शान्त भाव से विश्राम करना चाहिए। दूध, दही, मट्ठा, कच्चा नारियल, मूँग की दाल तथा चौलाई का साग सेवन कराना श्रेयस्कर है।

बहुमूत्र (Diabetes)

बहुमूत्र रोग दो प्रकार का होता है, यथा मूत्रमेह और मधुमेह। ज्यादा परिमाण में और जल्दी-जल्दी पेशाब होने पर भी अगर पेशाब में चीनी अथवा कोई दूषित पदार्थ नहीं निकलता है तो उसको मूत्रमेह अथवा मूत्रातिसार रोग कहते हैं। जब पेशाब के साथ चीनी निकलने लगती है जिसके कारण शरीर के पोषण में बाधा पड़ने लगती है तब मधुमेह रोग समझा जाता है। शीतल एवं मूत्र प्रवर्तक वस्तुओं के विशेष सेवन करने तथा ठण्ढ लग जाने के कारण भी कभी-कभी ज्यादा पेशाब होने लगता है लेकिन इससे कोई डर की बात नहीं रहती। ऐसा रोग स्वयं ही दो-चार दिनों में अच्छा हो जानेवाला है।

शरीर पोषण के लिये भात तथा रोटी आदि से चीनी का स्थान श्रेयस्कर समझा जाता है। चीनी को खाने पर आँतों में पचकर रस तैयार होता है। वह रस रसवाही नाड़ी द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करता हुआ यकृत में पहुँचता है। यहाँ आकर वह पुनः चीनी का रूप धारण कर यकृत कोष में ठहरने के पश्चात् यकृत शिरा में प्रवेश करता है। पश्चात् अधोगामी महाशिरा द्वारा हृत्पिण्ड में प्रवेश करता है और वहाँ से फेफड़ों में। इसी प्रकार भ्रमण करता हुआ रक्त के साथ हृत्पिण्ड में पहुँचता है और फिर आवश्यकतानुसार शरीर मात्र में पहुँच जाता है। वास्तव में आरोग्य मनुष्य के लिये चीनी बहुत ही उत्तम पदार्थ है। मगर हाँ, जब किसी विशेष कारणवश यकृत की उक्त प्रक्रिया में विषमता उत्पन्न हो जाती है तब चीनी का प्रवेश के साथ निकलना सम्भव हो जाता है। मधुमेह रोग के विषय में लिखा भी है कि यह रोग हृदय, मस्तिष्क, क्लोम और गुर्दे से सम्बन्ध रखने वाला है। कुछ आचार्यों ने इस रोग को २० प्रकार के प्रमेहों में वात प्रमेह के अन्तर्गत लिखा है। श्रीमाधवाचार्यजी का कथन है कि—मधुमेह में मधु के समान पेशाब होता है जिसके दो रूप देखने में आते हैं। एक वह जो धातुक्षय होने के कारण वात कुपित होने से होता है दूसरा दोषों से वात का मार्ग रुकने से। शास्त्रकारों ने वात कुपित होने का निम्नलिखित कारण बतलाया है—

तीखा, रूक्ष, कटु, कषैला, हलका तथा ठण्ढे पदार्थों के सेवन, भूख, चोट, धूप, उद्वेग, मैथुन, व्यायाम, दस्त, कै, शोक, जागरण, अधिक रक्तस्राव, रास्ता चलने तथा वेगावरोध आदि।

विकृत वात शरीर में भ्रमण करता हुआ वसा को लेकर मूत्रस्रोत में पहुँचता है तो वसा मेह रोग पैदा हो जाता है। उक्त कुपित वात मज्जा को मूत्राशय में ले जाता है तब मज्जा मेह रोग होता है। वह वात अगर लसीका को लेकर चलता है तब बिना वेग का मूत्र निकलने लगता है जिसको हस्ति मेह कहते हैं। रूक्ष वायु से मीठा "ओज" मूत्राशय में पहुँचता है जिसके फलस्वरूप मधुमेह रोग पैदा होता है।

मधुमेह बहुत ही भयानक रोग है। यह रोग होने पर अत्यधिक प्यास और भूख, शरीर में जलन, कमजोरी, रक्तहीनता तथा मुखश्री का फीका पड़ जाना

आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। यकृत की अनियमित क्रिया के कारण पाचन शक्ति का विनाश हो जाता है।

साधारण बहुमूत्र रोग में लगभग ५ सेर तक पेशाब निकलता है और गुरुत्व १०४० तक होता है। कठिन बहुमूत्र में रोग का विकराल रूप धारण करने पर ३० सेर तक पेशाब निकल जाता है और आपेक्षिक गुरुत्व १०६० तक पहुँच जाता है। रोग की उग्रावस्था में जननेन्द्रिय में खुजली तथा घाव भी हो जाता है तथा पर्यायक्रम से दस्त और कब्ज के अलावे विष व्रण (कार्बंङ्कल), दृष्टिमांद्य, सड़न रोग तथा बेहोशी आदि लक्षण पैदा होते हैं।

चिकित्सा—इस रोग में चिकित्सा से बढ़कर परहेज की आवश्यकता पड़ती है। अगर कोई दवा न करके केवल संयम से काम लिया जाय तो इस रोग में लाभ होता है। मधुमेह रोग बहुत धीरे-धीरे अपना आधिपत्य जमाता है। अतः पहले इसकी ओर रोगी का ध्यान ही नहीं जाता। अगर किसी प्रकार मालूम हो जाय कि इस रोग का आक्रमण हो रहा है तो उसी समय से मीठी वस्तुओं का पूर्ण रूपेण परित्याग कर देना चाहिए। मीठा, आलू, रसदार और मेदकारी पदार्थ, चावल का सेवन तथा स्त्री प्रसंग का परित्याग कर देने पर रोग की उग्रावस्था में पूर्ण लाभ होता है।

मधुमेह रोग में जामुन, गूलर, गुड़मार, निर्मली तथा अफीम आदि औषधियाँ हितकर हैं। श्री सुश्रुताचार्यजी ने शिलाजीत को इस रोग के लिए बहुत ही उपयोगी बतलाया है। महर्षि चरक ने जामुन, आम, पिलखन, बट, कपीतन, गूलर, पीपल, भिलावा, पाषाण भेद और खैर को लाभकर बतलाया है।

आमलावलेह—आँवले का रस दो पसेरी लेकर उसमें आमला का एक सेर चूर्ण डालकर घनीभूत अर्थात् गाढ़ा कर लेवें। इसमें घृत और मधु मिलाकर रख लेवें। इसके सेवन से मधुमेह, बहुमूत्र तथा प्रमेह में भी लाभ होता है। यह महर्षि सुश्रुताचार्य जी का योग है।

न्यग्रोधादि चूर्ण—वट, अरलू, चिरौंजी, आँवला और पीपलवृक्ष की जड़ की छाल, मुलहठी, लोध, नीम की छाल, पटोल, बरणे की छाल, दात्यूणी, मेढ़ासिंगी, चित्रक, गणवच की जड़, इन्दौना, त्रिफला, शुद्ध भिलावाँ, सोंठ, काली

मिर्च, तेजपात और इलायची समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान मधु।

अत्रेय संहिता में लिखा है कि शुद्ध सोना मक्खी, शुद्ध शिलाजीत, पाषाण भेद, कचूर, चन्दन, पिप्पली और वंशलोचन को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। मात्रा दो टंक चूर्ण दस टंक मधु के साथ दूध मिलाकर पिलाने से मूत्रावरोध और वातज मधुमेह रोग शान्त हो जाता है।

बसन्त कुसुमाकर रस—प्रवाल पिष्टी, मोती पिष्टी, रससिन्दुर और अभ्रक भस्म प्रत्येक चार-चार तोले, लौह भस्म, नाग भस्म और बंगभस्म तीन-तीन तोले, चाँदी और स्वर्ण भस्म दो-दो तोले लेकर पत्थर की खरल में रखें। पश्चात् अरूस की पत्ती, हल्दी, गन्ना, कमल के फूल, शतावरी और केले के कन्द का रस तथा चन्दन के भिगोये हुए जल की सात-सात भावना दें। प्रत्येक भावना में छः-छः घण्टा मर्दन करना चाहिए। अन्त की भावना में दो तोले कस्तूरी मिलाकर तीन घन्टों तक मर्दन करने के पश्चात् दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेना चाहिए। एक-एक गोली दवा सबेरे तथा शाम को धारोष्ण गौ के दूध के साथ सेवन कराना चाहिए। अनुपान भेद से यह दवा मधुमेह के अलावे—हृदय, फुफ्फुस, समस्त शुक्र रोग, प्रदर, प्रमेह, योनिरोग तथा सोमरोग आदि में रामबाण जैसा काम करता है।

मेहबद्ध रस—रससिन्दूर, कान्त, मुण्ड, शिलाजीत, चाँदी, मैनसिल, त्रिकुटा त्रिफला, दालचीनी, कैथ और हल्दी को समभाग लेकर भाँगरे के रस की ३० भावना देकर चना प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। दवा खाकर ऊपर से बकायन के बीज का आठ आने भर चूर्ण चावल के धोवन में थोड़ा-सा घी मिलाकर सेवन कराने से मधुमेह एवं प्रमेह का नाश हो जाता है।

बहुमूत्रान्तक रस—रस सिन्दूर, लौह भस्म, बंगभस्म, शुद्ध अफीम, शुद्ध जमालगोटा, गूलर के बीज, बेलवृक्ष की जड़ छाल और तुलसी समान भाग लेवें। सभी औषधियों का बारीक चूर्ण बना लेने के पश्चात् गूलर फूल के स्वरस चाहे क्वाथ में मिलाकर दो रोज पर्यन्त अच्छी तरह से घोंट, दो रत्ती प्रमाण गोली तैयार करें। बहुमूत्र में गुड़मार के चूर्ण के साथ गूलर का रस और

मधु मिलाकर सेवन करने से बहुत ज्यादा फायदा करता है। गुड़मार और जामुन के बीज का चूर्ण भी मधु के साथ सेवन कराने से लाभ होता है।

बंगेश्वर रस—पारद भस्म और बंगभस्म को समभाग लेकर मधु के साथ अच्छी तरह घोंट, दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान मधु। प्रमेहाधिकार में लिखा हुआ वृहद् बंगेश्वर बहुत ज्यादा लाभ करता है।—

पथ्य—पहले ही लिखा जा चुका है कि इस रोग में दवा से अधिक लाभ केवल संयम द्वारा ही होता है। अतः बहुमूऔरत्र मधुमेह के रोगी को सुबह और शाम को दूर तक टहलने जाना चाहिये। अगर टहलने की फुर्सत नहीं हो तो रोगी साधारण परिश्रम वाला काम भी कर सकता है। भोजन के लिए जौ को बिना चाले हुए आटा की रोटी, बिना चाले हुए सत्तू धान, जनेरा तथा जोन्हरी का लावा, मधु एवं आँवला का मुरब्बा आदि उत्तम पथ्य हैं।

———

शुक्रमेह (Spermatorrhoea) और सूजाक (Gonorrhoea)

बिना अनुभूति के ही शुक्रस्खलन या "स्पर्माटोरिया" अर्थात् शुक्रस्खलन रोग कहते हैं। स्वप्नदोष आदि रोग भी इसी के अन्तर्गत समझे जाते हैं। दुर्भाग्यवश आजकल शुक्र संयम अर्थात् ब्रह्मचर्य का महत्व ओझल होता जा रहा है। यद्यपि इसकी चर्चा पहले ही हो चुकी है लेकिन संक्षेप में केवल इतना ही समझ लेने की आवश्यकता है कि आयुर्वेदिक ग्रन्थकारों ने लिखा है कि मल के आधीन बल एवं शुक्र के आधीन जीवन है। अतः यह सिद्ध होता है कि मानव शरीर का स्तम्भ वीर्य ही है। अत्यधिक स्त्री प्रसंग, हस्त एवं गुदा मैथुन तथा मिथ्या आहार-बिहार से भी धातुस्राव होने लगता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि सूजाक और प्रमेह में भेद है लेकिन कुछ चिकित्सक प्रमेह को ही सूजाक कहते हैं। सूजाक शब्द हकीम लोगों के साजाक का अपभ्रंश है। सूजाक और प्रमेह के विषय में लिखा है कि सूजाक मूत्रमार्ग और लिंगेन्द्रिय का रोग है तथा प्रमेह वस्ति में होने वाला रोग है। डाक्टरी मतानुसार भी प्रमेह को सूजाक भी लिखा गया है। लेकिन अवस्था एवं लक्षण प्रमेह से डाक्टरी मतानुकूल भी भेद देखने में आता है।

प्रमेह—आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि बैठे अथवा सोते रहने, अत्यधिक मैथुन, धूप लगने, विशेष मद्यपान, उष्ण, कटु, खट्टा और कफकारी पदार्थं के विशेष सेवन तथा वीर्यं विकार होने से २० प्रकार का प्रमेह रोग हो जाता है। वात भेद से चार, पित्त भेद से छः तथा कफ भेद से दस प्रमेह रोगों का वर्णन मिलता है। आत्रेय मतानुसार पूय, तक्र पिडिका, शर्करा, घृत, तथा अतिमूत्र इस प्रकार छः अन्य प्रमेहों का भी वर्णन मिलता है।

वातज प्रमेह—

१—वसा प्रमेह में पेशाब का रंग नीलापन लिए हुए वसायुक्त पेशाब होता है।

२—मज्जा प्रमेह में मज्जायुक्त पेशाब होता है।

३—मधु प्रमेह में रूखा और मधु के समान पेशाब होता है।

४—हस्ति प्रमेह में वेग एवं अवरोध रहित पेशाब होता है।

वातप्रमेह में हृदय कंप, पेट में शूल, अनिद्रा, श्वास, कास तथा शरीर का रूखापन और शरीर में दर्द होता है।

पित्तज प्रमेह—

१—क्षार प्रमेह में खार जल के समान मूत्र का रंग होता है तथा मूत्रेन्द्रिय में खुजली जैसी चुनचुनाहट और जलन होती है।

२—नील प्रमेह में पेशाब का रंग नील जैसा हो जाता है।

३—श्याम प्रमेह में पेशाब का रंग काला होता है।

४—हरिद्रा प्रमेह में हल्दी के रंगयुक्त पेशाब होता है।

५—मजिष्ट प्रमेह में पेशाब का रंग लाल रंगयुक्त होता है तथा पेशाब में गन्ध भी आती है।

६—रक्त प्रमेह में रक्त के सदृश अथवा रक्त के रंगयुक्त पेशाब होता है। रक्त प्रमेह का पेशाब उष्ण एवं नमक युक्त होता है।

पित्त प्रमेह में ज्वर, मूर्च्छा, प्यास, दाह, लिंगेन्द्रिय एवं पोते में दर्द तथा अतिसार एवं खट्टी डकार आदि उपसर्ग देखने में आते हैं।

कफज प्रमेह—

१—उदक प्रमेह में श्वेत एवं शीतल जल के सदृश पेशाब होता है।

२—इक्षु प्रमेह में मीठे रस युक्त पेशाब होता है तथा पेशाब पर चींटी और मक्खियाँ लगती हैं।

३—सांद्र प्रमेह में बासी पानी के सदृश गाढ़ा पेशाब उतरता है।

४—सुरा प्रमेह में मदिरा के समान गन्धयुक्त, निर्मल और गाढ़ा पेशाब निकलता है।

५—पिष्ट प्रमेह में सफेद और गाढ़ा पेशाब होता है तथा पेशाब करने के समय रोमाञ्च और पीड़ा भी होती है।

६—शुक्र प्रमेह में वीर्ययुक्त अथवा वीर्य के रंग का पेशाब होता है।

७—सिकता प्रमेह में कण युक्त पेशाब उतरता है।

८—शीत प्रमेह में बार-बार एवं ज्यादा मात्रा में पेशाब होता है साथ ही पेशाब करने के समय ठंड लगने के कारण कंप भी होता है।

९—शनैः प्रमेह में पतले धार से धीरे-धीरे पेशाब होता है।

१०—लाल प्रमेह में पेशाब करते समय मुख से लार चलता है।

कफ प्रमेह में अनिद्रा, भोजन में अरुचि, मुँह का स्वाद मीठा, सुस्ती, शरीर का भारीपन, वमन, झपकी और खाँसी आदि उपसर्ग पैदा होते हैं।

चिकित्सा—प्रमेह रोग में रोगी को अपने मन को एकाग्र करके मन को पवित्र रखना चाहिए तथा प्रतिदिन सोते समय अपने इष्टदेव का स्मरण करना चाहिए। मधुमेह प्रकरण के लिखित न्यग्रोधादि चूर्ण के सेवन से चारों प्रकार का प्रमेह रोग अवश्य ही नष्ट हो जाता है। कमल नाल, काहू की छाल, धव के जड़ की छाल, इन्द्र जौ, इमली की छाल, आँवला और निम्बोली को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। उक्त चूर्ण को मिश्री मिलाकर सेवन करने से पित्त प्रमेह में लाभ होता है। उक्त औषधियों को क्वाथ बनाकर मिश्री मिलाकर पिलाने का भी विधान है। नागरमोथा, हर्रे की छाल, लोध और कायफल के पाँच टंक चूर्ण को मधु के साथ दोनों शाम सेवन कराने से कफ के दसों प्रमेह रोग नष्ट हो जाते हैं। यह भावप्रकाश का योग है।

गुर्चं का सत्व, त्रिफला और लोहसार को मधु के साथ सेवन कराने से प्रमेह मात्र का नाश हो जाता है। गूलर के पके फल का चूर्णं भी मधु के साथ सेवन कराना लाभप्रद है।

गोखरू पाक—गोखरू का आधा सेर चूर्ण, १ सेर गो घृत और पाँच सेर गो दूध के साथ औटाकर खोआ बना लेवें। पश्चात् उसमें बेलगिरी, मिर्चं, जायफल, समुद्र शोष, इलायची, भीमसेनी कपूर, दालचीनी पत्रज, हल्दी, कूट, अफीम और तलमखाना २-२ टंक, लोहसार पाँच टंक और ऊपर लिखी हुई सभी औषधियों का अर्ध भाग भंग का चूर्ण और सबके बराबर मिश्री की चासनी अथवा मधु मिलाकर १ तोला प्रमाण वटी बना लेवें। इससे प्रमेह मात्र का विनाश हो जाता है।

सञ्जीवन रस—शुद्ध पारा और नाग १-१ पल को पातन यन्त्र में ३० बार उड़ावें तो उत्तम भस्म हो। पश्चात् इस रस को लेकर इसके बराबर रजावर्त भस्म और आठवाँ भाग नाग भस्म मिलाकर नीबू की पत्ती के रस में घोंटकर सिद्ध कर लेवें। अनुपान हल्दी एवं नाकुली का चूर्णं।

प्रमेह गज सिंह रस—शिवलिंगी और जटामांसी के रस के साथ पारद को खरल कर समभाग सोना, सोहागा और मण्डूर मिलाकर अग्नि देवें। पश्चात् मधु डालकर पीस लेवें। अनुपान मधु।

प्रमेह गज केशरी रस—बंग, भस्म, स्वर्णं भस्म, लौह भस्म, मोती भस्म, रस सिन्दूर, दालचीनी, इलायची, तेजपात और नागकेशर को एकत्र मिलाकर घृत कुमारी के रस में घोंट २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। गुड़मार के काढ़ा के साथ सेवन कराने से मधु प्रमेह में लाभ होता है। प्रमेह में घी, मिश्री और शहद के साथ।

प्रमेह मिहिर तैल—नागरमोथा, देवदारु, हल्दी, दारु हल्दी, मूर्वा, कूट, असगंध, सफेद चंदन, लाल चंदन, रेनुका, कुटकी, मुलेठी, रास्ना, दालचीनी, इलायची, भारंगी, चव्य, धनियाँ, इन्द्र जौ, करंजबीज, अगर, तेजपात, हर्रे, बहेरा, आँवला, कलम्बी शाक, सुगंध वाला, खरैटी, कंघी, मजीठ, खरल काठ, लोध, कमल पुष्प, सौंफ, बच, जीरा, खस, जायफल, वासा और तगर प्रत्येक औषधि को सवा-सवा तोले लेकर कल्क तैयार कर लेवें। पश्चात् शतावर का रस २ सेर,

लाख का रस ८ सेर, दही का पानी ८ सेर, गो दुग्ध २ सेर मिलाकर तिल का २ सेर तैल सिद्ध कर लेवें। इस तेल को मालिश करने से प्रमेह रोग दूर हो जाता है।

बसंत तिलक रस—लौह भस्म, बंगभस्म, स्वर्ण माक्षिक भस्म, स्वर्ण भस्म अभ्रक भस्म, चाँदी भस्म मोती भस्म, जायफल, जावित्री, नागकेशर, दालचीनी इलायची और तेजपात समभाग लेवें। काष्ठौषधियों का बारीक चूर्ण बनाकर सभी भस्मों को मिला लेवें। पश्चात् त्रिफला के क्वाथ में तीन रोज पर्यन्त घोंटकर ३ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। मधु एवं गिलाय रस के साथ सेवन कराना चाहिए। इस दवा से २० प्रकार का प्रमेह नष्ट हो जाता है। इससे वीर्य पुष्ट होता है तथा मृगी आदि रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

इस रोग पर अनेक दवायें लिखी गई हैं। प्रमेह रोग पर पेटेन्ट दवा की तो भरमार हो गई है। एलोपैथी को कौन कहे आयुर्वेद शास्त्रियों द्वारा भी पेटेण्ट दवा का रोजगार दिन ब दिन बढ़ता जा रहा है। डा० रामकृष्ण वर्मा (फतेहपुरी) द्वारा परीक्षित कुछ पेटेण्ट दवाएँ देखिए।

प्रमेहान्तक वटी—यह मुरादाबाद की पेटेण्ट दवा है। दाम दो रुपया और लागत चार पैसे मात्रा। योग निम्न प्रकार है :—

ताजे आमले का रस निकाल कर सुखाया हुआ सत्व १ तोला, हल्दी का चूर्ण १ तोला, श्वेत मुसली १ तोला और बीज-बंद आठ आने भर। सभी औषधियों का चूर्ण बनाकर आँवले के रस की ३ भावना देकर ३२ गोलियाँ तैयार कर लेवें। १ गोली दवा खाकर दस मिनट बाद मिश्री मिला हुआ दूध का अनुपान है। डा० साहब का कथन है कि इस योग से प्रमेह मात्र का नाश एवं ताकत प्राप्त होती है लेकिन उक्त योग साधारण प्रमेह में ही हितकर सिद्ध हो सकता है।

प्रमेहान्तक चूर्ण—यह फैजाबाद की पेटेन्ट दवा है। लागत ३ आने और मूल्य इसके बत्तीस गुणा है। इस दवा से प्रमेह एवं सम्पूर्ण वीर्य विकार नाश होने की बात लिखी गयी है। डा० साहब द्वारा यह योग निम्न प्रकार लिखा गया है—शंख पुष्पी का पंचांग ५ तोला, बीजबन्द ५ तोला, गोखरू ५ तोला, इलायची दाने २ तोले और कौंच के बीज तीन तोले का चूर्ण बनाकर चार आने भर की मात्रा में शीतल जल के साथ सेवन करें।

ऋषिकेश निवासी श्री विद्यानन्द सरस्वती का निम्नलिखित योग प्रमेह के लिए अत्युत्तम औषधि है, (उक्त महात्मा से मुझे लगभग १५० योग प्राप्त हुए हैं)।

—लेखक

अच्छी तरह से पके हुए आँवले को सुखाकर आधा सेर चूर्ण तैयार कर लेवें। उक्त चूर्ण को आँवले के रस में ग्यारह रोज तक अच्छी तरह से घोंट, ग्यारहवें दिन बंगभस्म १ तोला, अभ्रक भस्म १ तोला, शिलाजित एक तोला, श्वेत चंदन चूर्ण १ तोला, बीजबन्द १ तोला, गोखरू १ तोला और केशर एक तोला मिलाकर अच्छी तरह से घोंट लेवें। एक से दो रत्ती प्रमाण दवा मधु के साथ खिलाने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। इस दवा को कई एक बार बना कर प्रयोग किया जा चुका है।

एलोपैथिक चिकित्सा में भी इसके लिए बहुत-सी पेटेन्ट औषधियाँ मिलती हैं। आजकल पेनिसिलिन सूचिका का भी बहुत ज्यादा प्रचार है। लेकिन प्रमेह रोग बहुत ही कठिन रोग है। अतः मवाद बन्द हो जाने से ही अच्छा होने का अन्दाज लगाना भ्रम है। इस रोग के लिए अधिक दिनों तक दवा और संयम की आवश्यकता होती है—

सूजाक—

मिथ्या आहार-विहार और संसर्ग आदि से सूजाक रोग हो जाता है।

ऋतुमती स्त्री के साथ सहवास, हस्तमैथुन, गुदा मैथुन एवं वेश्यागमन तथा वीर्यस्तम्भन के ख्याल से अन्ट-सन्ट दवाओं के सेवन एवं सूजाक रोगग्रस्त मनुष्य के साथ भोजन, शयन और सुजाकियों के पेशाब करने आदि कारणों से सूजाक हो जाता है।

सूजाक होने पर मूत्रेन्द्रिय में सूजन तथा सुपारी के अग्रभाग पर कुछ लाली आ जाती है। पेशाब करने के समय जलन एवं भीषण यन्त्रणा होती है। मूत्रेन्द्रिय का अग्रभाग दबाने से गाढ़ा लसदार मवाद जैसा पदार्थ निकलता है। प्रथमावस्था में तो बिलकुल कम मात्रा में मवाद निकलता है। लेकिन रोग की पूर्ण विकसित अवस्था में अधिक मवाद निकलने के अलावे मवाद का रंग हरा

पीला एवं विभिन्न रंग युक्त हो जाता है। उस हालत में कपड़े में दाग लगने लगता है। यद्यपि रोगी कमजोर होता जाता है फिर भी उक्त अवस्था में कामोत्तेजना बढ़ जाती है। "आदत" को द्वितीय प्रकृति कहा गया है। अगर आदत से लाचार ऐसी हालत में रोगी स्त्री प्रसंग कर बैठता है तो जखम बढ़ जाता है। अतः वैसी हालत में पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना नितान्त आवश्यक है। रोग पुराना पड़ जाने अथवा किसी दवा से दब जाने पर राख से ढँपी आग की तरह शरीर को क्षार करता रहता है। पुराने सूजाक में कभी-कभी इतना गाढ़ा मवाद आता है कि लिंगेन्द्रिय के मुख पर कैप्सूल की तरह चिपक जाता है।

इस रोग को खासकर दो भागों में विभक्त किया जाता है। स्पर्शक्रमक और विशेष—डॉक्टरी मतानुसार इस रोग में मूत्रनली के एक इञ्च पीछे एक गड्ढा-सा हो जाता है। सूजाक की प्रदाहिकावस्था के निम्नलिखित सात उपसर्ग होते हैं। लिङ्गोद्रेक (Chordee), सुपारी ढक जाना—(Balanitis), लिङ्गाग्र चर्म रोग (Phimosis), उल्टी चमड़ी (Praphimosis), अण्डकोष के निम्न भाग में फोड़ा (Perineal Abscess); मूत्ररोध (Retention of urine) और मूत्रनाली का संकोचन (Stricture)।

लिङ्गोद्रेक में—पुरुषेन्द्रिय में कड़ापन तथा कभी-कभी टेढ़ापन हो जाता है। कड़ापन होने पर भयानक चमड़ा होता है।

"सुपारी ढक जाने" में सुपारी और उसके ढकनेवाला चर्म प्रदाहित होकर कपड़े से रगड़ लगकर सूख जाता है। इस हालत में ज्यादा मात्रा में हरा एवं विभिन्न रंगयुक्त, दुर्गन्धित और लसदार मवाद भी आने लगता है। अग्रभाग में कभी-कभी फोड़ा भी उत्पन्न हो जाता है जिसको देखकर फिरंग के जखम का भ्रम हो जाता है।

"लिंग परकट" में सुपारी के ऊपर की चमड़ी सुपारी को ढक लेती है और उसमें प्रदाह होकर चमड़ी पर फटा-फटा-सा जखम होकर सूजन आ जाती है। इस प्रकार लिङ्गाग्र ढक जाने से मूत्र एवं मवाद सहज में बाहर नहीं निकल पाते, फलस्वरूप सुपारी में सूजन आ जाती है और रोग भीषण रूप धारण कर लेता है।

"उल्टी चमड़ी" में सुपारी के ढकने वाला आवरण उलट जाता है। चमड़ी सिकुड़ कर सुपारी के गले पर जा लगती है और सुपारी में सूजन बढ़ने के कारण चमड़ी बँधनी जैसी प्रतीत होने लगती है। ऐसी हालत में घाव होकर सड़न भी पैदा हो जाती है।

अण्डकोष के निम्न भाग के प्रवाहित होने का कारण है कि, अण्डकोष और मलद्वार के बीच का भाग जिसको अंग्रेजी में पेरिनियम (Perineum) कहते हैं। सीवन की लकीर जैसा है। सूजाक के प्रदाह के कारण वह स्थान गरम होकर सूख जाता है और उसमें दर्द पैदा हो जाता है। रोगी पाखाना फिरने के समय इस टीसयुक्त दर्द से व्याकुल हो उठता है। यह सूजन बहुत कठिनाई से अच्छी होती है। अगर अच्छी नहीं होकर बढ़ जाती है तब तो उस स्थान पर घाव होकर मवाद निकलने के पश्चात् उस रास्ते से पेशाब भी निकलने लग जाता है। विशेष पुराना हो जाने पर तो यह भीषण भगन्दर हो जाता है।

"मूत्रावरोध" का वर्णन तो पहले ही किया जा चुका है लेकिन सूजाक के कारण मूत्रावरोध में पेशाब की नाली अथवा लिंगेन्द्रिय के अग्रभाग में मवाद चिपक जाने के कारण मूत्रावरोध हो जाता है।

"मूत्रनाली के संकोचन" में मूत्रनाली संकुचित हो जाती है जिसके फलस्वरूप बूँद-बूँद अथवा पतले धार से पेशाब निकलने लगता है। रात के समय बार-बार पेशाब होने लगता है। अगर रोगी विशेष कमजोर हो जाता है तो काँखने पर आँत भी उतर जाता है। पेशाब रख छोड़ने पर उसमें धुमैले रंग की तही जम जाती है तथा पेशाब में (एमोनियाँ) जैसी तीव्र गन्ध आने लगती है।

सूजाक पुराना हो जाने पर प्रदाह पीछे की ओर बढ़ने लगता है जिसके फलस्वरूप मुखशायी ग्रन्थि प्रदाह, अण्डकोष प्रदाह तथा मूत्राशय प्रदाह आदि रोग पैदा हो जाते हैं। स्त्रियों की डिम्बप्रणाली प्रदाह, वस्ति आवरण प्रदाह, कौषिक झिल्ली प्रदाह के अलावे पुरुष एवं स्त्री दोनों को बाघी नामक फोड़ा, नाक की सर्दी, आँखें उठना तथा गठियावात आदि रोग भी होते हैं।

चिकित्सा—सूजाक रोग बहुत हठी रोग है यही कारण है कि यह अच्छा होकर फिर लौट आता है। सूजाक के विषय में कहावत है कि एक पुश्त की कमाई तीन पुश्त तक खाती है। अर्थात् सूजाक होने पर सन्तान पर भी इसका असर होता है। जिस आदमी को सूजाक होता है उसकी सन्तान के शरीर के नख, नेत्र, त्वचा एवं मस्तक आदि अंग पर अच्छी तरह के सूजाक का प्रभाव देखने में आता है। सन्तान के उक्त अंगों में साफ-साफ विकृति देखने में आती है।

इस रोग की चिकित्सा के पहले भी पेट साफ कर लेने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। सूजाक में विरोजे का तेल, चन्दन का तेल, कलमी सोरा, रेवन्द चीनी, शीतल चीनी, तालमखाना, मुर्दाशंख तथा पपरिया कत्था और सेमल मुसला आदि औषधियाँ विशेष रूप से काम में आती हैं।

सूजाक में खिलाने, धोने और पिचकारी लगाने की दवा के प्रयोग के अलावे सूची वेध आदि की व्यवस्था भी की जाती है। विरोजा का तेल आयुर्वेद चिकित्सा, एलोपैथिक, होमियोपैथिक और यूनानी चिकित्सा में भी इस रोग के लिये प्रयोग किया जाता है। पेशाब बन्द होने पर इन्द्रिय जुलाब से काम लेना श्रेयस्कर है, क्योंकि सलाई अथवा पिचकारी के विशेष प्रयोग के फलस्वरूप इन्द्रिय छिद्र बड़ा हो जाता है। ऐसा होने पर गुर्दा निर्बल पड़ जाता है तथा अण्डकोष बढ़ जाने का डर रहता है।

इन्द्रिय जुलाब—गोखरू, कलमी सोरा, रेवन्त चीनी, सौंफ, गुर्च, जवाखार, बंसलोचन, गुलाब का फूल, कबाबचीनी, इन्द्र जौ और छोटी इलायची समभाग लेकर उक्त सभी औषधियों के बराबर मिश्री मिलाकर आवश्यकतानुसार मात्रा से पिलाने से पेशाब साफ होने लगती है।

गोखरू तीन माशा, कलमी शोरा तीन माशा, सफेद जीरा तीन माशा, सनाय तीन माशे और गुलाब का फूल तीन मासा में आधी छटांक मिश्री मिलाकर पिलाने से पेशाब साफ होने लगता है तथा जलन भी दूर हो जाती है।

हल्दी, टेसू का फूल और आम का पत्ता पेड़ू पर लेप करने से दर्द दूर हो जाता है।

गोखरू, शिलाजीत, तालमखाना, बट जटा और चन्दन चूर्ण को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। इसको धारोष्ण गोदुग्ध के साथ सेवन कराने से सूजाक में फायदा होता है। राल, माजूफल, सफेद कत्था, गुर्च का सत्त और शीतल चीनी को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। इसको धारोष्ण दूध अथवा चन्दनासव के साथ सेवन कराने से लाभ होता है। प्रमेह मिहिर तैल से भी सूजाक में बहुत ज्यादा लाभ होता है।

रसौत, गुलाब और त्रिफला को रात को भिगो देने के पश्चात् सुबह में पिचकारी देने से सूजन, जलन, तथा जखम अच्छा हो जाता है। पिचकारी लगाते समय बहुत धीरे-धीरे धार देना उचित है। एसिड बोरिक एवं परमेंगनेट आफ पोटास की भी पिचकारी से लाभ होता है।

नीम की पत्ती, बकायन की पत्ती, चमेली की पत्ती, मेंहदी की पत्ती और त्रिफला को पानी में भिगोकर काढ़ा बना लेने के पश्चात् पिचकारी लगाने से अन्दर का जखम शीघ्र ही भर जाता है तथा सूजन एवं पेशाब रुकने आदि में भी लाभ पहुँचाता है।

"सूजाक पर महात्मा प्रयोग"—सफेद जीरा, फिटकिरी, शीतल चीनी, सफेद कत्था, कपूर, रूमीमस्तगी, चन्दन चूर्ण, जवाखार, गुर्च का सत, गुलाब का फूल, त्रिफला, हल्दी और कलमी शोरा प्रत्येक एक-एक तोला लेवें। प्रथम दिन आँवले के रस में, दूसरे दिन सौंफ के अर्क में और तीसरे दिन बबूल की तरल गोंद में घोटकर एक तोला बंगभस्म, एक तोला स्वर्ण माक्षिक भस्म तथा २॥ तोले मधु मिलाकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। यह बहुत ही उत्तम दवा है। इससे सूजाक रोग में केवल एक सप्ताह में ही फायदा नजर आता है। अनुपान—धारोष्ण दूध अथवा शंखपुष्पी की जड़ का स्वरस।

नपुंसकता और सूजाक रोग पर तो पेटेण्ट दवा की कठिन भरमार देखने में आती है। डॉ० रामकृष्ण शर्मा द्वारा लिखित एक दवा देखिये—

पपरिया कत्था ३॥ तोला, सफेद इलायचीदाना १ तोला, बालसम कोपाइबा ६ माशे और तैल चन्दन दो माशे को एकत्र कर चूर्ण तैयार कर लेवें। ५ तोले का दाम २।) रु० है और लागत लगभग ६ आने हैं। इस दवा का अनुपान दूध है।

हब्बे सूजाक—खतमी का बीज एक भाग, ककड़ी के बीज की गिरी एक भाग, खुरफा का बीज आधा भाग, खसखस का बीज आधा भाग और खीरा का बीज दो भाग (इस योग में कुछ इसबगोल भी है।) इसबगोल के लुआब में उक्त दवाओं के चूर्ण का एक माशा प्रमाण गोली तैयार कर शीतल जल के साथ सेवन कराने से प्रथमावस्था में लाभ होता है। लेकिन लखनऊ के पेटेण्ट कर्ताओं का कथन है कि इससे सूजाक जड़ से आराम हो जाता है। (डाक्टर रामकृष्ण वर्मा)।

महात्मा प्रयोग—सूजाक में बिरोजे का तैल, चन्दन का तैल और राल को मिलाकर तीन माशे की मात्रा में सेवन कराने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। मगर हाँ, चन्दन तैल और बिरोजा तैल के प्रयोग के साथ-साथ रोगी की पाचन शक्ति के और गठिया वात रोग से सावधान रहना परमावश्यक है। इस रोग में हलका बलकारक पथ्य देना चाहिए।

पथ्यापथ्य—लाल मिर्च, गर्म मशाला तथा किसी भी उत्तेजक वस्तु को नहीं खाना चाहिए। स्त्री प्रसंग से बिलकुल अलग रहना नितान्त जरूरी है।

भगन्दर (Fistula in Ano)

आयुर्वेद मतानुसार यह रोग वातज, पित्तज, कफज, सन्निपात और शस्त्राभिघातज। इस प्रकार यह पाँच तरह का होता है। यह रोग मलद्वार के चौतरफे दो अंगुल के घेरे में होता है। लेकिन स्त्रियों की योनि, गुदा और वस्ति के बीच में भी इसी प्रकार का रोग होता है उसको भी भगन्दर कहते हैं। पहले तो यह एक फुंसी के रूप में प्रकट होता है लेकिन बाद में फूटकर इसमें मवाद निकलता रहता है। इस तरह का रोग खासकर स्वास्थ्य गिर जाने पर ही हुआ करता है।

डाक्टरी मतानुसार यह रोग तीन प्रकार का होता है। यथा—१ कम्पलीट फिश्चुला (Complete fistula), २ ब्लाइंड फिश्चुला (Blind fistula) और ब्लाइण्ड एक्सटर्नल फिश्चुला।

फिश्चुला में दो मुंह हो जाते हैं। एक मुंह बाहर की ओर दूसरा ऊपर की

ओर मलद्वार की आकुञ्चन पेशी के अन्दर जाकर गुह्यद्वार के भीतर पहुँच जाता है। कभी-कभी यह चूतड़ तक जा पहुँचता है। बाहर वाला मुख सूचिकाग्र जैसी चींटी के मस्तक बराबर बना रहता है और उससे मवाद निकलता रहता है। कभी-कभी इसका मुँह बहुत ज्यादा चौड़ा होकर भयानक रूप धारण कर लेता है। डॉक्टरी मतानुसार—पेचिश, अर्श, अतिसार, यक्ष्या, सूजाक रोग (स्ट्रिक्चर) की हालत तथा गुह्यद्वार के अन्दर घाव होने से यह रोग हो जाता है। एलोपैथिक चिकित्सा में इसके लिए शस्त्र चिकित्सा का प्रयोग होता है। लेकिन शस्त्र चिकित्सा से कभी-कभी बहुत बड़ा अनिष्ट भी होते देखा जाता है। ब्लाइंड फिश्चुला का मुँह भीतर ही रहता है।

आयुर्वेद मतानुसार—वातज भगन्दर कषैले एवं रुक्ष पदार्थों के विशेष सेवन से वात कुपित होकर गुह्यद्वार के समीप फुंसी पैदा करता है। यह फुंसी पकने के बाद फूटकर बहने लगती है। (वातज भगन्दर को शतपोनक भी कहते हैं)।

पित्तज भगन्दर—उष्ण वस्तुओं के विशेष सेवन के फलस्वरूप पित्ताज भगन्दर रोग हो जाता है। इसकी फुन्सी तत्काल पक :जाती है। दाह, तृषा एवं जलन आदि लक्षण पाये जाते हैं।

कफज भगन्दर—कफकारक पदार्थों के विशेष सेवन से कफज भगन्दर रोग होता है। इस रोग में सुस्ती, आलस्य, फुन्सी में साधारण पीड़ा तथा खुजलाहट रहती है।

सन्निपात भगन्दर में उक्त तीनों दोषों के विकृति के लक्षण पाये जाते हैं।

क्षतज भगन्दर—गुह्यद्वार में अथवा उसके आस-पास चोट लगकर सूजन पीड़ा हो जाती है। यत्न नहीं होने पर वह भगन्दर का रूप धारण कर लेती है।

चिकित्सा—भगन्दर रोग की फुन्सी पकने के पहले ही उसका मुँह ऊपर की ओर हो जाता है। जिसके फलस्वरूप मवाद निकलता रहता है। अतः फुन्सी में जोंक लगा देने पर बहुत ज्यादा लाभ होता है। (जोंक की विस्तृत प्रक्रिया—व्रणोपचार में देखें।—लेखक)

चमेली की पत्ती, बड़ की पत्ती, सोंठ और सेंधानमक को महीन पीसकर मट्ठा में घोल फुन्सी पर लेप करने से लाभ होता है।

रसोत, हल्दी, मजीठ, नीम, बकायन और तेजपत्र को पीसकर भगन्दर पर लेप करने से लाभ होता है। इसके जल से धोने पर भी लाभ होता है।

कछुए की हड्डी की भस्म तिल अथवा नारियल के तेल में मिलाकर भगन्दर में सूचिका पिचकारी द्वारा भरने पर बहुत जल्द ही घाव भर जाता है।

शुद्ध गुग्गुल, त्रिफला और पिपरी को समभाग लेकर चार आने भर की मात्रा में शहद के साथ सेवन कराने से बहुत ज्यादा लाभ होता है।

रूपराज रस—दो भाग पारद और चार भाग तांबे की मैल को काकलहरी के रस में पन्द्रह दिनों तक अच्छी तरह घोटें। पश्चात् सम्पुट में बन्द कर बालू भरी हाँड़ी में मध्य रख, आठ पहर तक आँच दें, पश्चात् शीतल होने पर उसको निकाल लेवें। उक्त दवा में घी, मधु और सुहागा समभाग लेकर मिलाने के पश्चात् मूषा में रखकर चाँदी गलाने की रीति से आँच देवें। जब उक्त पदार्थ मूषा—अर्थात् घरिया में घूमने लग जाय तब निकाल कर शीतल होने पर तीन रत्ती प्रमाण में मधु के साथ सेवन करावें। इससे भगन्दर रोग में बहुत ज्यादा लाभ होता है।

रविसुन्दर रस—शुद्ध पारा एक तोला, शुद्ध गन्धक दो तोला को कज्जली बनाकर ग्वारपाठा के रस में अच्छी तरह से खरल कर लेवें। पाश्चात् ताँबे के सम्पुट में बन्द कर सम्पुट की राख से भरी हँडिया में रखकर एक दिन पर्यन्त आँच देवें। शीतल हो जाने पर दवा निकाल कर जम्भीरी के रस की सात पुट देकर एक रत्ती प्रमाण मात्रा से मधु के साथ अथवा घी के साथ सेवन करावें। यह रस सिन्धु में लिखित योग बहुत ही उत्तम दवा है। इस दवा के सेवन कराने के लिए मूली का रस देना विशेष हितकर है।

पथ्य के लिए—हलका और मधुर आहार देना चाहिये। मैथुन, निद्रा तथा शीत वस्तुओं से परहेज रखना अत्यन्त जरूरी है।

अर्श रोग में लिखित खास-खास योगों का भी प्रयोग भगन्दर में फायदा करता है। जिस भगन्दर का मुँह चौड़ा हो जाता है। उस पर व्रण प्रकरण में

लिखित मलहम का प्रयोग एवं अन्य उपायों से लाभ होता है। साधारण भगन्दर तो साधारण चिकित्सा से ही ठीक हो जाता है लेकिन सूजाक, फिरंग एवं अर्श आदि रोगों के कारण भगन्दर होने पर बहुत ज्यादा कठिनाई पड़ती है। जिस भगन्दर का मुँह बाहर नहीं खुलकर भीतर ही रहता है। वह बहुत ही भयानक होता है।

उपदंश (Syphilis)

इस रोग को हकीम लोग आतशक और डाक्टर लोग सिफलिस कहते हैं। सुश्रुत ग्रन्थ में उपदंश का सुन्दर विवरण प्राप्त है। वातादि भेद से यह रोग पाँच प्रकार का देखने में आता है तथा डाक्टरी मतानुसार इसकी तीन अवस्थाएँ देखने में आती हैं। कुछ लोग उपदंश को ही फिरंग रोग भी कहते हैं। लेकिन उपदंश और फिरंग में वैसा ही भेद है जैसा प्रमेह और सूजाक में। फिरंगी शब्द से फिरंग शब्द की उत्पत्ति हुई है। अतः फिरंग रोग का अर्थ अंग्रेजों को बीमारी ही है। उपदंश के कारण स्वरूप निम्न बातें देखने में आती हैं।

मूत्रवेगः धारण, नख, दंत अथवा विष लग जाने, हस्थमैथुन, गुदामैथुन, पशु-मैथुन, रजस्वला, संकीर्ण योनि, गंदी योनि तथा जिसके योनि में कोई दोष हो ऐसी स्त्री के संयोग आदि कारणों से पुरुष को उपदंश रोग पैदा हो जाता है। यह रोग होने पर लिङ्गाग्र में फोड़ा होता है। चूँकि फिरंग रोग होने पर भी फोड़ा निकलता है इसी वजह से कुछ लोग उक्त दोनों को एक ही रोग समझते हैं। फिरंग रोग का कारण फिरंग से ग्रस्त स्त्री के साथ सहवास तथा किसी फिरंग रोग का विष लग जाना ही है।

डाक्टरी मतानुकूल दोनों रोग का प्रायः एक ही सारांश मिलता है।

आयुर्वेद शास्त्रानुकूल इस रोग की व्याख्या एवं चिकित्सा—

वातज उपदंश—उपदंश रोग होने पर लिङ्गाग्र अर्थात् सुपारी पर छोटा फोड़ा जैसा निकलता है। उस फोड़े का किनारा कड़ा हो जाता है। कुछ दिनों के पश्चात् वह गड्ढा जैसा हो जाता है और उसमें भयानक पीड़ा भी होती है।—वातज उपदंश में उस फोड़े में सूई चुभने का-सा दर्द एवं फोड़े का रंग श्यामवर्ण युक्त होता है तथा लिङ्ग में फड़कन का भाव देखने में आता

है। चिकित्सा—महुआ, मुलहठी, देवदार, अगर, रास्ना, कड़वा कूट और पद्मा-खका लेप करने और उक्त औषधियों के क्वाथ से घाव धोने से लाभ होता है।

पित्तज उपदंश—में मूत्रेन्द्रिय में दाह होता है तथा इस रोग का फोड़ा शीघ्र बहने लगता है। फोड़े का रोग पीतवर्ण युक्त होता है।

चिकित्सा—त्रिफला के काढ़े अथवा धारोष्ण दूध से घाव को धोने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। स्वामी विद्यानन्द जी, स्त्री का दूध इसके लिए विशेष उपयोगी बतलाते थे लेकिन इसका प्रयोग मैंने नहीं किया है।

कफज उपदंश—लिङ्ग में खुजली, सूजन तथा फोड़े का रंग श्वेत आभा लिए हुए होता है। चिकित्सा—'चिकित्सा चन्द्रोदय' में लिखा है कि शाल, विजयसार, लताशाल और धव की छाल समभाग लेकर शराब के साथ गरम कर लेप करने से कफज उपदंश में लाभ होता है।

सन्निपातज उपदंश—सन्निपातज उपदंश में उक्त तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। त्रिफला, सुपारी, मदार की जड़ की छाल और लोध की छाल को सम-भाग लेकर एक छोटे मृत्तिका पात्र में रखकर ऊपर से ढकना लगाने के पश्चात् कंडे की आँच में रख देवें। उक्त रीति से औषधियों की तैयार भस्म को कपड़े में चाल, मधु में फेंट लेने पर उपदंश के घाव पर लगाने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। उक्त दवा को लगाने के अलावे अमीर रस अथवा निम्नलिखित दवा सेवन कराना चाहिए।

त्रिफला, खैर सार, विजयसार, नीम की छाल, बेल की छाल, जामुन की छाल, गिलोय और पटोल को समभाग लेकर क्वाथ तैयार करके रोगी को पिलाने से उपदंश में बहुत ज्यादा लाभ होता है।

रक्तज उपदंश—इसको कुछ चिकित्सक पित्तज उपदंश के अन्तर्गत ही मानते हैं। इस उपदंश में फोड़ा का रंग लाल रक्त के रंग जैसा होता है।

चिकित्सा—त्रिफला के काढ़े से अथवा निम्नलिखित योग के सेवन कराने से इसमें लाभ होता है।

घृत कुमारी के रस में जीरे का महीन चूर्ण मिलाकर लेप करने से उपदंश रोग में लाभ होता है।

उपदंश रोग पर कुछ चुनी हुई शास्त्रोक्त औषधियाँ :—

अमीर रस—सेंधानमक पाँच छटाँक लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। इसमें से ३ छटाँक चूर्ण लेकर १ तावे पर ४ इन्च गोलाकार रखें। पश्चात् उस

पर चाँदी का तार आधा तोला रख, उस पर रस कपूर १ तोला, रुमी सिंगरफ १ तोला और दाल चिकना १ तोला छोटे-छोटे टुकड़े बना कर डालें। फिर उसके ऊपर से चाँदी का आधा तोला तार रखकर चीनी मिट्टी के बड़े प्याले से ढक देवें और शेष २ छटाँक नमक चूर्ण की कतीरा गोंद आधी छटाँक के साथ सानकर सन्धि को बन्द कर देवें। इस तावा को चूल्हे पर रखकर तीन पहर तक आँच देवें। प्याले के ऊपरी भाग को ठंढा रखने के लिए कपड़ा भिगोकर रख देवें। निश्चित समय तक आँच देने के पश्चात् शीतल होने पर दवा को निकाल लें। मात्रा १ अथवा २ रत्ती मुनक्का में भर कर रोगी को निगलवा देवें। इस दवा से उपदंश रोग अवश्य ही अच्छा हो जाता है। इससे सूजाक एवं उपदंश जनित गठिया वात रोग में भी लाभ होता है।

भूनिम्बादि घृत—चिरेता, नीम का छाल, पोटल पत्र, करज फल, चमेली की पत्ती, खैर और विजयसार १-१ सेर लेकर ६४ सेर जल में औटाकर काढ़ा तैयार करें। इस काढ़ा के साथ ४ सेर घृत को सिद्ध कर लेवें। यह दवा खाने और उपदंश पर लगाने से बहुत ज्यादा लाभ होता है।

पंचारविंद घृत—मृणाल, कमल गढ़ा, कमल की डंडी और कमल केशर इन सबका चूर्ण ७ भाग लेकर चूर्ण बना लें। ३० भाग घृत और १२० भाग गो दुग्ध को पहले औटाकर घृत सिद्ध कर लेवें। पश्चात् ऊपर लिखा हुआ चूर्ण मिलाकर दवा तैयार कर लेवें। इस दवा से लिङ्ग के प्रायः सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

आचार्य श्री चतुरसेन शास्त्री जी का मत है कि उपदंश रोग में सात रोज तक मल फुलाने वाली दवा का प्रयोग करने के पश्चात् जुलाब देना चाहिए। निम्न-लिखित दवा के सेवन से मल आसानी से फूल जाता है। उन्नाव ५ दाने, शाहतरा ५ माशे, चिरायता ६ माशे, गाजवाँ ५ माशे, मकोय खुश्क ४ माशे, और सौंफ तथा कासनी की जड़ ९-९ माशे को रात को पाव भर पानी के साथ भिगों देवें। सुबह से उक्त पानी और दवा को औटाकर आधा शेष रहने पर उसमें थोड़ा गुल-कन्द देकर छान करके पिलावें।

२—गाजवाँ ६ माशे, मुनक्का ९ दाने, गुलाब का फूल ५ माशे, मुलहठी ५ माशे, सौंफ की जड़ ९ माशे, अफतीमून ३ माशे, बद अंजीर की जड़ की

छाल ९ माशे, ३ पाव पानी के साथ रात को भिगो रखें। सुबह में औटाकर आधा काढ़ा शेष रहने पर उतार कर दो तोले गुलकन्द डालकर अच्छी तरह से मल लेने के पश्चात् छानकर पिलावें। ७ रोज तक इस दवा को सेवन करावें और पथ्य के लिए मूँग की दाल की खिचड़ी देवें। पश्चात् जुलाब देकर दस्त साफ करा लेने के पश्चात् उपदंश रोग पर लगाने और खाने के लिये दवा का प्रबन्ध करें।

मुँह आने की दवा—लौंग, रसकंपूर, कालीमिर्च, अजवायन और खुरासानी अजवायन २-२ माशे लेवें। लौंग और रसकपूर तो १० तोले बकरी के दूध के साथ लौह पात्र में अच्छी तरह से खरल करके बाद में उक्त तीन औषधियों का बारीक चूर्ण मिलाकर २ माशे प्रमाण गोलियाँ तैयार करा लेवें। प्रातःकाल १ गोली दवा गाय की दही में रखकर खिला देवें। पथ्य के लिए दूध भात अथवा दही-भात दें। मुँह आकर लार चूने लगे तब अच्छी तरह से लार निकल जाने पर कचनार, चमेली और झड़बेरी की छाल को औटा कर उसके पानी से कुल्ला करने से मुँह को आराम हो जाता है।

रसकपूर ६ माशे, छोटी इलायची ६ माशे और पान की १० पत्तियों को अच्छी तरह से घोंटकर ९ गोलियाँ दवा तैयार कर लेवें। रोज एक गोली दवा मलाई के साथ निगल जाने से मुँह आकर बहुत ज्यादा लार निकलता है।

खाने के लिए निम्नलिखित दवाओं का प्रयोग भी होता है। पारा २ तोला, मूलहठी २ तोला, पुराना गुड़ २ तोला लेवें। पहले मुलहठी को अच्छी तरह से कूटकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। पश्चात् गुड़ और पारे में मिलाकर सात दिन खरल करने के पश्चात् चना प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। दोनों शाम दवा सेवन करावें। इस दवा को सेवन कराते समय रोगी को प्रतिदिन ही स्नान कराना चाहिये।

उपदंश में :पारद का व्यवहार बहुत ही लाभपूर्ण होता है। इसको खाने अथवा लगाने के लिये भी काम में लाया जाता है। लेकिन खाने के वास्ते बराबर शुद्ध पारा ही लेना नितान्त आवश्यक है। चूँकि पारद बहुत ही जहरीला पदार्थ है। अतः इसका प्रयोग जान-बूझ करके ही करना न्यायसंगत है। भावप्रकाश में शुद्ध पारद का गुण निम्न प्रकार का लिखा है।—

पारद, मधुर, अम्वल, कटु, तिक्त, कषाय और लवण सारान्वित; स्निग्ध, त्रिदोष नाशक, रसायन, योगवाही, महावृष्य, सदैव दृष्टि एवं बल को बढ़ाने वाला तथा कुष्ठादि सर्वरोगनाशक है। असाध्य रोगों अर्थात् जो चिकित्सा के योग्य नहीं है—उन मनुष्य, हाथी और घोड़े के रोगों को पारद हर लेता है। पारद के दोष का 'शालिग्राम निघण्टु' में निम्न प्रकार वर्णन आया है—

स्वभाव से ही पारद में मल, विष, अग्नि, गिरिदोष तथा चपलता। उक्त पाँच दोष देखने में आते हैं। इसके अलावा रांगा तथा सीशे के २ दोष भी इसमें मिलते हैं। इस प्रकार यह सात दोषों से युक्त होता है। मलदोष से मूर्च्छा, विष से मृत्यु, अग्नि से दाह और दर्द, गिरि अर्थात् पर्वत दोष से जड़ता और चंचलता के दोष से वीर्यनाश होता है। इसके अलावे बंगदोष से कुष्ठ और शीशे के दोष से नपुंसकता होती है। इस प्रकार समझना चाहिए कि अशुद्ध पारद के सेवन से उक्त उपद्रव हो जाते हैं। हिन्दी साहित्य जगत के परमोज्वल नक्षत्र स्वर्गीय श्रीप्रेमचन्दजी ने अपनी रंगभूमि नामक पुस्तक में लिखा है कि संखिया अत्यन्त उग्र विष है लेकिन मरकर यह रस बन जाती है। उसी प्रकार पारद जैसा उग्र पदार्थ शायद ही देखने को मिले। लेकिन शुद्ध कर देने पर यह अमृत के समान गुणदायक हो जाता है। इसके कई एक स्वरूप देखने में आते हैं। रसकपूर आदि इसके परिष्कृत रूप हैं। पहले पारद एवं स्वर्ण का व्यवहार अंग्रेजी चिकित्सा में नहीं होता था। अंग्रेजी चिकित्सकों का कहना था कि पारद को भस्म कर लेने पर भी यह आंत में जाकर पच नहीं पायेगा। उपदंश रोग के विषय में डा० लसगार्टेन्स (Dr. Lusgartens) ने बहुत जाँच पड़ताल के पश्चात् निश्चय किया है कि इस रोग को उत्पन्न करने वाला एक प्रकार का लम्बे आकार वाला सूक्ष्म जीवाणु है। होमियोपैथिक के जन्मदाता डा० हेनिमन ने तो सोरा, प्रमेह एवं उपदंश को ही होमियोपैथिक चिकित्सा प्रणाली का स्तम्भ कायम किया है। उक्त विद्वान की कर्मठता, खोज एवं उपयोग सर्वथा सराहनीय है।

पारद के अपव्यवहार के कारण आज अनेकानेक रोग देखे जाते हैं। उपदंश को ही लिया जाय। यह रोग होने पर बहुत से पढ़े-लिखे लोग भी प्रायः ऐसे गँवार से चिकित्सा कराना पसन्द करते हैं जो न तो पारद के गुण से परिचित है और न दोष से ही। वे चिकित्सक कालस्वरूप हर समय हर जगह ही

उपस्थित पाये जाते हैं। बहुत से ऐसे चिकित्सक मिल जाते हैं जो जुलाब तो देते हैं लेकिन न तो उनको खुद ही मात्रा का ज्ञान है और न जुलाब के गुण-अवगुण का ही। इसी प्रकार लोक में नाना-प्रकार की दवायें मुँह आने के लिए देखने में आती हैं। पारदयुक्त दवा से मुँह आने के बाद क्या करना चाहिए अथवा किस हालत में कैसे इस दवा का प्रयोग होना चाहिए उस चिकित्सक को कुछ ज्ञान नहीं है। अतः इस रोग की चिकित्सा के लिए किसी सद्वैद्य के पास जाना चाहिए। डाक्टरी मतानुसार उपदंश तीन प्रकार का होता है तथा अवस्थाएँ भी तीन ही होती हैं। सामान्य, वंशानुगत और सर्वांगीणं। उक्त तीन प्रकार हुए और प्राथमिक अवस्था (प्राइमरी स्टेज), द्वितीयावस्था (सेकेण्डरी स्टेज) तथा तृतीयावस्था (टर्शियरी स्टेज) ये तीन अवस्थाएँ हैं।

प्रथमावस्था—लिंग की सुपारी के किसी भाग में चमड़ा छिल जाता अथवा सुरसुराने लगता है। बाद में उस स्थान पर एक मटर जैसी फुन्सी उठ आती है। वह फुन्सी दो प्रकार की होती है सक्त और मुलायम। उक्त प्रकार की फुन्सी बढ़कर घाव के रूप में परिणत हो जाती है। ऊपर का आवरण हट जाने पर निम्न भाग में लाल नजर आती हैं।

द्वितीयावस्था—जब तक फुन्सी घाव के रूप में नहीं परिवर्तित हो जाती है। तब तक इसको गुप्तावस्था (Incubation period) कहते हैं। यह अवस्था प्रायः दस दिनों से लेकर २१ दिनों तक रह सकती है। दूसरी अवस्था में उपदंश विष रस एवं रक्तादि में मिलकर शारीरिक ग्रन्थियों तथा श्लेष्मिक झिल्लियों में पहुँच जाता है। अतः सुपारी पर फोड़ा के अलावे शरीर पर चट्टे तथा नाना प्रकार के चर्मरोगों का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह अवस्था कम से कम दो मास और ज्यादा से ज्यादा दो साल तक रह सकती है।

तृतीयावस्था—द्वितीयावस्था में तो यह रोग चर्म (Skins) एवं श्लेष्मिक झिल्ली (म्यूकस मेम्बरेन) पर तक ही प्रभाव जमा कर पुराना हो जाता है लेकिन तृतीयावस्था में तो हड्डी के अलावे गम्भीरतम तन्तु पर आक्रमण करता है। द्वितीयावस्था में तन्तुओं पर आक्रमण के कारण—अस्थिआवरण प्रदाह, गठिया, एक शिरा, बाल झड़ना, अण्डकोष के ऊपरी भाग के दोनों नसों में सूजन तथा रक्तहीनता आदि उपसर्ग भी देखने में आते हैं। तृतीयावस्था में

तो अस्थि, यकृत एवं फुफ्फुस में क्षत पैदा होकर सड़न पैदा हो जाती है। आज के युग ले कुष्ठ रोग की बढ़ती हुई संख्या का सर्वप्रधान कारण उपदंश विष ही है।

उपदंश पर रस रत्नाकर के योग—बड़ का अंकुर, अर्जुन की छाल, जामुन की छाल, हर्रे, लोध और हल्दी की लेप करने अथवा उक्त औषधियों का चूर्ण फिटकरी और रसौत मिलाकर लेप करने से घाव भर जाता है।

भाँगरा, त्रिफला, दन्ती, ताँबे का चूर्ण और लौहचूर्ण जल में पीसकर लेप करने से उपदंश रोग दूर हो जाता है।

उपदंश पर बरादि गुगल—हर्रे, बहेरा, आँवला, नीम की छाल, अर्जुन को छाल, पीपल की छाल, खैर की लकड़ी, विजयसार और अरूस पत्र सभी औषधियाँ समभाग लेकर चूर्ण बनाकर उक्त औषधियों के बराबर शुद्ध गुगुल मिलाकर आठ आने प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा से उपदंश रोग तथा रक्त विकार में लाभ होता है।

सिगरफ, मुरदाशंख, नीलाथोथा, सफेद कत्था और अफ्तीमून प्रत्येक आठ आने भर की मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। पश्चात् जल के साथ टिकिया जैसी बनाकर चिलम में रखें और उसपर आग देकर तम्बाकू जैसे रोगी को पिलावें। इस दवा का धुआँ उपदंश के चकतों पर छोड़वावें। इस दवा से अच्छा लाभ होता है।

मुर्दाशंख की गोली—मुर्दाशंख १ तोला, शुद्ध जमालगोटा ११ नग और पुराना गुड़ तीन तोले। पहले मुर्दाशंख का बारीक चूर्ण बना लेवें। पश्चात् उसमें जमालगोटा देकर अच्छी तरह से घोटने के पश्चात् गुड़ मिलाकर अच्छी तरह से कूट लेवें। जंगली बेर के प्रमाण गोली बनाकर खिलाने से साधारण दस्त भी आती है और जखम भी भर जाता है।

उपदंश पर मलहम—रस कपूर और सफेदा सात-सात माशे, छोटी इलायची के दाने साढ़े तीन माशे को गोघृत में घोंटकर मलहम तैयार कर लगाने से जखम शीघ्र अच्छा हो जाता है। व्रण प्रकरण में मलहम देखें।—(लेखक)

डा० रामकृष्ण वर्मा की परीक्षित उपदंश पर तीन पेटेण्ट दवाएं—

उपदंश वटी—यह दवा लखनऊ से पेटेण्ट है।—योग निम्न प्रकार है—

हिस्सा, माजूफल चार हिस्सा और पुनर्नवा की जड़ आठ हिस्सा

उक्त औषधियों को पानी के साथ पीसकर ३ रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना लेवें। यह दवा चिलम पर रखकर पिलायी जाती है। इससे उपदंश रोग में लाभ होता है। दवा सेवन कराने के समय नमक, खटाई, मिर्च एवं तैल आदि का परित्याग करना चाहिए—

उपदंश हरण—बाम्बे की पेटेण्ट दवाएँ—चौदह मात्रा दवा की कीमत १०) लेकिन लागत नगण्य है। इस दवा से उपदंश, गठिया तथा सूजाक आदि के हरण का ठेका है। डा० साहब ने लिखा है कि योग गुणकारी अवश्य है। योग निम्न प्रकार है—

सिंगरफ ६ ग्रेन, मजीठ ६ ग्रेन, अजवायन ६ ग्रेन, अकरकरा ६ ग्रेन, सोहागा ६ ग्रेन और नीलाथोथा ६ ग्रेन लेकर चूर्ण बना लें। यह एक मात्रा दवा है। इसी प्रकार ज्यादा भी बना लेवें। दवा सेवन काल में नमक छोड़ देवें तथा घृतयुक्त रोटी खायें।

आतशक की गोली—शुद्ध, पारद, शुद्ध संखिया, लौंग, गन्धक, कत्था और शुद्ध कुचला को जवासा के रस में खरल करके आधी रत्ती प्रमाण गोली तैयार कर लेवें। इस दवा की लागत से आठ गुना अधिक कीमत रखकर यह दवा पेटेण्ट दवा के रूप में मथुरा से चलायी जाती है। पेटेण्ट दवा के विषय में अपने देश की यह हालत है, पाश्चात्य देशीय कृत्रिम कला-विशारदों की बात भगवान जाने।

एलोपैथिक चिकित्सा में इस रोग के लिए विभिन्न प्रकार के मिक्श्चर तथा सूचिकायें दी जाती हैं। एलोपैथिक चिकित्सा में भी अब इस रोग के लिए पारद का विशेष रूप से व्यवहार होंने लगा है।

उपदंश रोग में नमक, खट्टा पदार्थ और तैल आदि से बिल्कुल परहेज रखना चाहिए। चने की रोटी-दाल और गोदुग्ध आदि ही इस रोग में पथ्य देना चाहिये। गेहूँ की रोटी तथा साठी चावल का भात एवं बेदाना तथा अंगूर आदि फल भी लाभदायक हैं।

———

शोथ रोग (Dropsy)

यह रोग वात, पित्त, कफ, वातपित्त, वात कफ, कफपित्त, सन्निपात, चोट एवं विष जनित भेद से ९ प्रकार का होता है। शोथ रोग होने के पहले नेत्र में तीव्र उष्णता, शोथ होनेवाले स्थान में भारीपन तथा वहाँ की नसों में तनाव जैसा मालूम होता है। शोथ रोग हो जाने पर शरीर में भारीपन, विकलता, रोमांच और सन्तप्तता के अलावे नसें पतली पड़ जाती हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में इस रोग के होने का कारण निम्न प्रकार बतलाया जाता है—कै, दस्त, उपवास, ज्वर, पान्डु रोग आदि कारणों से दुर्बल होकर—खट्टा, तीव्र, खारा नमकीन, उष्ण पदार्थ के सेवन, विषाक्त भोजन, विरुद्ध भोजन (जैसे नमक और दूध) कच्चा गर्भपात कराने, अधिक दिनों तक महा रोगों को भोगने तथा चोट लगने आदि कारणों से उक्त ९ प्रकार का शोथ रोग पैदा होते हैं।

हृद्रोग में जंघा और हाथ, यकृत और प्लीहा के कारण ज्वर, दस्त के कारण चेहरे और पैर तथा रज विकृति के कारण चेहरे, हाथ और पैर में सूजन होती है। महर्षि चरक ने शोथ रोग का उपद्रव निम्न प्रकार बतलाया है।

छर्दिस्तृष्णारुचिः श्वासो ज्वरोऽतिसार एव च।
सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रव संग्रहः ॥ (चरक)

अर्थात्—

छर्दि, प्यास, अरुचि, श्वास, ज्वर, अतिसार और दुर्बलता सूजन के ये सात उपद्रव होते हैं।

अधोगामी वात कुपित होकर अपने स्थान से चलकर जंघा और पेड़ू के मध्य में पहुँचता है, तब सन्धियों द्वारा अण्डकोष में पहुँचकर अण्डवृद्धि रोग पैदा कर देता है। प्रकुपित वात जब मूत्राशय और जंघा स्थल के सन्धि स्थान में पहुँचता है, तब गाँठ जैसी सूजन हो जाती है। उस गाँठ को बन्द भी कहते हैं।

वातज शोथ—में प्रदाहित स्थान लाल और कठोर तथा वेदनायुक्त होता है। दबाने से दबकर फिर उठ जाता है तथा रात को कम और दिन में ज्यादा रहता है। शोथ रोग में भी जुलाब देकर पेट साफ कर लेने से अच्छा लाभ

होता है। चिकित्सा—सोंठ, पीपल, पीपलामूल, चव्य और चित्रक के चूर्ण अथवा काढ़े से लाभ होता है।

पित्तज शोथ में त्वचा का रंग लाल, पीला और दाह अथवा जलनयुक्त होता है। पित्तज शोथ से स्राव भी होने लगता है। चिकित्सा—नीम, त्रिफला, पटोल और दारु हल्दी के क्वाथ में गुड़ मिलाकर देने से लाभ होता है।

कफज शोथ में प्रदाहित स्थान श्वेत, भारी और चिकना हो जाता है। दिन में कम और रात में ज्यादा होना इसका खास लक्षण है।

चिकित्सा—साँठी की जड़ को काली मकोय के रस में पीसकर लगाने से लाभ होता है।

वात पित्त शोथ में दोनों दोषों की विकृति होती है और तदनुसार ही चिकित्सा भी। उसी प्रकार दो दोष अथवा त्रिदोषज (सन्निपात) शोथ का लक्षण और चिकित्सा समझना चाहिए।

क्षतज शोथ—चोट लगने के कारण होता है। यह बहुत कुछ पित्तज शोथ जैसा होता है। चिकित्सा में भी प्राय: पित्तजनित शोथ की औषधियाँ काम आती हैं।

विषज शोथ—विषैले जीवों के मल, मूत्र एवं वीर्य के स्पर्श तथा नख, दाँत और जीभ लगने तथा विषैले वृक्ष की हवा आदि लग जाने के कारण विष शोथ उत्पन्न हो जाता है। चिकित्सा के लिए विष प्रकरण देखें।

शोथ शार्दूल तैल—धतूरा, सम्मालु, दशमूल, जयन्ती, पुनर्नवा और करंज प्रत्येक ३०-३० तोले लेकर ३२ सेर पानी में औटाकर ८ सेर काढ़ा तैयार कर लेवें। रास्ना, पुनर्नवा, देवदारू, सूसी मूली, सोंठ और पीपल को समभाग २० तोले की मात्रा में लेकर कल्क तैयार कर लें। २ सेर सरसों तेल में उक्त कल्क और काढ़ा डालकर तैल सिद्ध कर लेवें। रस तैल से सर्वप्रकार के शोथ तथा पाण्डु आदि रोग भी अच्छे हो जाते हैं। (भै० र०)

दुग्ध वटी—शुद्ध वत्सनाग, शुद्ध धतूरे का बीज और शुद्ध सिंगरफ समभाग लेकर १ पहर तक धतूरे के रस में अच्छी तरह से घोंटकर मूँग प्रमाण गोली तैयार कर लेवें। अनुपान दूध—पथ्य भी केवल दूध ही देना अच्छा है।

पाण्डु, संग्रहणी एवं शोथ वगैरह रोगों में पर्पटी चिकित्सा से ज्यादा लाभ होता है लेकिन उत्तम पर्टटी मिले और पथ्य ठीक होता रहे तब।

थोथारि मण्डूर—मण्डूर भस्म १ सेर को सम्भालू, मानकद और अदरक रस की १-१ भावना देकर सुखा लेवें। पश्चात् ८ गुने गोमूत्र में मंदाग्नि से पकाकर गाढ़ा कर लेने के बाद उसमे हरें, बहेरा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पीपल तथा चव्य का चूर्ण साढ़े तीन-तीन तोले मिला दें। शीतल हो जाने पर इस दवा में से ४ रत्ती प्रमाण दवा सेवन करावें। अनुपान—गोमूत्र, पुनर्नवा रस अथवा दशमूल का क्वाथ, सूखी मूली, साँठी की जड़, दारूहल्दी, रास्ना और सोंठ को तैल में पकाकर, तैल मालिश करने से दाह एवं दर्द युक्त शोथ अच्छा हो जाता है। त्रिफला के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर पिलाने से शोथ और अंड वृद्धि में भी लाभ होता है। गर्म पानी में स्नान करने से भी लाभ होता है। अंडकोष में वृद्धिका वटी से बहुत ज्यादा लाभ होता है। कुन्दरू को भेड़ के दूध में पीसकर लेप करने से वह अच्छा हो जाता है।

शोथ रोग में मूँग की दाल, परवल का रस, ताजा फल एवं हरा शाक और दूध देना चाहिये। केवल गोदुग्ध तो सर्वोत्तम पथ्य है।

श्लीपद और विद्रधि रोग

श्लीपद रोग खासकर पैर में ही होता है। लेकिन कुछ आचार्यों के मतानुसार हाथ, कान, नेत्र, शिश्न, होठ, नाक तथा शरीर के अन्य स्थानों में भी होता है। यह रोग कफ प्रधान है। सभी ऋतुओं में तालाब का जल पीने, कफकारक वस्तु के विशेष सेवन तथा नीची एवं गीली भूमि में निवास करने के कारण यह रोग पैदा हो जाता है। वातादि भेद से यह चार प्रकार का होता है। डाक्टरी मतानुसार इस रोग का भी एक तरह का कीटाणु ही होता है।

शरीर के जिस भाग में यह रोग होता है उसके समीपस्थ अवयवों की वृद्धि रुक जाती है और इसकी सूजन में वृद्धि होने लगती है। जिस अंग में यह रोग होता है वह बिल्कुल भद्दा हो जाता है। हमारे देश में बंगाल एवं उड़ीसा प्रान्त में :इस रोग के विशेष रोगी देखने में आते हैं। पैर में श्लीपद रोग होने पर

हाथी पाँव के सदृश्य पैर मोटा हो जाता है। इस रोग को अंग्रेजी भाषा में हाथी पाँव (Elephantiasis) कहते भी हैं।

वातज श्लीफ्द में प्रभावित स्थान श्यामवर्ण, रूखा, फटा जैसा तथा पीड़ा-युक्त होता है। वातज श्लीपद में ज्वर भी रहता है। पित्तज श्लीपद रोग में प्रदाह स्थान पीत वर्ण युक्त, दाह युक्त एवं कोमल होता है। कफज श्लीपद में प्रदाहित स्थान श्वेत एवं चिकना होता है। सान्निपातिक श्लीपद में उक्त तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। यह रोग असाध्य हो जाने पर कभी-कभी प्रभावित स्थान से मवाद भी आने लगता है।

विद्रधि रोग वातादि भेद से ६ प्रकार का होता है—यह रोग भी बहुत कठिन रोग है। इस रोग में गोल अथवा लम्बी सूजन होती है। इसकी जड़ हड्डी तक चली जाती है। यह रोग दो प्रकार का—अर्थात् बाह्य एवं अन्तर विद्रधि के नाम से प्रसिद्ध है। अन्तर विद्रधि गोला के सदृश होता है लेकिन गोला पकता नहीं है और विद्रधि पकने वाला रोग है। अन्तर विद्रधि—गुदा, पेड़ू, मुख, कुक्षि, वंक्षण, हृदय, प्लीहा, हृदय और तृषा स्थान के बीच, नाभि के दक्षिण भाग एवं तृषा स्थान में पैदा होता है। अगर विद्रधि रोग ऊपर की ओर फटता है तो रोगी को आफियात रहती है। लेकिन अन्दर फूटने पर मुँह एवं पाखाना के रास्ते मवाद निकलने लगता है। पाखाना के रास्ते मवाद निकलने पर रोग अच्छा हो जाने की आशा रहती है लेकिन मुख से मवाद आने पर यह रोग महाअसाध्य हो जाता है। इस रोग के विस्तृत विवरण के लिये अन्य आयुर्वेद विषय पुस्तकें देखें।

श्लीपद-चिकित्सा--विरेचन, उपवास, स्वेद, लेप एवं जोंक आदि से रक्त निकलवाने से इस रोग में लाभ होता है। चिकित्सा करने के पहले शरीर शुद्धि के लिये बलाबल अनुसार औषधि देकर रोगी का पेट साफ कर लेवें। पश्चात् निम्नलिखित लेप, मालिश, धावन एवं खाने की औषधियों का प्रयोग करें—

महाबला को ताड़फल के रस में पीसकर लेप करने से श्लीपद रोग में लाभ होता है। धतूरा, अरंड, त्रिफला और सोंठ को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से भी अच्छा लाभ होता है। गिलोय, धतूरा, देवदारू, कुटकी, रास्ना,

पुनर्नवा और त्रिफला को गोमूत्र में पीस, लेप करने से ज्यादा फायदा होता है। उक्त औषधियों का क्वाथ भी इस रोग में हितकर है।

पिपल्यादि चूर्ण—पिप्पली, त्रिफला और देवदारू को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान —काँजी का जल (वृन्द), बड़ी हड़ का चूर्ण, अरंड तैल और गोमूत्र को मिलाकर पिलाने से श्लीपद रोग में लाभ होता है। (भावप्रकाश)। धतूरे के बीज को १ से लेकर क्रमशः २० तक सेवन कराने से लाभ होता है। इस दवा का अनुपान शीतल जल है। (वैद्य रहस्य)। त्रिफला के क्वाथ और नीम एवं बकायन की पत्ती को औंटाकर प्रदाहित स्थान धोने से भी लाभ होता है। अगूठों के ऊपरी नसों का रक्त निकलवाने से पित्तज श्लीपद में लाभ होता है।

नित्यानन्द रस—सिंगरफ से निकला हुआ पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, कांस्य भस्म, वंगभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध तूतिया, शंख भस्म, कौड़ी भस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल, आँवला, हर्रे, बहेरा, लौह भस्म, बायविडंग, सेंधानमक, सोचरनमक, बिडनमक, समुद्रनमक, काचनमक, चव्य, पोपलामूल, हाऊबेर, वच, कचूर, पाठा, देवदारू, इलायची, विधारा, निशोथ, चीता और दन्ती को समभाग लें। पारद गन्धक की कज्जली बनाकर उक्त शेष औषधियों का चूर्ण मिलाकर हर्रे के क्वाथ की एक भावना देकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। सुबह और शाम को गर्म जल अथवा गोमूत्र के साथ खिलाने पर इस दवा से बहुत ज्यादा लाभ होता है। अश्यकंचुकी रस से भी इस रोग में लाभ होता है। इस रोग में कफ दोष शामक औषधि की विशेष क्रिया होती है।

कटक की एक पेटेन्ट दवा "श्लीपदारि"—मूल्य, लागत से बहुत ज्यादा है। डा० रामकृष्ण वर्मा

योग निम्न प्रकार है—कनेर छाल, वत्सनाभ, कखिहारी, चित्रक, आकदुग्ध, सेंधानमक, कूट, हर्रे, त्रिकुटा, सहजन की जड़ और करंज की छाल को पीसकर गोमूत्र के साथ लेप करें।

विद्रधि यत्न

विद्रधि रोग—में भी जोंक लगाने से लाभ होता है। जब तक विद्रधि पक नहीं जाय तब तक व्रण जैसा ही यत्न करना चाहिए। ईंट, बालू, लोह कीट और गोबर को चूर्ण बनाकर गोमूत्र में पकाकर सेंक से विद्रधि में लाभ होता है। पित्तज विद्रधि शीघ्र पक जाती है। अतः पित्तज विद्रधि में विरेचन का विशेष महत्व है। व्रण रोग में लिखित यत्नों से भी इस रोग में लाभ होता है।

———

गण्डमाला (Scrofula)

यह रोग भेद और कफ के कारण आमले के सदृश्य गोलाकार गला, काँख, ग्रीवा, पेड़ू और वंक्षण स्थान में निकलता है। उक्त प्रकार की गाँठ रसवाही स्रोतों में विकृति आने, अर्थात् रसवाही स्रोत रुक जाने के कारण ही पैदा होती है। गण्डमाला की गाँठें अधिक दिनों तक बनी रहती हैं। इस रोग में चीर-फाड़ द्वारा भी कोई लाभ नहीं होता है। आजकल देहातों में इसके बहुत ज्यादा रोगी मिलते हैं। कारण प्रत्यक्ष है। बहार के लोग इस गाँठ को साधारण रोग समझ कर उपेक्षा कर देते हैं जिसके फलस्वरूप यह रोग अपना उग्ररूप धारण करने में समर्थ हो जाता है। इस रोग की चिकित्सा, रोग प्रारम्भ होते ही करनी चाहिये। एक दो साल रह जाने पर यह रोग जड़ पकड़ लेता है जिसके कारण कांस, ज्वर, पीनस एवं पार्श्वशूल आदि उपद्रव पैंदा हो जाते हैं। डाक्टरी मतानुसार इसको "टी० बी० ग्लैण्ड" अर्थात् क्षय ग्रन्थि कहते हैं। अधिक बिलम्ब होने पर यह ग्रन्थि पकती भी जाती है तथा एक के बाद दूसरी निकलने लगती है। गण्डमाला की ग्रन्थि पुरानी हो जाती है तब इसको "अपची रोग" भी कहते हैं।

चिकित्सा—सरसों, नीम की पत्ती और जलकुम्भी को जलाकर भस्म तैयार कर लेवें। इस भस्म को तिल तैल के साथ फेटकर लेप करने से लाभ होता है। कचनार की छाल का क्वाथ एवं उस छाल को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से भी लाभ होता है। गुगुल, गन्धक और रसौत को भी जल में पीसकर लेप करने से फायदा होता है। (आ० सारसंग्रह)

गण्डमाला कन्डन रस—शुद्ध पारा १ तोला, शुद्ध गन्धक आधा तोला, ताम्र भस्म डेढ़ तोला, मण्डूर भस्म ३ तोला, सोंठ, मिर्च और पीपल २–२ तोले, सेंधानमक आधा तोला, कचनार की छाल का चूर्ण १२ तोले और शुद्ध गुगुल १२ तोले लेवें। पारद गन्धक की कज्जली तैयार कर लेने के पश्चात् सभी औषधियों को मिलाकर अच्छी तरह से कूटने के बाद २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार करें। अनुपान कचनार की छाल का क्वाथ। इस दवा से गण्डमाला, घेघा ग्रन्थि तथा अपची आदि रोग अवश्य ही दूर हो जाते हैं। रोगी को पूर्ण ब्रह्मचर्य एवं पथ्य परहेज़ से रहना नितान्त आवश्यक है। गोदुग्ध सर्वोत्तम पथ्य है।

कचनार गूगल—कचनार की छाल ५० तोला, त्रिफला ३० तोला, त्रिकुटा १५ तोला, वरने (वरण्या) की छाल ५ तोला, इलायची, दालचीनी और तेजपात १–१ तोला का बारीक चूर्ण तैयार कर लेने के पश्चात् उक्त सभी दवाओं के बराबर शुद्ध गुगल लेकर अच्छी तरह से कूट लेने के पश्चात् चार रत्ती प्रमाण वटी तैयार कर लेवें। अनुपान भेद से यह कचनार गुगल वटी कुष्ठ, व्रण और भगन्दर आदि रोगों पर भी काम आती है।

स्वामी विद्यानन्द जी की बतलायी हुई निम्नलिखित दवा इस रोग के लिये अनुभूत है—उल्लू पंछी का सिर काटकर तीसी के तेल में अच्छी तरह से पकावें। सिर को जल जाने पर तेल छानकर सुसुम करके लगाने पर गलगण्ड रोग में बहुत ज्यादा लाभ होता है। यह प्रयोग मेरा परीक्षित है—(लेखक)

व्रण (Boil); व्रणशोथ (Abscess) और चर्मरोग (Skin disease)

व्रण को घाव अथवा फोड़ा भी कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—शारीरिक और आगन्तुक। शारीरिक व्रण—वात, पित्त, कफ एवं रक्त इनके अलग-अलग और एक दूसरे से मिलकर पन्द्रह प्रकार के होते हैं। लेकिन धातु और मल के संसर्ग से तो व्रणों की संख्या अनेक है। व्रण—त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि, कोष्ठ एवं मर्म में होता है।

आगन्तुक व्रण—के विषय में श्रीमाधवाचार्यजी ने लिखा है—

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।
घृष्ठमाहुस्तथा षष्टं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥

अर्थात् छिन्न, भिन्न, विद्ध, क्षत, पिच्चित और छठवाँ घृष्ट इस प्रकार आगन्तुक वर्ण ६ प्रकार का है। ये लोहे के हथियार, पत्थर, ईंट, लाठी तथा डंडा की चोट आदि से होनेवाले व्रण हैं—

वातज व्रण—कठोर श्याम रंगयुक्त अथवा धुमैले रंग का होता है तथा इसमें सूई चुभने जैसी पीड़ा होती है। वायु के कारण शुष्कता भी होती है।

पित्तज व्रण—में दाह जलन तथा साधारण गीलापन होता है। त्वचा का रंग लाल अथवा पीला रंगयुक्त होता है।

कफज व्रण—में बहुत कम पीड़ा होती है लेकिन यह विशेष आर्द्रतायुक्त अर्थात् गीलापन लिये हुये होता है। त्वचा का रंग सफेद जैसा प्रतीत है। त्रिदोषज व्रण में तीनों दोष मौजूद रहते हैं।

रक्तज व्रण—में त्वचा का रंग चमकता हुआ लाल जैसा होता है। इसमें बहुत कुछ पित्तज लक्षण ही पाये जाते हैं।

व्रण पकने के समय उसमें त्रिदोषज क्रिया भुगतती हैं। कहने का तात्पर्य कि—वात से व्रण में पीड़ा, पित्त से पकाव और कफ से पीव प्रस्तुतकरण क्रिया होती हैं। वायु में शुष्कता के कारण दर्द, पित्त में जलन अर्थात् गरमी के क रण पका कफ में गीलापन होने के कारण उक्त प्रक्रिया बर्तती है।

जिस व्रण में जीभ के रंग की लाली और कोमलता रहती है एवं जो विष और दुर्गन्ध रहित होता है उसको शुद्ध व्रण कहते हैं। जिस व्रण में कठोरता, दुर्गन्धि एवं सड़न आदि रहती है अथवा मवाद चिपकी रहती है उसको अशुद्ध अथवा दुष्ट व्रण कहते हैं। पहले ही लिखा जा चुका है कि कई प्रकार के दुष्ट व्रण विभिन्न प्रकार के विषों के कारण ही अकसर हुआ करते हैं—जैसे मधुमेह के कारण विष व्रण (Carbuncle) एवं सूजाक और गर्मी के कारण बाघी (Bubo) आदि।

व्रणोपचार—महर्षि चरक एवं श्री सुश्रुताचार्यजी ने व्रण के स्वेदन, बन्धन, प्रक्षालन, लेपन, भेदन तथा जोंक लगाने आदि प्रकार से साठ तरह के उपचारों

का उपदेश दिया है। स्थानाभाव के कारण इस छोटी-सी पुस्तक में उस विस्तृत वर्णन का संक्षिप्त सारांश मात्र ही रखा गया है।

स्वेदन कर्म के विषय में तो पहले ही लिखा जा चुका है। बन्धन अर्थात् बन्धन के विषय में ही निम्नलिखित १४ बन्धन के सोदाहरण विवरण का सरल विश्लेषण प्राप्त है। (सुश्रुत सूत्र अ० १८)। कोश, दाम स्वस्तिक, अनुवेल्लित, प्रतोली, मण्डल, स्यगिका, यमक, खट्वा, चीन, विबन्ध, बितान, गोफण और पञ्चांगी।—इसी प्रकार प्रक्षालन, लेपन एवं भेदन आदि की व्याख्या भी लिखी गयी है।

भेदन (चीर-फाड़) श्रीसुश्रुताचार्य ने बहुत ही सुन्दर एवं सरल प्रकाश डाला है। आपकी पुस्तक में शस्त्र एवं यन्त्र से लेकर किस प्रकार किस स्थान एवं सिरा आदि को चीरना चाहिए बहुत ही सरल ढंग से वर्णन किया गया है।

शस्त्र की परिभाषा में लिखा है कि—विद्रधि आदि फाड़ने के लिए औजार को शस्त्र कहते हैं तथा शस्त्र के निकालने के लिए प्रयुक्त होनेवाले वस्तु को यन्त्र कहते हैं। प्रमुख शस्त्रों की संख्या २० और यन्त्रों की संख्या १०१ है। शस्त्र के विषय में लिखा है कि अच्छे लौह का बना, तेज धार तथा सुन्दर बेंटवाला शस्त्र उत्तम समझा जाता है। यन्त्रों के चित्र के साथ उपयोगिता का भी अमूल्य उपदेश है। शस्त्र के गुण के अलावे दोषों का वर्णन भी उसी प्रकार देखने में आता है यथा—

बाँका, भोथरा, खरधरा, ज्यादा मोटा, ज्यादा छोटा, बहुत लम्बा और अत्यन्त छोटा से आठ दोष शस्त्रों के हैं।—शस्त्र दोष लिखकर इसके अपवाद स्वरूप करपत्र नामक शस्त्र के विषय में लिखा है,—करपत्र शस्त्र का धार पैना होना चाहिए क्योंकि इससे हड्डी काटने का कार्य होता है। आयुर्वेद शास्त्र में शस्त्र के अलावे अनुशस्त्र का भी वर्णन आया है जिसके साधन निम्न प्रकार हैं—

बांस, स्फटिक, काँच, कुरुबिन्द, जोंक, अग्नि, खार, नख, सिहोड़ी, सेफालिस, शाक पत्र, करील, बाल और ऊँगली।

शस्त्र, अनुशस्त्र एवं यन्त्रादि के वर्णन के लिए अलग-अलग पुस्तक तैयार करने पर ही पूर्ण भाव दर्शाना सम्भव हो सकता है। अनुशस्त्र नाम से 'जोंक' नामक जीव का भी नाम आया है। उस जाति पर एक संक्षिप्त विवेचन—

जोंक

जोंक बारह प्रकार की होती है, यथा—पिंगला, कपिला, मूषिका, पुण्डरीक मुखी, सावरिका, शंकुमुखी, कृष्णा, अलगर्दा, कर्बुरा, समुद्रिका, गोचन्दन और इन्द्रायुधा। इनमें प्रथम से लेकर छठवीं तक निर्विषा और सातवीं से लेकर बारहवीं तक सविषा अर्थात् विषैली होती हैं। विषैली जोंक के काटने से खुजली, सूजन, मूर्छा, वमन, कम्पन एवं दाह तथा ज्वर आदि पैदा हो जाते हैं। विषैली जोंकों के काटने पर खाने की दवा से लगाने की दवा तथा नस्यादि से विशेष लाभ होता है। इन्द्रायुध जोंक के शरीर पर इन्द्रधनुष के समान विभिन्न प्रकार की रेखायें देखने में आती हैं। यह भयानक विषयुक्त होती हैं। इनका दंश असाध्य होता है।

जहरीली मछली तथा उग्र विषयुक्त कार्यों के मल-मूत्र द्वारा उत्पन्न होने वाली तथा सड़े एवं दुर्गन्ध युक्त जल में निवास करनेवाली जोंक प्रायः विषैली हैं। नर्मदा नदी के आस-पास, खासकर गम्भीर जल वाले तालाब एवं कमल पुष्प से सुसज्जित तालाबों में निवास करनेवाली जोंक निर्विषा हुआ करती हैं। निर्विषा जोंक ईरान, ईराक तथा अफगानिस्तान आदि देशों में भी पायी जाती हैं। आयुर्वेद शास्त्र में बाल, वृद्ध, कोमल स्वभाव वाले मनुष्य तथा डरपोक मनुष्य के लिये जोंक का प्रयोग बहुत ही उचित बतलाया गया है।

जोंक किस प्रकार लगाना चाहिये—

जिस स्थान पर जोंक लगाना हो उस स्थान पर एक बूँद दूध अथवा एक बूँद रक्त लगाकर जोंक पकड़ा देना चाहिये। अगर दूध अथवा रक्त पर जोंक नहीं पकड़ पाये तो उक्त स्थान पर धारदार शस्त्र (नस्तर) से हल्का खँरोच देकर जोंक पकड़ा देने के बाद ऊपर से मलमल का भिगा वस्त्र डालकर धीरे-धीरे शीतल जल छिड़कते रहना चाहिए। दंश स्थान में खुजली या पीड़ा होने

पर जोंक को अलग कर देना चाहिये। अगर छुड़ाने से जोंक नहीं छूटे तो उसके मुँह पर थोड़ा-सा नमक का जल देने से शीघ्र ही छूट. जायेगी। जोंक छूट जाने के बाद उस स्थान पर मधु चुपड़ देना चाहिए।

आयुर्वेद शास्त्र में—वात दोषयुक्त रक्त को सिंगी द्वारा, पित्त दोषयुक्त रक्त को जोंक और कफ दोषयुक्त रक्त को तुम्बी द्वारा रक्त निष्काशन उत्तम बतलाया गया है। आजकल सिंगी तुम्बी का प्रयोग नाई तथा नटों द्वारा और जोंक का प्रयोग मेहतर तथा धरिकार आदि जातियों द्वारा काफी मात्रा में हुआ करता है। खासकर देहातों में तो इनके विशेष प्रयोग होते हैं।

जोंक पालने वाले बड़ी सावधानी से भींगे वस्त्र के सहारे जोंकों को पकड़ कर घड़े में रखते हैं। जोंकों को जीवित रखने के लिए तीन चार दिनों पर घड़े का पानी बदल देना आवश्यक है। खाने के वास्ते सूखे मांस, सेवार तथा जल में उगने वाली घासों को भी घड़े में छोड़ा जाता है। दंश स्थान में छुटी हुई जोंकों को चावल के कण या चावल के आटा में तुरन्त लपेट देना पड़ता है। मुँह पर तेल अथवा नमक थोड़ा-सा जल देकर हाथ में जोंक की पूँछ पकड़ दूसरे हाथ की चुटकी द्वारा पूँछ से मुँह तक दबाकर चूसा हुआ रक्त निकाल दिया जाता है। जिन जोंकों का पेट बिल्कुल साफ हो जाता है, जल में छोड़ते ही चलने लग जाती हैं।

यद्यपि सिंगी, तुम्बी और जोंक लगाने वाले अपढ़ ही हैं फिर भी हैं कार्य-कुशल एवं सिद्धहस्त। अगर उक्त प्रयोग में स्वच्छता का समावेश तथा उत्तम औजारों का उपयोग हो तो अवश्य ही ये शास्त्रीय प्रयोग सरल तथा खतरा रहित हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में शस्त्रकर्म करने वाले चिकित्सकों को शस्त्र, यन्त्र, क्षार, अग्नि शलाका, शृंग, जलोका और अलाबू आदि रखने का उपदेश दिया गया है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में केवल शस्त्रोपचार पर इतनी अतिवृद्धि देखने में आती है। जिस समय उक्त सभी उपचारों की समुचित व्यवस्था हो पायेगी, कैसा सुन्दर उपचार होगा, पाठक इसका स्वयं अन्दाज लगा सकते हैं। जलोका, क्षार एवं शस्त्रकर्म के अलावे बहुत से रोगों पर जड़ी-बूटी आदि के भी प्रयोग बहुतायत से देखने में आते हैं। लेकिन उन जलोका, क्षार एवं

सिंगी, तुम्बी के प्रयोग करनेवाले को साधारण तालीम दी जाय तो विशेष लाभ हो सकता है। आयुर्वेदशास्त्रियों द्वारा बिछुड़ी हुई शस्त्र चिकित्सा पाश्चात्य देशवासियों एवं अपने देश के जर्राह तथा नाइयों के यहाँ निवास करने लगी है। दुःख है कि यह अपनी सम्पत्ति आज खुद अपने लिये पहेली बन गयी है। आयुर्वेद महाविद्यालयों में भी इसकी शिक्षण व्यवस्था नगण्य सी ही है। विदेशी शासकों द्वारा नाबालिक करार दी हुई बहुत-सी वस्तुयें करवट बदलती-सी दीखती हैं लेकिन चिकित्सा मात्र की जननी आयुर्वेद की प्रमुख चिकित्सा प्रणाली प्रायः निद्रावस्था में ही पड़ी है।

विष व्रण (Carbuncle) की व्यवस्था एवं चिकित्सा पर संक्षिप्त विवरण—

यह व्रण प्रायः उन्हीं लोगों को विशेष रूप से होता देखा गया है जिनके पेशाब में चीनी आती है तथा व्रण ज्यादातर पीठ में ही निकलता है, लेकिन कभी-कभी शरीर के अन्य स्थानों में भी होते देखा जाता है। इसको विष-व्रण के अलावे पृष्ठ व्रण, अदृश्य व्रण तथा पिरकी आदि भी कहते हैं। पहले तो यह साधारण फोड़ा जैसा ही निकलता है लेकिन दो-तीन दिन बाद ही काली आभा लिए काला अथवा नीला रंगयुक्त हो जाता है। साधारण व्रण में तो केवल एक ही मुँह होता है लेकिन विष व्रण में मधुमक्खियों के छत्ते की तरह कई एक मुँह हो जाते हैं। इसमें असह्य दर्द, भीषण यन्त्रणा, अत्यधिक टीस के अलावे बेचैनी, ज्वर, दाह, प्यास, सुस्ती, आलस्य तथा शुष्कता आदि त्रिदोषज लक्षण दिखलाई पड़ते हैं। व्रण का ऊपरी आवरण हटते ही इसका अचानक छिद्र-युक्त चित्र झलक पड़ता है। अगर व्रण अच्छा होने पर रहता है तब तो इस पर पीव साफ होकर लाली दौड़ जाती है; नहीं तो दुष्ट व्रण के लिखे लक्षण उपस्थित हो जाते हैं। ऐसी हालत में व्रण से दुर्गन्ध आने लगती है तथा व्रण उबड़ा-खबड़ा होकर भयावना रूप धारण कर लेता है। प्रायः रक्त दूषित होकर ही व्रण पैदा होता है लेकिन व्रण की बिगड़ती हुई दशा में पीव ज्वर (Pyaemia) होने की विशेष आशंका रहती है।

पाइमिया—में जाड़ा देकर रोज अथवा एक रोज नागा देकर ज्वर आता है। भूख नहीं होना, पेट की गड़बड़ी, अतिसार एवं मल में सड़ी गन्ध के अलावे शरीर सूखता जाता है।

चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन काल में मुझे कई एक विष-व्रणियों की चिकित्सा डाक्टरों द्वारा करते हुये भी देखने का मौका मिला था। इस चिकित्सा पद्धति से भी प्रायः उन्हीं लोगों को विशेष रूप से लाभ होते देखा जाता था जो मधुमेह रोग से वंचित थे। पेशाब मे दोष रहने पर 'इनस्यूलिन सूचिका' जिसके अनुसन्धान पर विलायत का नावेल पुरस्कार मिल चुका है, देते थे। प्रयोग स्वरूप पेशाब को हालत तो सुधरती थी लेकिन व्रण में आशातीत फल नहीं होता था। उसी समय मुझे एक विष व्रण चिकित्सक मद्रासी डॉक्टर का पता लगा जिसको इस रोग का विशेषज्ञ (Specialist) कहा जाता था। उक्त चिकित्सक की ख्याति सुनकर मैं मद्रासी डाक्टर पूछते हुए उनके निवास स्थान पर पहुँचा। लेकिन वे मद्रासी नहीं बल्कि बंगाली थे। उनके यहाँ बहुत दिनों तक आते-जाते रहने पर पता चला कि व्रणयन्त्रणा को शान्त करने के लिए हर दो घण्टों पर ताजे पके टमाटर का लेप अथवा पके टमाटर के चूर्ण का लेप, व्रण सूखने और पूरने के लिये बरगद के दूध की पट्टी और भीतरी प्रयोग के लिये होमियोपैथिक दवाओं को काम में लाते हैं। होमियोपैथिक दवाओं में एन्थ्रासिनम, माइरोस्टका और एचिनेसिया नामक दवाओं को विशेष रूप से काम में लाते थे। उक्त दवाओं को परिस्रुत जल अथवा दुग्ध शर्करा की ५ ग्रेन वाली सादे रंग की टिकिया में देते थे। रोगियों के पथ्य तथा परहेज पर विशेष ध्यान देते थे। वास्तव में उनको उक्त प्रयोगों द्वारा विशेष सहायता मिलती थी।

चिकित्सारम्भ के कुछ ही महीनों बाद मेरे यहाँ विषव्रण पीड़ित एक शिक्षक महोदय चिकित्सा एवं उचित सलाह के लिये आये।

मैंने उनको किसी अच्छे चिकित्सक द्वारा चिकित्सा कराने की राय दी। शिक्षक महोदय बक्सर केन्द्रीय जेल (Central Jail) के तत्कालीन चिकित्सक श्री चन्द्रा साहब के यहाँ गये जो I.M.S. थे। उक्त चिकित्सक ने उनके व्रण को असाध्य बतलाते हुए बिहार के सर्वश्रेष्ठ चिकित्सालय (पटना) में जाने की राय देकर बिदा कर दिया। उसके अलावे और भी कई एक डाक्टर लोगों को उक्त व्रण पीड़ित शिक्षक को दिखलाया गया, लेकिन सर्वत्र से एक ही उत्तर मिला जो जेल सुपरिण्टेन्डेण्ट से मिला था। शिक्षक महोदय शल्य चिकित्सा के नाम से ही थर्रा उठते थे। इसी उधेड़बुन के अभ्यंतर तत्कालीन डुमराँव

राज्य चिकित्सालय में एक विषव्रण भोक्ता मिला। वह आदमी दो साल पहले इस रोग का शिकार हुआ था। लेकिन उस दिन उसका स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक था, केवल उसकी पीठ पर दो इंच की गोलाई में विष-व्रण का दाग मौजूद था। उसी आदमी से पता चला कि नगवा ग्राम (जो डुमराँव स्टेशन से लगभग चार मील उत्तर की ओर है) में एक जड़ी मिलती है जिससे यह रोग अच्छा हो जाता है। उसके कहे मुताबिक ही एक दर्जन साँची पान के साथ उक्त शिक्षक महोदय पालकी द्वारा नगवा पहुँचे। चिकित्सक पढ़े-लिखे नहीं बल्कि एक अनपढ़ किसान हैं। उनके घर के लोग अपने को बरदान विभूषित समझकर विषव्रणियों की निःशुल्क चिकित्सा किया करते थे।

वहाँ पर साँची पान में एक जड़ी शिक्षक महोदय को खिला दी गयी और घाव पर बरगद के दूध की पट्टी का उपचार बतलाकर बिदा कर दिया गया। उक्त दवा से उनका विषव्रण बहुत जल्द ही अच्छा हो गया। उनके अलावे बहुत दूर-दूर के आदमी नगवा आकर जड़ी लिया करते हैं और औसतन शल्य चिकित्सा से उनकी जड़ी से ही अधिक लाभ देखने में आता है। लगानेवाली दवा तो बरगद का दूध प्रत्यक्ष ही है। खानेवाली दवा को कास की जड़ बतलाया जाता है। लेकिन अभी तक उस जड़ी का नाम उनके परिवार के लोग नहीं बतलाते हैं। जो कुछ भी हो उनकी चिकित्सा में मुझे पूर्ण श्रद्धा है। उनकी जड़ी का पूर्ण पता होने पर उसको चिकित्सा वैज्ञानिकों के सामने रखने का अवश्य ही प्रयत्न करूँगा।

वातज व्रण की सूजन पर—बिजैने की जड़, छड़िला, देवदार, सोंठ, रास्ना और अरनी के पत्तों को पीसकर सुसुम लेप देने से तत्काल लाभ होता है।

पित्तज व्रण की सूजन पर—महुआ, रक्त-चंदन, दूब, आँवला, कमलनाल, खस, नेत्रवाला और पद्माख को शीतल जल के साथ ठंढे लेप से बहुत ज्यादा फायदा होता है।

कफज व्रण की सूजन पर—नागदमनी की जटा, बकुची, मेढ़ासिंगी, मजीठ, राल, असगंध और शतावर का सुसुम लेप बहुत लाभप्रद है। केवल नागदमनी

की जटा को भी बाँधने से प्लेग की गिल्टी तथा बाघी पर भी लाभ होता है। वातज व्रण में वातघ्न औषधियों, पित्तज व्रण में पित्तघ्न औषधियों और कफज व्रण में कफघ्न औषधियों के काढ़े से धोने अथवा पिलाने से लाभ होता है।

घाव पकाने के लिये निम्नलिखित औषधियों का व्यवहार कराना चाहिये—तीसी, प्याज, नीम की पत्ती, सहजने की छाल और अरंड का टूसा पीसकर लेप करने से घाव पक जाता है। कड़वी तुम्बी और पीपल वृक्ष के नरम पत्तों को पीसकर सुसुम लेप देने से घाव पकता है। कपास का टूसा, अरहर की दाल और सेंधानमक को समभाग लेकर सुसुम लेप देने से भी घाव पक जाता है। पित्तकारक औषधियों के सुसुम लेप से प्रायः सभी प्रकार के व्रण पक जाते हैं।

व्रण भेदन—अर्थात् फोड़ा चीरना। व्रण पक जाने पर पीव निकालने को दो प्रक्रियायें हैं—भेदन औषधि प्रयोग द्वारा, दूसरा नस्तर द्वारा। निम्नलिखित औषधियाँ भेदन गुण युक्त हैं :—

सज्जी, जवाखार, खारानमक, भिलावा, कनेर, ओंगा, दात्युनी की जड़, करंज की जड़, चूना, हाथी का दाँत और कबूतर की बीट आदि। केवल हाथी के दाँत को भी पानी के साथ पीसकर सुसुम लेप देने से फोड़ा फूटकर पीव निकल जाता है। एक हकीम साहब के यहाँ—कबूतर की बीट २० भाग, मधु ५ भाग, सेंधानमक, २॥ भाग और भींगा हुआ चूना सवा भाग सुसुम जल से घोलकर लेप दिया जाता है। प्रत्येक दो घण्टों पर इस दवा के सुसुम लेप से घाव जल्द ही पककर पीव निकल जाता है। बहुत सिफारिश के बाद उक्त योग हकीम साहब से प्राप्त हुआ। वास्तव में इस प्रयोग से बहुत ज्यादा लाभ होता है। लेकिन इस दवा के मद में कानी कौड़ी भी लेना हराम है।

सनलाइट साबुन और चीनी को समभाग लेकर सुसुम लेप देने से फोड़ा फट जाता है। जिस फोड़ा में पीव आ जाता है उसमें टपकने जैसा दर्द अर्थात् वह खौलने लगता है। हल्दी जलाकर भस्म तैयार कर लेवें—उक्त भस्म में थोड़ा-सा भींगा चूना मिलाकर फोड़ा पर रखने से छेद हो जाता है। यह दवा बहुत थोड़ी-सी चढ़ाई जाती है क्योंकि जितनी दूर में लगी है, छेद हो जाता है। फोड़ा में छेद करने के वास्ते निम्नलिखित दवा अचूक हैं। तूतिया को

मिट्टी के टुकड़े में रखकर ऊपर से किसी ढकनी से ढँककर कंडे की आग के बीच रखकर भस्म कर लेवें। उक्त भस्म में से थोड़ी-सी दवा लेकर नीबू के रस के साथ घाव पर रखने से अवश्य छिद्र बन जायेगा। इस दवा को हजारों बार आजमाया जा चुका है।

घाव फट जाने अथवा चीरने के पश्चात् उसपर नीम की पत्ती पीसकर लगाना हितकर है। नीम के पानी अथवा त्रिफला के क्वाथ के प्रयोग से बहुत ज्यादा लाभ होता है। स्वामी विद्यानन्दजी के बताये निम्न प्रयोग से सड़ा से सड़ा मांस घाव से आप से ही निकल जाता है।

जिस घाव में सड़न पैदा हो जाय उसको नीम की पत्ती के सुसुम काढ़ा में प्रतिदिन सवा घंटों तक भिगो कर रखें। इस प्रकार सड़े हुए मांस के साथ चिपका मवाद भी निकल जाता है। वास्तव में घाव के लिये नीम बहुत ही लाभदायक वस्तु है। भारतवर्ष से बहुत ज्यादा मात्रा में इसकी छाल वगैरह विदेशों में भेजी जाती है। वहाँ नाना प्रकार की रक्तशोधक औषधियाँ बनकर कई एक गुना अधिक कीमत पर यहाँ आकर बाजारों में बेची जाती हैं। रस-माणिक्य रस के खिलाने से रक्त शुद्धि होती है तथा घाव भी भरते हैं। गोरख-मुण्डी के अर्क एवं काढ़ा से भी रक्त शुद्ध हो जाता है।

घावों पर तैल प्रयोग--

निम्ब तैल

मैनसिल, हरताल, भिलावा, छोटी इलायची, अगर, सफेद चन्दन और चमेली की पत्ती के समभाग में—१३ तोले ४ माशे की वजन में लें। उक्त औषधियों का आठ सेर क्वाथ तैयार करके उस क्वाथ को दो सेर नीम के तैल में मिलाकर तैल सिद्ध कर लेवें। काढ़ा जलकर केवल तैल मात्र शेष रहने पर उसको लगाने से छिद्रयुक्त व्रण तथा भगन्दर आदि का नाश हो जाता है। (यो० त०)

फिरङ्गोपदंश हर तैल

तिल तैल आधा सेर, जंगाल का चूर्ण आठ आने भर और कपूर एक तोला लेवें। पहले तिल तैल को आग पर चढ़ावें। जब फेन उठने लगे तो उसमें जंगाल का चूर्ण मिला देवें। चूर्ण घुलते ही तैल को अग्नि पर से उतार कर उसमें कपूर मिलाकर एक घन्टा पर्यन्त अच्छी तरह से घोट लेवें। शीतल होने पर बोतल में रख लेवें। इस तैल में रुई भिगोकर घाव पर रखने से उपदंश का घाव भी अच्छा हो जाता है। (धनवन्तरि)

विपरीत मल्ल तैल

सिन्दूर, कूट, वच्छनाग, लहसन, चित्रक, सुगन्धवाला और कलिहारी की जड़ १।—१। तोले लेवें। एक सेर कड़ुए तेल में उक्त दवाओं का कल्क और चार सेर जल डालकर तैल सिद्ध कर लें। घाव, कुष्ठ एवं खुजली आदि में इससे लाभ होता है। (आरोग्य-प्रकाश)

आरोग्य प्रकाश में लिखित मल्ल तैल निम्न प्रकार है—

जावित्री, जायफल, लौंग काली मिर्च और दालचीनी प्रत्येक चार-चार तोले लेकर महीन चूर्ण बना लें। नीली रंग की एक बोतल लेकर तीन कपरौटी करके उसमें आधा चूर्ण भर देवें, बीच में तीन तोले संखिया का चूर्ण डालकर उसके ऊपर गुगल और गन्धक का छः छः माशे चूर्ण दें, तदुपरान्त जावित्री आदि औषधियों का शेष आधा चूर्ण भरकर झाड़ू के पतले तिनके से बोतल का मुँह बन्द कर दें और पताल यन्त्र की विधि से तेल निकाल लें। यह तैल नपुंसकता आदि पर व्यवहार किया जाता है और विपरीत मल्ल तैल घाव, कुण एवं अन्य चर्म रोगों के लिये। मल्ल तैल की मात्रा–५ से १० बूँद तैल को तिल तैल में मिलाकर मालिश करने से वातरोग तथा नपुंसकता में लाभ होता है। सूजाक आदि के कारण इन्द्रिय में टेढ़ापन आ जाने पर भी इस तैल के मालिश से लाभ होता है लेकिन इन्द्रिय के मुख पर यह तैल नहीं लगना चाहिये—

—(आरोग्य-प्रकाश)

घाव पूरने के लिये—

जात्यादि घृत

चमेली की पत्ती, करञ्ज की पत्ती, पटोल की पत्ती, मुलैठी, हल्दी, कुटकी, मंजीठ, नीलोफर, खस, करञ्ज की गिरी, सरिवा, निशोथ और पीपल का कल्क १–१ तोला, गाय का घी ५६ तोले और पानी २२४ तोले सबको एकत्र मिलाकर मन्दाग्नि पर पकाकर घृत उतार कर छान लें। इससे नाड़ी व्रण, दुष्ट व्रण, मकड़ी आदि के घाव, आग से जलने तथा कठिन और गहरे घाव भी अच्छे हो जाते हैं। इसको मरहम की भांति लगाने से मर्मस्थान के घाव भी अच्छे हो जाते हैं। (हारीत संहिता)

जिस घाव से मवाद निकलने लगे उसको नीम, त्रिफला, पोटास आदि के जल से अच्छी तरह धोकर पानी को रुई के फाहे से उठा लेने के पश्चात् मलहम लगाना चाहिये। मगर कुछ ऐसे भी मलहम आदि उपयोगी हैं जिनमें जल लगाना मना है। आयुर्वेद शास्त्र में घी, मधु तैल एवं मोम आदि में मलहम बनाने का विधान लिखा है। अतः घाव के मुताबिक घृत तैल आदि के गुणों को भी समझ लेना चाहिये। डाक्टरी मतानुसार उजली वेसलीन और पीली वेसलीन में मलहम तैयार किया जाता है। मलहम के लिये विष एवं पारद आदि बिना संस्कार किये ही अर्थात् अशुद्ध ही लिये जाते हैं। दुष्ट व्रणों की चिकित्सा के लिये तो खासकर विषाक्त मलहमों का प्रयोग देखने में आता है। एलोपैथी चिकित्सा में घाव के लिये भी पेनिसिलिन सूचिका का विशेष रूप से व्यवहार होता है। पुराने घाव के लिये "आयडो फार्म" एवं अन्य दवाओं का प्रयोग होता है। इस दवा को वेसलीन के साथ मिला कर लगाया जाता है। लेकिन आयडोफार्म युक्त मलहम लगाते समय चिकित्सक को सावधानी रखनी चाहिये। इस मलहम से कभी-कभी घाव में ज्यादा मांस निकल आता है जिसके फलस्वरूप कैंची आदि से काटने की नौबत आ पहुँचती है। घाव के लिये निम्न मलहम विशेष गुणकारी है।

घाव का उत्तम मलहम (आरोग्य-प्रकाश)

मुर्दाशंख, सुहागा, तूतिया, कत्था, कबीला, काली मिर्च और अजवायन प्रत्येक तीन-तीन तोले; कपूर ९ माशे, सफेद कागज १। तोला, सुपारी ४ नग,

और पीली कौड़ी चार नग लें। इनमें से मिर्च, अजवायन और सुपारी इन तीनों को अधजली कर लें तथा पीली कौड़ी की भस्म बना लें पश्चात् सभी औषधियों को कपड़ छान चूर्ण कर गाय के घी में मिलाकर रखें। इससे सब तरह के घाव अच्छे हो जाते हैं। नीम की पत्ती औटा कर घाव धोकर इसका प्रयोग करना चाहिये।

गुलाबी मलहम—(सिद्ध योग संग्रह)

सौ बार धोया हुआ घी दस तोला, पुष्पांजन (जिसको अंग्रेजी में जिंक ऑक्साइड कहते हैं) १ तोला, सिन्दूर १ तोला, रसकपूर ६ माशे, कपूर १ तोला, चन्दन का तैल १ तोला सबको एकत्र घोंट, मिलाकर काँच के पात्र में भर लें। इससे अर्श, खाज, खुजली एवं आग से जला घाव भी अच्छा हो जाता है।

जीवन्त्यादि मलहम—(सि० यो० संग्रह)

जीवन्ती की जड़, दारू हल्दी और कबीला प्रत्येक चार-चार तोला और नीलाथोथा का महीन चूर्ण १ तोला। इन सभी औषधियों को जल के साथ पीसकर कल्क बना लें। तिल का तैल ३२ तोला, गाय का घी ३२ तोला, गो-दुग्ध ६४ तोला और पानी २५६ तोला मिलाकर स्नेह पाक विधि से पकावें। स्नेह पाक सिद्ध हो जाने पर उसको कपड़छान चूर्ण बना, थोड़ा गर्म करके उसमें राल का चूर्ण ८ तोला, और मोम आठ तोला, कपड़े से छानकर काँच के बर्तन अथवा चीनी मिट्टी के बर्तन में भरकर ऊपर से चार अंगुल प्रमाण से ठंढा जल रखकर सुरक्षित स्थान में रख दें। इस जल को चार दिन के बाद बदलता रहे। बिना धोये इस मलहम को हाथ पाँव के तलवे फटने और पाँव की अंगुलियों के बीच की गंसा सड़ने पर लगावें। धोये हुये मलहम को खुजली, घाव एवं बवासीर पर लगाने से लाभ होता है।

श्वेत मलहम (सि० यो० संग्रह)

१६ तोला तिल के तेल को मन्दी आंच पर चढ़ावें। जब तेल से धुआं निकलने लगे तब चार तोला राल का चूर्ण और सूक्ष्म पिसा हुआ तूतिया उसमें डालकर तेल को आंच से उतार लें। राल, तैल में घुल जाने पर कपड़े से छान कर एक थाली में डालकर ठंढा कर लें। ठंढा होने पर थोड़ा-थोड़ा जल मिलाते

जाना चाहिये और हाथ से मसलते जाना चाहिये। थोड़ी-थोड़ी देर पर पानी बदलते जाँय, जब मलहम का रंग श्वेत हो जाय तब उसको कांच के बर्तन में रख कर ऊपर से थोड़ा-सा जल देकर बन्द कर दें। यह जल हर तीसरे दिन बदलते जाना चाहिये वरना मलहम काला हो जायेगा। पानी नहीं डालने से मलहम खुश्क हो जाता है। इस मलहम से गुदा और इन्द्रिय के आस-पास की सूजन और पाक तथा अन्य स्थानों के फोड़ा एवं फुन्सियों तथा बवासीर आदि में भी पूर्ण लाभ होता है।

बिरोजे का लाल मलहम (सि० यो० संग्रह)

गंधा विरोजा ४० तोला और हिंगुल एक तोला लें। पहले गंधा विरोजा को आंच चढ़ाकर पिघलायें बीच-बीच में उसके एक दो बूंद चम्मच या चाकू से जल भरे पात्र में डालें। उसको अँगुली से देखते रहें कि मलहम बनाने योग्य हुआ या नहीं ? जब मलहम बनने लायक हो जाय तो कपड़े से छान कर सिंगरफ का महीन चूर्ण थोड़ा-थोड़ा करके डालते जायँ और तब तक हिलाते रहें, जब तक मलहम ठंढा न हो जाय। इस प्रकार नहीं हिलाने से हिंगुल नीचे बैठ जाने का डर रहता है। इस मलहम से व्रण की पीड़ा शमन होती है, व्रण शुद्ध होता है और व्रण भरता भी है। यह मलहम बहुत उपयोगी है। मैंने इस मलहम का व्रण भरने के लिये प्रयोग करके आशातीत फल प्राप्त किया है। (लेखक)

हरा मलहम—(सी० यो० संग्रह)

गंधा विरोजा ४ तोला, जगला दो तोला, साबुन दो तोला, पापड़ खार तीन तोले और पत्थर का कोयला २ तोला लें। पहले गंधा विरोजा को धीमी आँच पर पिघलाकर मलहम बनाने योग्य तैयार कर लें पश्चात् अन्य द्रव्यों को मिलाकर ठंढा होने तक हिलाते रहें। इसके प्रयोग से व्रण शोधन होता है तथा पका हुआ फोड़ा फट जाता है।

नासूर नाशक मलहम—(ध०)

पत्थर का चूना आधा पाव लेकर पावभर तिल तैल में डालकर अच्छी तरह से घोंट लें। इस मलहम को नासूर पर बाँधने से लाभ होता है। नासूर नामक घाव में पतला डोरा-सा एक पदार्थ रहता है जो इस रोग की जड़

है। इस मलहम को नासूर पर बाँधकर ३ रोज तक रहने दें। पश्चात् खोल कर देखने से डोरा जैसा पदार्थ निकला हुआ देखने में आता है। एक ही पट्टी से यह कार्य हो जाता है अगर आवश्यकता हो तो दूसरी पट्टी भी दे सकते हैं। इस दवा के प्रयोग के समय स्नान करना वर्जित है।

घाव के दोषानुसार उपयुक्त एवं रक्तशोधक औषधियों की टिकिया, अर्क, आसव, आरिष्ट, वटी, चूर्ण, घृत, तैल, अवलेह, एवं मलहम के आयुर्वेद-शास्त्र में बहुत से नुस्खे भरे पड़े हैं। लेकिन नीम, बकायन, त्रिफला, कनेर एवं गूलर के क्वाथादि से अंग्रेजी धावन (lotion) लाइसल, डेटॉल और ई० सी० आदि का ही प्रयोग उत्तम समझा जाता है जो पाश्चात्य देशाभिमुखता का सजीव उदाहरण है।

एलोपैथिक फार्मेसियों में भी बोरिक मलह्म, जिंक आक्साइड मलहम, वेला-डोला मलहम, कॉलोमेल मलहम, बोरेक्स मलहम, सिबाजाल मलहम तथा पेनि-सिलिन आदि अनेकों प्रकार के मलहम मिलते हैं। पेटेण्ट मलहमों की तो बाढ़-सी आ गयी है। डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा परीक्षित कुछ पेटेण्ट दवायें—

घाव तैल—डाक्टर रामकृष्ण

यह बाम्बे की एक कम्पनी की पेटेण्ट दवा है। इसकी कीमत लागत से ६ गुना अधिक रखी गयी है। योग निम्न प्रकार है—

सरसों का तेल एक औंस और आयडीन पल्व १६ ग्रेन। उक्त दवा को तैयार करने का तरीका है कि आयडीन पल्व को पीसकर तेल में मिला आग पर पका लेवें। थोड़ी उष्णता से ही दवा मिलकर एक दिल हो जायेगी। इसके प्रयोग से घाव आराम हो जाता है।

खाज की दवा—(खुजली के लिये—डॉक्टर रामकृष्ण)

यह दवा कलकत्ता से पेटेण्ट है। लागत से बहुत ज्यादा दाम रखा गया है। योग निम्न प्रकार है—बाइकार्बोनेट आफ सोडा २ ड्राम और डिस्टिल्ट वाटर २ ड्राम मिलाकर लगावें। सूख जाने पर साबुन से अच्छी तरह से धोकर चमेली का तेल लगाना चाहिए।

चर्मरोग हर तैल—यह दवा भी कलकत्ते से पेटेण्ट है। इससे दाद, खाज

एवं अन्य चर्मरोग अच्छे होते हैं। लागत से मूल्य बहुत ज्यादा है। योग निम्न प्रकार है—

तिल का तैल अच्छी प्रकार से साफ ३॥ औंस, कार्बोलिक एसिड आधा औंस और एसिड क्राइसोफेनिक १० ग्रेन को मिलाकर आग पर गर्म करें। मिल जाने पर फिल्टर से छानकर काम में लावें। सूखने पर साबुन से अच्छी तरह धो डालना चाहिये। (डॉ० रामकृष्ण)

व्रणनाशक मलहम (डॉक्टर रामकृष्ण)

इस दवा की कीमत लागत से पाँच गुना अधिक है। योग निम्न प्रकार है—कार्बोलिक एसिड २० ग्रेन, वेसलिन एक औंस, ओलिव आयल एक औंस, बोरिक एसिड २ ड्राम और मोम एक ड्राम सबको उष्णता देकर गलाकर एक दिल कर लें। इससे व्रण में लाभ होता है—

व्रणहर मलहम (डॉक्टर रामकृष्ण)

ढाका से पेटेण्ट दवा—

शहद ८ माशे, घी ८ माशे, रसौत ६ माशे, कली चूना सूखा ४ माशा, तूतिया भुना ४ माशे, मुर्दाशंख २ माशे और कबीला १॥ माशे। सभी औषधियों को खरल कर एक दिल कर लें। इस दवा से फोड़ा, फुन्सी, नासूर एवं व्रण अच्छा होने की बात बतलायी गयी है।

दद्रु गजकेशरी (डॉक्टर रामकृष्ण)

मथुरा से पेटेण्ट दवा—

गोआ पाउडर आधा औंस, **अमलासार** गंधक २ ड्राम, सुहागा ३ ड्राम को अलग-अलग पीसकर एक में मिला लें। दिनाय की अच्छी दवा है। लागत से चार गुना अधिक मूल्य रखा गया है।

मेरे एक मित्र द्वारा निम्नलिखित दवा पेटेण्ट के रूप में बिकती है जिसकी पुड़िया और मलहम दोनों प्राप्त होते हैं। योग निम्न प्रकार हैं—

गोआ पाउडर, एसिड बोरिक और क्राइसोफोनिक एसिड। इन औषधियों को एक में मिलाकर पुड़िया बना लेवें। उक्त पुड़िया को गरी के तेल में मिला

कर लगाने से खाज, खुजली, घोड़कड़ एवं अन्य चर्मरोग अच्छे हो जाते हैं। यह दवा मलहम के रूप में की डिब्बियों में मिलती है।

अकौता (Eczema)

यह रोग २ प्रकार का होता है—सूखा या गीला। सूखे अकौते में खुजलाहट के अलावे ऊपरी भाग में भूसी जैसे छूटती है। गीले अकौते से मधु जैसा चटचटहा मवाद निकलता है।

इस रोग का आक्रमण शरीर के किसी भी अंग पर हो सकता है लेकिन विशेषकर यह हाथ-पैर की अंगुलियों में होकर गर्दन के पिछले भाग पर पहुंच जाता है। बाह्य प्रयोग से यह अच्छा तो होता है लेकिन बहुत शीघ्र ही पुनः बाहर निकलते देखा जाता है। अतः विरेचन द्वारा शरीर शुद्ध करने के पश्चात खाने एवं लगाने की दवा का प्रयोग करना चाहिये। व्रण एवं खुजली आदि जैसे इस रोग पर भी अनेकों शास्त्रोक्त नुस्खे हैं?

पेटेण्ट दवा के लिये तो कहना ही क्या है?

सारिवाद्यारिष्ट के पिलाने तथा निम्नलिखित दवा से अकौता रोग में बहुत ज्यादा लाभ होता है। सारिवाद्यारिष्ट के अलावे किसी भी रक्त-शोधक दवा का प्रयोग किया जा सकता है। लगाने वाला प्रयोग स्वामी विद्यानन्दजी का अनुभूत है—

सरसों की खली (जो कोल्हू में तैयार होती है) पाव भर लेकर किसी मृत्तिका पात्र में रखकर उसका मुख बन्द कर कण्डों की आँच में रखकर भस्म तैयार कर लें। इस भस्म को सरसों का तेल आध पाव और नारियल का तेल आध पाव लेकर मिला लेने पर लगाने से बहुत ज्यादा लाभ होता है।

अकौता पर दूसरा प्रयोग—(स्वामी विद्यानन्दजी)

गेहूँ के आधे सेर पुष्ट दाने को भृंगराज के रस में तीन रोज तक भिगोने के पश्चात् छाया में सुखा लेवें। पश्चात् उसको एक मृतिका पात्र में रखकर ऊपर से ढक्कन लगाकर मिट्टी से बन्द कर दें। सेमर की रुई और गीली मिट्टी को देर तक कूटते रहने से बन्द करने योग्य मिट्टी तैयार होती है। ढक्कन में बारीक

छेद बनाकर बरें तेल की रीति से आग की आँच देकर गेहूँ का तेल निकाल कर, लगाने से दोनों प्रकार के अकौता रोग का नाश हो जाता है।

चूँकि आयुर्वेद शास्त्र का पंचभौतिक एवं त्रिदोषज उपदेशों का बहुत बड़ा महत्व है। अतः किसी भी रोग में दोषानुसार चिकित्सा करने से लाभ होता है। बहुत-से रोग ऐसे भी हैं जो इधर उत्पन्न हुए हैं अथवा माता-पिता के रजवीर्यहीनता के कारण व्यापक एवं प्रचण्ड रूप में देखने में आते हैं। यद्यपि पहले उस प्रकार के रोगों का वर्णन नहीं किया गया है लेकिन निदान एवं चिकित्सा रोग सम्मुख आते ही तैयार हो जाती हैं। प्लेग आदि रोगों का विशद वर्णन एवं व्यापकता का महत्व बहुत पीछे देखने में आया है लेकिन इस रोग को भी वातादि दोषानुसार चिकित्सा की सुन्दर व्यवस्था हो चुकी है। ऐसा होना सम्भव भी है, "जहाँ चाह, वहाँ राह।"

प्लेग (Plague)

यह रोग भी जनपदोध्वंस अर्थात् महामारी के नाम से प्रसिद्ध है। आयुर्वेद ग्रन्थों में महामारी के कारणों का सुन्दर विवरण है जिसका संक्षिप्त सारांश इस पुस्तक में भी दिया जा चुका है। हवा, पानी, देश एवं काल में विकृति पैदा हो जाने पर वायुमण्डल विषाक्त हो उठता है। दूषित जल एवं वायु आदि के सम्पर्क से पृथ्वी के भीतरी भाग में संचित विष भी कभी-कभी विस्फोट के रूप में भड़क उठता है जिसको महामारी के रूप में देखा जाता है। अधिकांश आचार्य प्लेग रोग को भूमिज विकार का ही परिचायक बतलाते हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है—

सर्वप्रथम यह रोग जमीन के अन्दर रहनेवाले जीव चूहों पर आक्रमण करता है। प्लेग ग्रसित चूहे तड़प-तड़प कर मरते हैं। उनके मृतक शरीर पर मक्खियों के झुण्ड आ जमते हैं। उक्त मक्खियाँ इस रोग को फैलाने में विशेष रूप से सहायक होती हैं। कभी-कभी यह रोग अन्य देशों से भी आ पहुँचता है, जिसके साधन पत्र, तार, पार्सल एवं अन्य सामग्रियाँ हैं।

चीन देश के चिकित्सक इस रोग से बहुत पहले ही परिचित हैं। तेरहवीं सदी में इस रोग से यूरोप में बहुत ज्यादा मनुष्यों की मृत्यु हुई थी। अपने देश में सर्व

प्रथम इस रोग का पहला आक्रमण शाह जहांगीर के जमाने अर्थात् सन् १६१२ में हुआ था जिसका साधारण प्रभाव ६ साल तक रहा। सन् १८६५ और १८९६ में भी इसके प्रकोप का इतिहास मिलता है। सन् १८९६ में शुरू होने पर छिटपुट आक्रमण के पश्चात् सन् १९०८ में इस रोग ने भीषण रूप धारण कर लिया। उस साल तमाम हिन्दुस्तान में इस रोग से त्राहि-त्राहि मच गयी। यों तो अभी तक इस रोग का जहाँ-तहाँ हमला होता ही रहता है लेकिन १९२२ साल के पश्चात् से बिल्कुल साधारण रूप में ही।

गीली जगह अथवा जिस स्थान में अंधकार रहता है अर्थात् जिस स्थान में सूर्य की रोशनी नहीं पहुँच पाती ऐसे स्थान विषयुक्त हो जाते हैं। आयुर्वेद मतानुसार विष अथवा दोष और डाक्टरी मतानुसार कीट कहा जाता है। उक्त विष मनुष्यों के खाने, पीने और श्वास आदि के सहारे शरीर में प्रवेश कर जाता है, फलस्वरूप प्लेग रोग हो जाता है।

आयुर्वेद शास्त्र में प्लेग नाम का कोई रोग नहीं आया है और न खास इस प्रकार का कोई नाम ही। बात असल यह है कि प्लेग तो अंग्रेजी भाषा का एक शब्द है। पहले के जमाने में आज की तरह लोग हीनवीर्य भी नहीं थे। आयुर्वेद शास्त्रानुकूल इस रोग का अन्दाज "औपसर्गिक सन्निपात" से लगाया जा सकता है। सन्निपात का वर्णन इस पुस्तक में पहले ही हो चुका है।

प्लेग रोग होते ही त्रिदोष अर्थात् सन्निपात के लक्षण पैदा हो जाते हैं। औपसर्गिक सन्निपात के कारण लसीका स्रोतों में विकृति पैदा हो जाती है जिसके फलस्वरूप शरीर के बाहरी भागों में फुड़िया निकलती है। आंत और फेफड़ों में भी यह विकार होना सम्भव है। मर्म स्थान में गिल्टी निकलने पर रोगी बहुत जल्द ही मर जाता है।

डॉक्टरी मतानुसार इसके दो भेद हैं—साधारण (Pestis Minor पेस्टिस माइनर) और कठिन (Pestis Major पेस्टिस मेजर)। साधारण प्लेग में तो सभी उपसर्ग साधारण ही दीख पड़ते हैं अर्थात् इस रोग का बिल्कुल साधारण आक्रमण होता है। लेकिन तीव्र प्लेग में तो औपसर्गिक सन्निपात का सचित्र रूप ही झलक पड़ता है। तीव्र प्लेग के भी तीन भेद हैं—ग्रन्थिज, सन्धि ग्रस्त और फुप्फुस प्रदाह जनित (न्यूमोनिक)। ग्रन्थिज प्लेग में—विष

लगने के प्रायः एक सप्ताह के अन्दर ही जाड़ा देकर तीव्र ज्वर हो जाता है। उस समय ज्वर का ताप १०४ से १०७° तक हो जाता है। ज्वर के अलावे सिर में भयानक पीड़ा के साथ तन्द्रा, मूर्च्छा और बेचैनी आदि उपसर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। प्लेग की गिल्टी—गर्दन, काँख, पट्टे एवं आँत आदि स्थानों में निकलती है। कभी-कभी इस रोग में मुँह, नाक तथा पाखाना के रास्ते रक्तस्राव भी होने लगता है, इस हालत में इसको रक्तस्रावी प्लेग कहते हैं।

संधिग्रस्त प्लेग में—शरीर के ऊपरी भाग में ग्रन्थि नहीं दिखलायी पड़ती है। अगर कभी दिखलायी भी पड़ती है तो बहुत ही छोटे आकार की। लेकिन इसमें तीव्र वेदना होती है। संधिग्रस्त प्लेग होने पर समस्त शरीर में असह्य पीड़ा, श्वासकष्ट एवं हृदय गत्यावरोध आदि उपसर्ग पैदा होते हैं।

न्यूमोनिक प्लेग में—मानव के फुफ्फुस में विष पहुँच कर श्वास-प्रश्वास कष्ट पैदा कर देते हैं। पहले तो इस रोग में सूखी खांसी होती है लेकिन बहुत जल्द ही वह आर्द्र अर्थात् ढीली हो जाती है। ऐसी हालत में छाती में दर्द के साथ-साथ रोगी के थूक में रक्त निकलने लग जाता है। इस रोग में जीवनीशक्ति का बहुत जल्दी ह्रास होते देखा जाता है।

रोग फैलने पर प्लेग से बचने के लिये बराबर जूता पहन कर ही रोगी के पास अथवा जहाँ प्लेग फैला हो, जाना चाहिए। सफेद वस्त्र में कपूर लपेट कर बाँह में बांधना भी हितकर है। बिच्छू बूटी को पास में रखने से प्लेग विष नहीं लगने पाता है। सुसुम भोजन और औटा हुआ जल का व्यवहार नितान्त आवश्यक है। ईश्वरी आराधना, पूजन एवं हवन से चित्त और वायुमण्डल भी पवित्र होता है। तुलसी, काली मिर्च और नीम की पत्ती सम भाग लेकर चने से कुछ बड़ी गोलियाँ तैयार कर रोज सेवन करने तथा प्रतिदिन एक घूँट जल के साथ एक बूँद टिंचर आयोडीन पीने से भी प्लेग होने का डर नहीं रहता है।

चिकित्सा—गिल्टी बैठाने के लिये व्रण प्रकरण में लिखित योगों से लाभ उठाना चाहिए। चाँदी का सिक्का बाँधने से भी—गिल्टी बैठ जाती है। ज्वर, श्वास एवं प्रलाप आदि की व्यवस्था दोषानुसार होनी चाहिए। प्लेग की कुछ शास्त्रोक्त औषधियाँ—

सचेतनी वटी—सोंठ, पिपलामूल, वायबिडंग, चित्रक, दालचीनी, तेजपात, जावित्री, शुद्ध कुचला, शुद्ध बच्छनाग, मल्लभस्म, ताम्र-भस्म और कस्तूरी को सम भाग लेकर बारह घंटे तक खरल करने के पश्चात् चना प्रमाण गोली बना लेवें। अनुपान गर्म जल। इस गोली से—हृदय, मस्तिष्क एवं वातवाहिनी नाड़ियों को चेतना मिलती है तथा सन्निपात का नाश हो जाता है।

निम्बाद वटी—नीम की पत्ती ८ छटाँक, निर्विषी २ छटाँक और बबूल की गोंद डेढ़ तोले को मकोय के रस में अच्छी तरह से घोंट कर २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। इसको गर्म जल के साथ प्लेग होने पर ज्वर के ताप को घटाने के लिये दिया जाता है।

करंजादि वटी—करंज की गिरी, तुलसी पत्र, नीम पत्र बबूल पत्र, सफेद और रेवन्द चीनी को मकोय और नीम की पत्ती के रस में अच्छी तरह से घोंटकर झरबेरी प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान—जल।

कालकूट रस—(वैद्य चिन्तामणि)

ताम्रभस्म ४ तोला, शुद्ध पारद ३ तोला, शुद्ध गन्धक ५ तोला, सुहागे की खील ६ तोला, शुद्ध मनःशिला ६ तोला, हरताल भस्म ९ तोला, चित्रकमूल ९ तोला, त्रिफला १० तोला, त्रिकटु १२ तोला, शुद्ध बच्छनाग, भूनी हींग और बच १-१ तोला लें। पहले पारद और गन्धक की कज्जली तैयार करके उक्त औषधियों का चूर्ण मिला लेवें। मैनसिल, हरताल भस्म, सुहागे की खील और ताम्रभस्म को मिलाने के लिए सभी दवाओं को उत्तम खल में अच्छी तरह से रगड़ना चाहिए। पश्चात् चीतामूल, जम्बीरी नीबू, लहसुन काकमाची, आक की जड़ धतूरे की जड़, कलिहारी, संभालू, पान, अकोल की जड़, सहजन की जड़, पंचकोल इनके रस में १-१ पहर घोंट लेने के पश्चात् आधी रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान—मधु या आदी का रस। इस दवा से बेहोशी, श्वास, तन्द्रा, शीतांग तथा सभी प्रकार के सन्निपात में लाभ होता है।

मृतसंजीवनी सुरा—(भै० र०)

पुराना गुड़ १६ सेर, बबूल की छाल १। सेर, अनार की छाल, बासा, आँवला, हर्रे, बहेरा, बड़ी इलायची, असगन्ध, देवदारू, बेल की छाल, आलू

की छाल, अडूसा की छाल, शलिपर्णी, पृष्णपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, गोखरू, बेर को छाल, इन्द्रायन की जड़, चित्रक, केंवाच के बीज और पुनर्नवा प्रत्येक ५०–५० तोले लेकर गुड़ के अलावे सभी औषधियों को कूट लें। उक्त दवाओं को २५६ सेर जल में घोल एक मटके में बन्द कर दें। सोलह दिन पश्चात उस मटके का मुँह खोलकर उसमें सुपारी का मोटा चूर्ण दो सेर, सोया, धतूरे की जड़, लौंग, पद्‌माख, खस, सफेद चन्दन, अजवायन, कालीमिर्च, जीरा, दोनों कपूर, जटामासी, दालचीनी, इलायची, जायफल, नागरमोथा, गठिवन, सोंठ, मेथी, मेढ़ासिंगी और लालचन्दन का चूर्ण प्रत्येक १०–१० तोला मिलाकर पुनः मटके का मुँह बन्दकर पन्द्रह दिनों तक रख छोड़ें। पश्चात् उक्त घोल को भभके द्वारा अर्क खींच लें। इससे नपुसंकता, प्रसूता रोग तथा सन्निपात जनित सन्ताप आदि घोर उपद्रव अवश्य ही दूर हो जाते हैं। मात्रा आठ आने से १ तोला तक। इस दवा को तैयार करने के लिए पहले अच्छी तरह से सभी क्रियायें समझ लेने के साथ-साथ सरकार से स्वीकृति ले लेना आवश्यक है।

भल्लातंक तैल (धन्वतरि)

पुष्ट भिलावे को लेकर सरौते से २-२ टुकड़े कर लेवें। पश्चात् एक हाड़ी में तार द्वारा महीन-महीन छिद्र बनाकर हाँड़ी में भिलावे के टुकड़ों को भर दें। पश्चात् ऊपर से ढक्कन अथवा टुकड़े से मुँह बन्द करके कपड़ मिट्टी लगा दें।

छोटा-सा एक गड्‌ढा बनाकर उसमें नीचे एक कटोरा रख दें और उसी कटोरे पर हाँड़ी को इस प्रकार रखें कि सभी छिद्र कटोरे के अन्दर ही पड़ें वरना तैल बाहर गिरने का डर रहेगा। उक्त प्रकार कटोरे के ऊपर हँड़िया को रखकर उसके चौतरफे कंडा देकर फूँक दें। हाँड़ो पर आँच लगने से पिघल कर तैल कटोरे में जा गिरेगा। जब शीतल हो जाय तब इस तैल को शीशी में रख लें। प्लेग की गाँठों के लिये यह बहुत ही लाभदायक औषधि है। रूई के फाहे के सहारे इसको प्लेग अथवा किसी भी ग्रन्थि पर लगाया जाता है। वात व्याधि पर यह अच्छा काम करता है।

फुफ्फुस विकृति एवं सड़न पैदा होने पर वातादि दोषानुसार औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। प्लेग रोग पर भी बहुत-सी पेटेण्ट दवाओं का विज्ञापन

देखने में आता है। डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा—डॉ० बर्मन की "प्लेग रोकने की गोलियाँ" का भंडाफोड़ देखिये—

आक की जड़ की छाल, काली मिर्च, नीम के पत्तों का चूर्ण और कुटकी एक-एक तोला, तुलसी-पत्र और कुचला आधा-आधा तोला को अलग-अलग चूर्ण बनाकर कपूर मिश्रित जल में अच्छी तरह से घोंटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना लें। इसके ऊपर से शक्कर का घोल चढ़ा दें, क्योंकि यह दवा चीनी आवृत्त (सुगर कोटेड) है।

प्लेग के रोगी को साफ-सुथरे स्थान पर रखना चाहिए। यह रोग विषजनित (संक्रामक) है। अतः बहुत सावधानी से रोगी का उपचार करना चाहिए। निमोनिक प्लेग में बहुत सावधानी से काम लेना परमावश्यक है क्योंकि फुफ्फुस में विकृति पैदा होने पर शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

कुष्ठ रोग (Leprosy)

यह रोग कपालिका, औदुम्बर, मण्डल, ऋक्ष जीभ, पुण्डरीक, सिध्म, काकण एक कुष्ठ, गजचर्म, चर्मबल, किटिम, वैपादिक, अलस, दाद, खुजली, विस्फोटक, शतारू और विर्चचिका इस तरह से १८ प्रकार के हैं। इनमें से प्रथम से लेकर सात तक महाकुष्ठ और आठ से लेकर अट्‌ठारह अर्थात् शेष ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ कहलाते हैं।

मल-मूत्रावरोध, विशेष अग्नि तापने, भय, धूप एवं अत्यन्त कठिन परिश्रम के पश्चात् शीघ्र ही जल पीने, वमन अथवा विरेचन के समय कुपथ्य करने, नमक, उर्द, खटाई, मछली, मूली तथा बासी भोजन के विशेष सेवन तथा मिथ्या आहार-बिहार, संचित पाप कर्म एवं श्रेष्ठ ब्राह्मण तथा देवादि के अपमान करने से कोढ़ रोग उत्पन्न होता है। संचित पाप कर्म से ही बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिसके फलस्वरूप मिथ्या आहार-विहार आदि का संयोग आ जुटता है।

वात प्रकोप के कारण कापालिक, पित्त प्रकोप के कारण औदुम्बर और कफ प्रकोप के कारण मण्डल कुष्ठ रोग होता है। वात पित्त दोनों के प्रकुपित होने पर विर्चचिका और ऋक्षजीभ (भालू अथवा एक प्रकार के हिरन की जीभ) वात और कफ के प्रकुपित होने पर गजचर्म, सिध्म, किटिम, अलस

और वैपादिक तथा पित्त एवं कफ के संयुक्त प्रकुपित हो जाने पर दाद, शतारू, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा और चर्मं दल की उत्पत्ति होती है। काकण नामक कुष्ठ त्रिदोषज है—अर्थात् तीनों दोष के प्रकुपित होने पर काकण कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है। यह असाध्य है।

कपालिका कुष्ठ में त्वचा का रंग काला लाल होता है तथा त्वचा में रूक्षता एवं कठोरता भी होती है।

औदुम्बर कुष्ठ में त्वचा में दाह एवं खुजली होती है तथा त्वचा का रंग लाल रंग अथवा पीले रंगयुक्त गूलर के पके फल जैसा होता है।

मंडल कुष्ठ में त्वचा का रंग लालिमा एवं श्वेत रंगयुक्त होता है तथा प्रदाहित स्थान चिकना और ऊँचा हो जाता है।

ऋक्षजीभ कुष्ठ में, प्रदाहित स्थान पर रीछ की जीभ के आकार जैसी अर्थात् किनारे पर लाली और बीच भाग में पीलापन होता है। इसमें बहुत ज्यादा दर्द भी होता है। पुण्डरीक कुष्ठ का प्रदाहित स्थान लाल रंगयुक्त ऊँचा और श्वेत होता है। सिध्म कुष्ठ में—प्रदाहित स्थान में सफेदी, हलकी लाली होती है तथा खुजलाने पर भूसी जैसी निकलती है। यह रोग विशेषकर छाती में होता है। काकण कुष्ठ में प्रदाहित स्थान बीच में लाली और किनारे का हिस्सा श्यामवर्ण होता तथा यह रोग पकने वाला है। अतः इसको त्रिदोषज कुष्ठ कहते हैं।

उक्त सात महाकुष्ठ के अलावे निम्नलिखित ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ निम्न-प्रकार हैं—

एक कुष्ठ में प्रदाहित स्थान में पसीना निकलना बन्द हो जाता है तथा उस स्थान पर सुत्थी जैसा उठ आता है। गज चर्म में प्रदाहित स्थान हाथी के चमड़े जैसा मोटा और कड़ा हो जाता है। चर्मदल में प्रदाहित स्थान फटा-फटा जैसा दिखलाई पड़ता है तथा उसमें लाली, खुजली एवं छोटे फोड़े भी निकल आते हैं। किटिम में प्रदाहित स्थान काला फोड़ा जैसा तथा खुर्दरा मालूम होता है। वैपादिक—बेवाय को कहते हैं। अलस में खुजली युक्त फोड़े निकलते हैं। दद्रु कुष्ठ दिनाय को कहते हैं। पामा कुष्ठ—में खुजली एवं चटचटाहट लिये हुए मवाद निकालने वाली फुन्सियाँ होती हैं। कच्छुकुष्ठ— में तीव्रदाहयुक्त फोड़े

हाथ एवं कमर में निकलते हैं। शतारू कुष्ठ में लाल, काली एवं दर्द युक्त फुन्सियाँ निकलती हैं। विर्चाचिका में काली फुन्सियाँ निकलती हैं जिनसे स्राव हुआ करता है।

रस, रक्त एवं मांस स्थित कुष्ठ साध्य मेदधातुगत कुष्ठ यत्नसाध्य और अस्थि, मज्जा एवं शुक्रस्थित कुष्ठ रोग असाध्य होते हैं। कुष्ठ रोग होने पर गला बैठ जाना, नेत्र में लाली, प्रदाहित स्थान से स्राव तथा सड़न पैदा हो जाना आदि लक्षण असाध्यता के परिचायक स्वरूप हैं।

रसगत—कुष्ठ में कुरूपता, रुक्षता, चर्म शून्यता, पसीनावरोध तथा रोमांच होता है। रक्तगत कुष्ठ में खुजलाहट एवं पीव की विपुलता होती है। मांस गत कुष्ठ में कठोर फुन्सियाँ निकलती हैं तथा उसमें सूई चुभने जैसी पीड़ा होती है। मेदगत कुष्ठ में रस, रक्त एवं मांस के लक्षण होते हैं तथा हाथ का टेढ़ापन, अंग-प्रत्यंग में दर्द एवं चलने में असमर्थता होती है। अस्थि एवं मज्जागत कुष्ठ में नाक की हड्डी बैठना, नेत्र में लाली तथा आवाज भी बैठ जाती है। शुष्क एवं रजगत कुष्ठ में उक्त सभी उपद्रव होते हैं तथा सन्तानोत्पन्नकारक शक्ति का सर्वथा लोप हो जाता है।

कुष्ठ रोग के दो और भी भेद हैं जिन्हें श्वेत एवं किलास कुष्ठ कहते हैं। श्वेत कुष्ठ को चरक रोग भी कहते हैं। यह बिल्कुल सफेद होता है तथा योनि, लिंग, होंठ, उँगली, तलवे में होने एवं अग्नि से जलकर होने से असाध्य होता है।— किलास कुष्ठ तो हर स्थान में असाध्य ही समझा जाता है। श्रीमाधवाचार्यजी ने लिखा है कि—

कुष्ठं ज्वरश्व शोषश्च नेत्राभिष्यन्च एव च।
औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

अर्थात् कोढ़, ज्वर, शोष (क्षय रोग), नेत्र रोग एवं औपसर्गिक अर्थात् शीतलादिक तथा भूतोपसर्गादिक रोग संक्रामक रोग हैं, जो एक आदमी से दूसरे आदमी को पकड़ लेते हैं। लेकिन सभी प्रकार के कोढ़ रोग संक्रामक नहीं हैं। (लेखक)

ठण्डी हवा लग जाने के कारण कफ वात दूषित होकर पित्त से मिल, रसादिकों एवं त्वचा में स्थित हो जाते हैं, फलस्वरूप अरुचि, प्यास, वमनेच्छा,

शरीर में भारीपन और नेत्र में लाली हो जाती है। पश्चात् शरीर पर बर्रे के काटने पर सूजन स्वरूप चकत्ते उठ आते हैं। इसमें खुजली के अलावे सूई चुभने जैसी पीड़ा होने लगती है। इस रोग को शीतपित्त रोग कहते हैं, इसी प्रकार का एक और रोग होता है जिसको "उदर्द रोग" कहते हैं। इसमें मण्डल के समान लाल रंग का खुजली युक्त चकत्ता निकलता है। यह उदर्दकफज रोग अर्थात् ठंढ से पैदा होता है।—

चिकित्सा—श्री सुश्रुताचार्यजी का मत है कि—वातजकुष्ठ में मेढ़ासिंगी, गोखरू, काकजंघा, गिलोय और दशमूल से सिद्ध किया हुआ घृत पिलाने और उक्त औषधियों से सिद्ध किया हुआ तैल की मालिश में लाभ होता है। उसी प्रकार पित्तज कुष्ठ के लिए धाय, अश्वकर्ण, अर्जुन, ढाक, नीम, पित्तपापड़ा, मुलहठी, लोध, मजीठ का घृत और तैल लाभदायक है। कफज कुष्ठ के लिए—पियाल, शाल, अमलतास नीम, सातला, चीता, काली मिर्च, बच और कूट को उपयोगी बतलाए हैं। त्रिदोषज कुष्ठ पर–भिलावा, हरड़ और बायबिडंग द्वारा सिद्ध घृत एवं तैल लाभदायक है।

कुष्ठ रोग पर अन्य शास्त्रोक्त नुस्खे—

बृहत्मंजिष्ठादि क्वाथ--मजीठ, इन्द्र जौ, गूर्च, नागरमोथा, बच, सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी, नीम की छाल, पटोल, कूट, भारंगी, बायबिडंग, चित्रक, मूर्वा, देवदार, जलभांगरा, पिप्पला, त्रायमाण, पाठा, शतावरी, खैरसार, विजयसार, त्रिफला, चिरैता, बकायन, किरमाले की गिरी, निशोत, रक्तचंदन, बावची, वरुणा, दात्युणी, खाखोट, अडूसा, पित्तपापड़ा, गौरीसर, अतीस, जवासा और इन्द्रायण को जड़ इन सभी औषधियों को समभाग लें। पश्चात् काढ़ा तैयार कर पिलाने से सभी प्रकार के कुष्ठ, वात रक्त, रक्त विकार तथा सुनबहरी आदि रोग का नाश हो जाता है।

तुबरक तैल (सि० यो० स०)

कोकण एवं त्रावनकोर में तुबरक नाम का वृक्ष होता है। उसी के पके फल की गिरी को पेरवा लेने से यह तैल प्राप्त होता है (अथवा देहात में जिस प्रकार रेंड़ी की गुद्दी से तैल निकाला जाता है उसी प्रकार तैल निकाल कर आग पर चढ़ाकर पानी

जला देवें) इस तैल को छाल के तिगुने क्वाथ में सिद्ध कर लेवें इस तेल को पांच बूंद की मात्रा से कुष्ठ रोगी को सेवन कराना शुरू करके १ तोले तक ले जायँ। अनुपान मक्खन अथवा दूध की मलाई। यह दवा जब सहन नहीं होती है तब वमन होने लगता है। इसकी मालिश से भी बहुत ज्यादा लाभ होता है।

मरिच्यादि तैल—कड़वा तैल ४ सेर, गोमूत्र १६ सेर, मरिच, तवकिया हरताल, मैनसिल, नागरमोथा, आक का दूध, कनेर की जड़, निशोथ, गोबर का रस, इन्द्रायण की जड़, कूट, हल्दी, दारूहल्दी और लाल चंदन प्रत्येक दस-दस तोला और तेलिया मीठा विष २० तोले को कल्क बना, तैल की विधि से सिद्ध कर लें। इस तैल के लगाने से सुनबहरी, सूजन, चट्ठा, कोढ़, व्रण एवं वात रक्त आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

वज्र तैल—सातला, कंजा, आक के फूल, मालती, कनेर, सेहुंड़ की जड़ सिरस की जड़, चीता की जड़, सरिवा की जड़, सिंगिया विष, कलिहारी, अभ्रक, हीरा कसीस, हरताल, मनःशिला, करंज का भींगी, त्रिफला, त्रिकुटी, हल्दी, दारूहल्दी, सफेद सरसों, बायबिडंग और पांवड़ इन सभी औषधियों को गोमूत्र में पीसकर इनसे चौथाई तैल मिलाकर पका लेवें। इस तैल के मालिश से कुष्ठ तथा नाड़ीव्रण रोग अच्छे हो जाते हैं। (सुश्रुत)

चर्मरोग नाशक तैल—ब्राह्मी १ सेर, कूट, गिलोय, तूतिया कसीस, कबीला, लोथ, गंधक, मनःशिला, हल्दी, दारुहल्दी, नागरमोथा, बायबिडंग, राल, हरताल और कनेर की जड़ की छाल प्रत्येक एक-एक तोला लेकर जवकूट कर ४ सेर पानी में सभी औषधियों को डालकर औटा लें। एक सेर पानी शेष रहने पर तिल तैल, गोमूत्र, दही का तोड़ और वांसे का रस एक-एक सेर डाल कर तैल सिद्ध कर लें। इसके मालिश से—खाज, खुजली, चर्मरोग, कुष्ठ, विर्चचिका आदि रोगों का नाश हो जाता है। (धन्वन्तरि)

तालकेश्वर रस—शुद्ध हरताल, शुद्ध सोना मक्खा, शुद्ध मनःशिला, शुद्ध पारद, सेंधानमक और शुद्ध सुहागा प्रत्येक एक-एक तोला और गंधक तथा ताम्रभस्म दो-दो तोला लें। पारद गंधक की कज्जली तैयार करने के बाद अन्य औषधियों का चूर्ण मिलाकर पाँच रोज तक जम्बीरी नीबू के रस में अच्छी तरह

से घोटें। पश्चात् टिकिया बना, शराव सम्पुट में बन्दकर भूधर पुट में पकावें। शीतल होने पर पुनः जम्बीरी के रस में घोंटकर उक्त प्रकार ही से पका लें। इस प्रकार ६ बार पकाने का विधान है। ६ पुट देने के पश्चात् उक्त औषधियों में डेढ़ गुना ताम्रभस्म और चार गुना लौहभस्म मिला, एक दिन जम्बीरी नीबू के रस में घोटने के बाद लघुपुट में फूंक दें। शीतल होने पर दवा को निकाल कर उसका तीसवाँ भाग शुद्ध बच्छनाग मिला, महीन खरल कर शीशी में रख लें। अनुपान, बावची का चूर्ण और मधु के साथ। इस दवा से सर्व प्रकार के कोढ़ अच्छे हो जाते हैं। (आरोग्य प्रकाश)। रसमाणिक्य से भी कुष्ठ रोग में लाभ होता है। (आरोग्य प्रकाश)।

गन्धक रसायन—गाय के दूध से तीन बार शुद्ध किया हुआ गन्धक ६४ तोले लें। उसको पत्थर के खरल में रखकर—दालचीनी, तेजपात, छोटी इलायची और नागकेसर प्रत्येक दवाओं का समभाग बारीक चूर्ण लेकर रात को दुगुने जल में भिगो दें। सबेरे हाथ से मसलकर कपड़े से छाने हुए जल से, ताजी गिलोय के स्वरस से, हर्रे और बहेरे के क्वाथ से, आँवला, भाँगरा और अदरक इनके स्वरस से आठ-आठ दिन मर्दन करें। पश्चात् प्रत्येक के जल, क्वाथ अथवा स्वरस में आठ-आठ दिन भावना दें, इस प्रकार कुल मिलाकर रख लें। अनुपान—लघुमंजिष्ठादि अथवा महामंजिष्ठादि क्वाथ के साथ सेवन करावें। इस दवा को तैयार करने में कुछ कठिनाई जरूर पड़ती है लेकिन अनुपान भेद से यह कुष्ठ, रक्तविकार, क्षय, आतशक, धातुक्षय, प्रमेह, मन्दाग्नि, उदरशूल, मासिकधर्म की खराबी और पाण्डु आदि रोगों का नाश कर देता है। (आयुर्वेद प्रकाश)।

खदिरारिष्ट—खैरासार और देवदार प्रत्येक २००-२०० तोले, बावची ४८ तोला, दारुहल्दी १०० तोला, हर्रे, बहेरा, आँवला तीनों मिलाकर ८० तोले लें। इन सभी औषधियों को जवकूट कर ८०९२ तोले जल में औटें, १०२४ तोले काढ़ा शेष रहने पर छान लें।

प्रक्षेप द्रव्य—शहद ४०० तोला, चीनी ४०० तोला तथा धाय का फूल ६४ तोला, कबाबचीनी, नागकेशर, जायफल, लौंग, छोटी इलायची, दालचीनी,

तेजपात प्रत्येक ४-४ तोले तथा अनन्तमूल ३२ तोला। इनका महीन चूर्ण बनाकर डाल दें। इन सभी औषधियों को पेंचदार ढक्कन वाली चीनी मिट्टी के बर्तन में या लकड़ी के पीपे में भर कर एक मास के बाद कपड़े से छान कर रख लें। अनुपान जल। मात्रा दो तोले से चार तोला, भोजनोपरान्त दोनों सुबह-शाम। इस दवा से लाल, काले और पीले कोढ़ के चकत्ते, कपाल कुष्ठ तथा औडुम्बरादि महाकोढ़ आदि रोग अच्छे हो जाते हैं। (शार्ङ्गधर संहिता)।

उशीरासव—खस, नेत्रवाला, लालकमल, गम्भारी के फल, नीलोफर, प्रियंगू, पद्माख, लोध, मजीठ, धमासा, जलजमनी, चिरैता, बड़ की छाल, गूलर की छाल, कपूर, पित्तपापड़ा सफेद कमल, कचनार की छाल, जामुन की छाल और मोचरस का पाँच-पाँच तोला चूर्ण, कुटा हुआ मुनक्का १०० तोला और धाय का फूल एक सेर लें।

उक्त औषधियों को एक मटके में डाल कर उसमें ६४ सेर जल, १०० तोले खांड़ और सवा छः सेर मधु मिलाकर अच्छी तरह घोल लेने के पश्चात मटके का मुँह बन्द कर एक मास पर्यन्त धरा रहने दें। पश्चात् छान कर बोतलों में भर लेवें। मात्रा एक से दो तोले तक। अनुपान—समभाग जल। इस दवा से रक्तस्राव, बहुमूत्र, उदर रोग रजःकृच्छ्र, पाण्डु, कुष्ठ एवं कृमि आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। (भैं० र०)

कनकारिष्ट (रक्त शोधक)—६। सेर खैरसार के छोटे-छोटे टुकड़े बनाकर ६४ सेर पानी में डालकर औट लेवें। छानकर उसमें—हरें, बहेरा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पीपल, हल्दी, अमलतास की छाल, बागची, गूर्च और बायबिडंग का चूर्ण ५-५ तोले और धाय का फूल आधा सेर लें। पहले खदिर क्वाथ में २५ सेर मधु डालकर अच्छी तरह से घोल दें। बाद में प्रक्षेप द्रव्य मिला, एक मास बाद छानकर बोतलों में भर लें। मात्रा सवा से ढाई तोला, समभाग जल मिलाकर सेवन करावें। इस दवा के सेवन से कुष्ठ, भगन्दर, प्रमेह, श्वास कास एवं अर्श आदि रोग अच्छे हो जाते हैं। (गदनिग्रह)

योगराज लौह—हरें, बहेरा, आँवला, बावची, भाँगरा, सोंठ, मिर्च, पीपल, गिलोय, चकौड़ के बीज, काला भाँगरा, नागरमोथा, आमला, खैरसार,

सेंधानमक, अजवायन, सफेद जीरा, श्याहजीरा और बायबिडंग का चूर्ण समभाग लेकर सभी के बराबर लौह भस्म लें। उक्त औषधियों को बावची के क्वाथ के साथ घोंटकर ३ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपात बावची चूर्ण (एक मात्र के लिए १।। माशे) और मधु। इस दवा के सेवन से कुष्ठ रोग में आश्चर्य-जनक लाभ होता है। (र० र०)

अमृतादि गुग्गुल—गुर्च एक सेर, गुग्गुल आध सेर, आँवला आध सेर, हर्रे आध सेर और बहेरा आध सेर को ३२ सेर जल के साथ औटाकर ८ सेर काढ़ा शेष रहने पर छान कर रख लें। पश्चात् उसमें दन्ती, त्रिकुटा, बायबिडग, गिलोय त्रिफला और दालचीनी प्रत्येक ढाई-ढाई तोला और निशोथ सवा तोले लेकर सबका चूर्ण कर उक्त क्वाथ में मिला देवें। शीतल हो जाने पर तीन रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान—गुर्च क्वाथ अथवा गर्म जल। इस दवा से वातरक्त, कुष्ठ, दुष्टव्रण, नाड़ीव्रण, अर्स तथा मन्दाग्नि आदि अच्छे हो जाते है। (भावप्रकाश)।

कैशोर गुग्गुल—त्रिफला तीन सेर और गुर्च १ सेर को यवकूट कर लेने के पश्चात् लोहे की कड़ाही में आठ सेर जल के साथ औटावें। पश्चात् चार सेर काढ़ा शेष रहने पर छान लें। उसी काढ़ा में एक सेर उत्तम गुग्गुल डालकर मन्द आँच पर पकावें। जब गुग्गुल पतला होकर काढ़े में मिल जाय तब पुन: आँच पर चढ़ाकर कड़छी द्वारा चलाते जाँय। गुग्गुल के गाढ़ा हो जाने—त्रिफला दस तोला, गिलोय ५ तोला, सोंठ, काली मिर्च और पीपल दो-दो तोले, बायबिडंग ढाई तोला, जमालगोटे की जड़ १। तोला और निशोथ सवा तोले मिलाकर तीन रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान—मजिष्ठादि क्वाथ अथवा गर्म जल। इस दवा से कुष्ठ, वातरक्त, खुजली, घाव, पाण्डु एवं प्रमेह आदि रोगों का नाश हो जाता है। (शाङ्गंधर संहिता)

कुष्ठ पर लेप—नीला थोथा एक भाग, सुहागा एक भाग और बावची ५ भाग लेकर जलभांगरे का सात पुट देकर लेप करने से कुष्ठ रोग में बहुत ज्यादा लाभ होता है। (वैद्य रहस्य)

कुष्ट महालेप—पारा, शंख का खार, अघेझारे का खार, तिलखार, शांठीखार, हर्रे का खार, अड़ूसे का खार, पटोल का खार, अरण्ड का खार,

जवासा, सज्जी, सुहागा, नौसादर, आँवलासार गन्धक, पाँचों नमक, कूट, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, डासरे की जड़, गण्डकच की जड़, कलिहारी की जड़, हल्दी, जमीकन्द, गोरखमुण्डी का खार, काहू का खार, राई, सरसों, सिन्दूर, शिलाजीत, पापड़ खार, कपोल, लोध, थूहर की जड़, आक की जड़, नीला थोथा, चित्रक और अर्क पचांग खार को समभाग लेकर गोमूत्र के साथ पीस लेवें। पश्चात उसमें—भैंस, घोड़ा, बकरी, हाथी और ऊँट का पेशाब तथा नीबू का रस, बिजौरे का रस, नारंगी का रस, चना खार, मूँगने का रस और राई के संयोग की बनी हुई सप्त-धान्य की कांजी लें। उक्त सभी औषधियों को ताम्रपात्र में भरकर २१ दिनों तक बन्द रहने दें। पश्चात निकाल कर एक मास पर्यन्त सेवन कराने से वातरक्त, कुष्ठ तथा विसर्प एवं गण्डमाला आदि रोग दूर हो जाते हैं। (रससंग्रह)

श्वेत कुष्ठ पर योग—हरताल, मैनसिल, चिरमी और चित्रक को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से लाभ होता है। (भावप्रकाश)

कुष्ठ राक्षस तेल—पारा, गन्धक, कूट, सतौना, चीता, सिन्दूर, लहसन, हरताल, बावची, अमलतास के बीज, ताम्रचूर्ण और मैनसिल प्रत्येक सवा तोले लेकर कल्क तैयार कर लेवें। उसको एक सेर कड़ुवे तैल में मिलाकर तीन रोज तक धूप में सुखाने के पश्चात दो-तीन दफे मालिश करें। इस दवा से श्वेतकुष्ठ, वातरक्त, चकते आदि नष्ट हो जाते हैं। (भै० र०)

बकुची को गोमूत्र में पीसकर लेप करने से श्वेतकुष्ठ में लाभ होता है। बकुची और हरताल को गोमूत्र में पीसकर लेप करके धूप में बैठने से श्वेत स्थान पर फफोला जैसा निकल आता है। उसको आहिस्ते से सूचिका से छेद देने पर पानी बहकर चमड़े का रंग बदल जाता है। इस दवा को लगाने के साथ बकुची का चूर्ण चार अथवा आठ आने भर की मात्रा में खिलाना भी चाहिए। नपुंसकता, सूजाक, गर्मी एवं कुष्ठ आदि रोगों पर तो पेटेण्ट दवा की झड़ी-सी लग गयी है। डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा परीक्षित कुछ नुस्खे—

श्वेत कुष्ठ की दवा—हाबड़ा से पेटेण्ट है। लागत से कुछ एक गुना अधिक दाम रखा गया है। योग निम्न प्रकार है—

हरताल, फिटकरी और गन्धक को सिरका के साथ और शहद में मिलाकर लेप करें। डॉ० साहब ने इस योग से फायदे के बारे में कुछ नहीं लिखा है।

श्वित्रहर तैल—बावची दस भाग, चित्रक चार भाग और हरताल दो भाग को—कठूमर के पाँच भाग बक्कल के साथ मिलाकर पाताल यन्त्र से तैल निकाल लें। श्वेतकुष्ठ में लाभ होता है। यह दवा मद्रास के गोदावरी प्रान्त स्थित कृष्णाश्रम गोपालपुर से पेटेण्ट है। वहाँ से कुष्ठरोग के लिए नाना प्रकार की पेटेन्ट दवाएँ निकली हैं। वहाँ की दो अन्य दवायें निम्न प्रकार है।

कुष्ठान्तक चूर्ण—५ तोला की लागत चार आने है और मूल्य ५) रखा गया है। योग निम्न प्रकार है।

चित्रक चूर्ण चार तोला और तूतिया हरा एक तोला को बारीक चूर्ण तैयार कर दागों पर लेप करें।

कुष्ठ कुठार—इस दवा को भस्म के रूप में तैयार किया गया है। ५ तोला की कीमत १२) रखा गया है। योग निम्न प्रकार है। चमगादड़ नामक जानवर और साँप को अलग-अलग सम्पुट में भस्म तैयार कर लगाने से दाग मिटते हैं तथा कुष्ठ में भी फायदा होता है।

मुजफ्फरपुर से "कुष्ठ कुठार"—चित्रक, गन्धक, सरकंडा की जड़ दो-दो माशे लेकर पीस लेने के पश्चात् एक औंस की शीशी में ३) रुपया कीमत पर बेची जाती है। दवा को नीबू के रस में अच्छी तरह से पीसकर दागों पर एक बार लगाने से छाले पड़ जाते हैं। छाले फूटने पर घृत लगा देना चाहिए।

पथ्य – मक्खन, दूध, चना, गेहूँ, चावल, मूग, मकोय, बथुआ, करैला, चौराई, परवल, आँवला, आदी, जमीकन्द, मुनक्का और मिश्री आदि पथ्य हैं।

नमकीन, चरपरे और गरिष्ठ भोजन तथा मैथुनादि से परहेज रखें।

शिरो रोग (Headache)

यह रोग वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्तक्षीणता, कृमि, सूर्यावर्त, अनंत वात, शंखज और अर्द्धावभेदक इस प्रकार ११ तरह का होता है।

वातज सिर रोग—में दिन का दर्द घट जाता है और रात को दर्द बढ़ जाता है तथा सिर बाँधने और स्वेद करने से रोगी को आराम मालूम होता है। वातज सिर दर्द में नारायण तैल की मालिश तथा वातघ्न औषधियों से लाभ होता है।

पित्तज सिररोग में रात में शीतलता के कारण दर्द घटता है और दिन में बढ़ता है। इस रोग में जलन, दाह तथा आँखों में दर्द आदि लक्षण पैदा होते हैं, शतधौत घृत अर्थात् सौ बार का धोया हुआ घी लगाने से लाभ होता है।

कफज सिररोग में आँख की पपनी, मुख तथा नासिका आदि में चिकनाहट, अत्यधिक सुस्ती, शरीर का भारीपन एवं माथा कफ से जकड़ा रहता है। इस रोग में गर्म लेप से अधिक लाभ होता है।

सन्निपातज सिररोग में उक्त तीनों दोषों के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। सन्निपात नाशक औषधियों के सेवन से लाभ होता है।

रक्तज सिररोग में पित्तज लक्षण उत्पन्न होते हैं तथा इतनी स्पर्शकातरता होती है कि रोगी कपड़ा तक नहीं स्पर्श कराने देता है। रक्तज सिर रोग में पित्तज प्रक्रिया से लाभ होता है।

क्षयज सिररोग में मस्तिष्क में रक्त, चर्बी, कफ और वायु की न्यूनता के कारण छींक आने लगती है तथा भयानक पीड़ा होने लगती है। बलबर्द्धक औषधियों के प्रयोग करने से लाभ होता है।

क्रमिज सिररोग में माथा में सूई अथवा काँटी चुभने जैसा दर्द होता है तथा क्रमि प्रकरण में लिखित लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। इस रोग में क्रमिघ्न औषधियों के सेवन कराने के अलावे सोंठ, मिर्च, पीपल, किरमाले की जड़ और सहजने का बीज, बकरी के दूध में पीसकर लेप देने से क्रमिज सिर रोग अच्छा हो जाता है।

सूर्यावर्त अर्थात किरणकपारी--यह दर्द सूर्योदय के साथ ही प्रारम्भ होता है और सूर्यास्त के समय नम्र पड़ जाता है। यह बहुत ही कष्टदायक रोग है। दर्द के समय नाक में हुरहुर की पत्ती का रस रूई के फाहे में रखने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। यह दवा 'स्वामी विद्यानन्द" की अनुभूत है।

अनन्त वात सिररोग में त्रिदोषज विकृति होकर कनपटी में असह्य दर्द होने लगता है जिसके फलस्वरूप जबड़ा जकड़ जाता है तथा गाल पकड़ने लगता है और आँखें लाल हो जाती हैं। इस रोग में रक्त निकलवाने तथा

निम्नलिखित पथ्यादि क्वाथ से लाभ होता है—हर्रे, बहेरा, आँवला, हल्दी, चिरैता, गूर्चं और नीम की छाल।

शंखक शिरोरोग में भी त्रिदोष की विकृति होकर कनपटी में असह्य वेदना के अलावे सूजन और लाली पैदा हो जाती है। यह बहुत कठिन रोग है। इसकी यथाशीघ्र चिकित्सा करें। हल्दी, दारुहल्दी, खस, मजीठ, गौरीसर और कमल गट्टा को ठंडे जल के साथ पीसकर कनपटी पर लेप कराने से लाभ होता है। चंदन लेपने से भी लाभ होता है।

अर्द्धावभेदक शिरोरोग में (जिसको आधा शीशी अथवा अधकपारी कहते हैं) सिर के आधे भाग में तीव्र वेदना होती है जिसके फलस्वरूप कनपटी, कान, नाक एवं लिलार तथा गर्दन में काटने अथवा चीरने जैसा दर्द होता है। यह रोग बहुत ही जड़ी है तथा पुराना हो जाने पर रोगी की आँखें बेकार कर देता है। दर्द के समय हुरहुर की पत्ती के रस को रूई के फाहे में भिगोकर नाक में रखने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। यह कई एक बार की आजमायी हुई दवा है।—मिश्री और केशर को घी में तलकर सुँघाने से भी दर्द में लाभ होता है। (भाव प्रकाश)

शिरःशूलादि वज्र रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म और ताम्र भस्म पाँच-पाँच तोले लेवें। शुद्ध गुगुल २० तोला, मुलहठी १० तोला, पीपल, सोंठ, बायबिडंग और दशमूल भी ६-६ माशे लेवें। पारद गन्धक की कज्जली तैयार करने के पश्चात् अन्य औषधियों का चूर्ण मिला, दशमूल के काढ़ा के साथ अच्छी तरह से घोंटकर चार रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। १ माशा गोदन्ती, हरताल भस्म और मिश्री मिलाकर बकरी अथवा गाय के दूध के साथ सेवन करावें। (र० सा० स०)

हिमकल्याण तैल—पत्रज, पाडरी, सुगन्धवाला, खस, कपूर, छरीला और चन्दन चूर्ण को समभाग लेकर इन सबके २० गुना तिल तैल लेवें। उक्त चूर्ण को तैल में मिलाकर तीन सप्ताह तक किसी बन्द पात्र में धूप में रखने के पश्चात् छानकर थोड़ा-सा रतनजोति मिलाकर लाल रंग कर दें। इस तेल में से ४॥ तोला आयलमेंथा पिपरेटा आधा ड्राम, कैम्फर आधा ड्राम, आयल सिना मम आधा ड्राम

और आयल जस्मिन २० बूंद मिलाकर शीशी में भर लें। (डा० रामकृष्ण)।

षडविन्दु तैल—रेंड़ की जड़, तगर, सौंफ, जीवन्तीमूल, रास्ना, अगर, सेंधा-नमक, दालचीनी, बायबिडंग, मुलैठी तथा सोंठ का चूर्ण १-१ तोला लेकर बकरी के दूध में पीस लें। काला तिल तैल ६४ तोले, बकरी का दूध ६४ तोला और भेंगरिया का रस १५६ तोला मिलाकर मंदी आँच पर तैल सिद्ध कर लेवें। मात्रा ६-६ बूंद नाक में डालें। (वंगसेन)।

शिरःशूलान्तक द्रव—एण्टी पाइरीन १ ड्राम, केफिन साइट्रास ८० ग्रेन, सोडियम ब्रोमायड २ ड्राम और डिस्टिलड वाटर १॥ औंस एकत्र मिला लें। यह १० मात्रा दवा है। एक मात्रा दवा एक औंस जल के साथ पिलावें। यह एक कम्पनी की पेटेण्ट दवा है। (डा० रामकृष्ण)।

नेत्र-रोग (Eye disease)

नेत्र में ७८ प्रकार के रोग होते हैं जिनमें—४ नेत्र के काले पटल में, ११ श्वेत पटल, १४ दृष्टि, २ नेत्र पक्ष्म, ९ नेत्र सन्धि, २१ नेत्र मार्ग और १७ समस्त नेत्र मात्र में। लेकिन इस विषय में आयुर्वेद ग्रन्थकारों में मतभेद देखने में आता है क्योंकि श्री चरकाचार्यजी ने ७८, श्री सुश्रुताचार्यजी ने ७६ और श्री शार्ङ्ग-धरजी ने ९४ प्रकार के नेत्र रोग बतलाये हैं।

दृष्टि और पटल—नेत्र की काली पुतली के मध्यभाग में मसूर की दाल बराबर एक तारा दिखलायी पड़ता है। वह जल और रक्त आधारभूत चार पटलों के बीच स्थित है। इसको दृष्टि कहते हैं। पहला पटल तेज और जल के आधार, दूसरा मांस के आधार, तीसरा तेज, जल, मांस, भेद और अग्नि के आधार तथा चौथा केवल तेजाधार है।

प्रथम पटल में रोग होने पर कोई वस्तु ठीक नहीं दिखलायी पड़ती है। द्वितीय में दोष होने से आँखों के सामने मच्छड़ उड़ते जैसे मालूम पड़ते हैं। तृतीय में दोष होने पर नीचे की वस्तु नहीं दिखलायी पड़ती है अथवा ऊँच का नीच और नीच का ऊँच मालूम पड़ने लगता है। चौथे पटल में रोग होने पर तो सूर्य एवं चन्द्रमा आदि तक भी नहीं दिखलायी पड़ते हैं। इसी को आयुर्वेद

शास्त्र में लिङ्गनाश रोग कहा गया है जो वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज और परिम्लायिज भेद से ६ प्रकार के हैं। उक्त ६ प्रकार के दृष्टि रोगों के अलावे पित्तपिदग्ध, कफ विदग्ध, धूमदर्शी, ह्रस्वजाल, नकुलांध्य और गम्भीर दृष्टि तथा दो प्रकार के आगन्तुक लिंग नाश रोग मिलकर १४ दृष्टि रोग होते हैं।

श्री वीरभट्टार्यंजी के मतानुसार लिंगनाश रोग (जिसको लोक में नजला अथवा मोतियाविन्द कहते हैं) दो प्रकार का है। एक कच्चा और दूसरा पका हुआ। कच्चा मोतियाबिन्द में आँख से धुँधला दिखलाई पड़ता है तथा नेत्र में दर्द होता है। पके मोतियाबिन्द में पुतली के तारा पर दही की छाली जैसी जमकर दृष्टि को एकदम बन्द कर देती है। मोतियाबिन्द रोग में खाने एवं लगाने की दवा के अलावे परदा चीर करके निकालने की विधि भी सुन्दर ढंग से बतलायी गयी है लेकिन वर्तमान वैद्य समाज चीर-फाड़ की क्रिया में पूर्णरूपेण आगे बढ़ते नहीं नजर आते हैं, यह दुख का विषय है।

ऊपर लिखे हुए नेत्र के श्याम भाग में होने वाले सव्रण शुक्र, अव्रण शुक्र, अक्षिपिकात्यय और अजातक ये चार रोग हैं।

श्वेत भाग के रोग :—

प्रस्तर्चमं, शुक्लार्मं, रक्तार्म, अधिमांसार्म, स्राध्वर्मं, शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, शिराजाल, शिरापिडिक और बलासग्रन्थित।

नेत्रमार्ग के रोग—उत्सगिनी, कुम्भिका, पोथकी, वर्त्मंशर्करा, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अंजना, बहुलवर्त्मं, वर्त्मं वंधका, क्लिष्ट वर्त्मं, कर्दमवर्त्मं, श्याम वर्त्मं, प्रक्लिन्न वर्त्मं, अक्लिन्न वर्त्मं, वातहत वर्त्म, वर्त्मार्बुद, निमेष, शोणितार्श, लगण, विषवर्त्मं और कुचन।

पक्ष्मरोग—पक्ष्मकोपल और पक्ष्मशात।

नेत्रसन्धि रोग—पूयालसक, उपनाह, पैत्तिकस्राव, कफस्राव, रक्तस्राव, सन्निपातस्राव, पर्वणी, अलजी और जन्तु ग्रन्थि।

समस्त नेत्र रोग—

वाताभिष्यंद—वात विकृति के कारण आँखों में किरकिराहट, सूई चुभने की-सी पीड़ा, आँखों में रूखापन तथा कीचड़ और आँसू निकलना आदि लक्षण पैदा होते हैं।

चिकित्सा—मोतियाबिन्द की चिकित्सा के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। उसके विषय में तथा उक्त चक्षु रोगों के विशेष वर्णन के लिए आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थ देखना चाहिये। समस्त नेत्र रोग यत्न की संक्षिप्त विधियाँ निम्न प्रकार हैं—स्वेद, लेप, रक्त निकलवाना, आँखों में दवा डालना तथा विरेचन आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। वातजाभिष्यन्द रोग में स्त्री का दूध डालने से लाभ होता है।

पित्ताभिष्यन्द—पित्त विकृति के कारण आँखों में विशेष लाली, जलन, गर्म आँसू बहना तथा नेत्रपाक हो जाता है। इस रोग में भी स्त्री का दूध अच्छा काम करता है।

कफाभिष्यन्द—कफ विकृति के कारण आँखों में सूजन, भारीपन, खुजली के अलावे चिकना कीचड़ निकलता है। नीम की पत्ती की लुगदी बाँधने से इस रोग में लाभ होता है।

रक्ताभिष्यन्द में प्रायः पित्ताभिष्यन्द रोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं। चिकित्सा भी इसी प्रकार समझनी चाहिये। वातादिभिष्यन्द रोग में चिकित्सा, पथ्य एवं परहेज के अभाव में "मन्थ" रोग हो जाता है जिन्हें वाताधिमन्थ, पित्ताधिमन्थ आदि रोग कहते हैं।

नेत्र रोग पर अनुभूत नुस्खे—

आँखें उठने पर गुलाब जल में गुलाबी फिटकरी घोल कर लगाने से लाभ होता है।

आँखों में खुजली और शोथ होने पर—सोंठ, सेंधानमक और नीम की पत्ती पीसकर बाँधने से लाभ होता है। ज्यादा खुजलाहट होने पर सहजना, त्रिफला और नीम की छाल बाँधनी चाहिये।

आँखों से जल गिरने पर—माजूफल की भस्म को घी अथवा मधु के साथ आँखों में आँजने से लाभ होता है।

तिमिर और फूली में नीलाथोथा, सोनामक्खी, सेंधानमक, मिश्री, शंख की नाभी, गेरू, कालीमिर्च और समुन्द्र फेन को समभाग लेकर मधु में पीसकर अंजन करने से लाभ होता है।

रतौंधी में हल्दी, दारूहल्दी, रसौत, चमेली की पत्ती और नीम की पत्ती को गोबर के रस अथवा गुलाब जल में पीसकर लेप करने से लाभ होता है। मुँह धोकर मक्खन और मिश्री सेवन करना हितकर है।

नेत्र रोग पर अन्यान्य शास्त्रोक्त दवायें—

दन्तवर्ती—शुकर दाँत, गोदन्त, गदहे का दाँत, निर्वेधामोती और समुद्र-फेन को महीन पीसकर अंजन करने से फूली तथा माड़ा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

चन्द्रोदय गुटिका—शंख की नाभि, हर्रें की बीजी, बहेड़े की बीजी, मैनसिल, पीपल, मिर्चं, कूट और बच की बकरी के दूध में पीसकर गोलियाँ बना लेवें। इसकी बकरी के दूध के साथ घिसकर आंजने से पटल, मांस वृद्धि, रतौंधी तथा फूली आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

नयनामृतांजन—शुद्ध शीशा, जलपारा तथा सुर्मा और इन औषधियों से दसवाँ भाग भीमसेनी कपूर महीन पीसकर अंजन बना लें। इससे नेत्र के समस्त रोग दूर होते हैं।

नारायणांजन—बेल और तुलसी की पत्तियों का रस लेकर दोनों दवाओं के बराबर स्त्री का दूध लेवें। पश्चात् काँसे की थाली में लोहे से दो पहर और तांबा से दो पहर खूब अच्छी तरह से घोंटकर साफ बर्तन में रख लें। इस अंजन से नेत्रशूल एवं नेत्रपाक रोग अच्छे हो जाते हैं।

चन्द्रोदयवर्ती—हर्रें, बच, कूट, पीपल, मिर्चं, बहेरे की गुठली की गुद्दी, शंख नाभि और मनःशिला लेवें। उक्त दवाओं का बारीक चूर्ण बनाकर बकरी के दूध के साथ अच्छी तरह से घोंटकर वर्ती बना लें। शहद के साथ घिसकर लगाने से फूली, आँखों में मांस बढ़ने तथा दृष्टिमांद्य रोग में लाभ होता है।

चन्द्रप्रभा गुटिका—हल्दी, नीम के पत्ते, पीपल, मिर्चं, बायबिडंग, नागरमोथा और हर्रें की छाल को बकरी के मूत्र में तीन दिनों तक खरल करके गोलियाँ तैयार कर लेवें। इस दवा को स्त्री के दूध में घिसकर लगाने से फूली मधु में घिसकर लगाने से पटल और जल में घिसकर लगाने से काच अच्छे हो जाते हैं।

नेत्ररोग हर मलहम—फिटकरी की खील तीन माशे, अफीम तीन रत्ती, नीम की पत्ती की राख तीन माशे, गौ का पुराना घृत १॥ तोले सबको एकत्र मिला कर कांस को थाली में कांसे के कटोरे से घिसकर मलहम तैयार कर लें। इस दवा से आयी हुई आँख में खासकर बच्चों की आँखों में लगाने से आशातीत फल होता है। (आ० सा०)

नेत्र रोग में खिलाने के लिए लीला विलास रस, त्रिफलादि घृत, त्रिफले का काढ़ा आदि औषधियाँ काम में आती हैं। नेत्र को त्रिफला में जल से धोने पर भी बहुत ज्यादा लाभ होता है। डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा परीक्षित नेत्र रोग की कुछ पेटेण्ट दवायें—

नेत्र बिन्दु—गुलाब जल एक औंस और जिंक सल्फ ४ ग्रेन दोनों को मिला-कर चार बूंद आँख में छोड़ें। यह कलकत्ते से पेटेण्ट है फूली वगैरह में लाभकारी बतलाया गया है लेकिन केवल उठी आँख में गुणकारी है।

नेत्रवटी—सफेद सुहागा ७२ ग्रेन, इलायची ५ दाने, बक्कल सहित सफेद मिर्च २ दाने और रस कपूर ३ ग्रेन, को गुलाब जल में घोंटकर गोली तैयार कर लें। इसके बहुत से गुण बतलाये गये हैं लेकिन उठी आँख, आँखों की लाली तथा रतौंधी में लाभदायक है।

उठी आँख की दवा—यह दवा अहमदाबाद से प्रचार पा रही है, योग निम्न प्रकार है—जिंक सल्फास १ ग्रेन, मार्फिन सल्फ आधा ग्रेन, एट्रोपीन सल्फ आधा ग्रेन और डिसटिल्ड वाटर एक औंस को एकत्र मिला लें। लागत से कीमत बहुत ज्यादा है लेकिन इससे लाली एवं दर्द ठीक हो जाता है।

आँख की लाली में एलोपैथिक चिकित्सा मरक्यूरोक्रोम एवं प्रोटागल लोशन का विशेष प्रयोग करते हैं। उक्त औषधियाँ मोटे विचूर्ण रूप में प्राप्त होती हैं और गुलाब जल अथवा परिश्रुत जल में घोलकर काम में लायी जाती हैं।

पथ्य—मूंग, जौ, लाल चावल, पुराना घी, सूरन, केला, करैला, मूली, मकोय, धनियाँ, खाड़, बथुआ और चौलाई पथ्य हैं।

निषेध—पढ़ना, सिनेमा देखना, धूप में घूमना, मैथुन तथा सूर्य की ओर देखना, तीता, कड़ा पदार्थ तथा विशेष ठण्डा पदार्थ सेवन करना हानिकारक है।

कर्ण-रोग (Ear disease)

श्री सुश्रुताचार्य ने निम्नलिखित २८ प्रकार के कर्ण रोगों का वर्णन किया है :—

कर्णशूल, कर्णनाद, बहिरापन, कर्णक्ष्वेड, कर्णस्राव, कर्णकण्डु, कर्णगूथ, कर्ण प्रतिनाह, कृमिकर्ण, आगन्तुक कर्ण व्रण, दोषज कर्ण व्रण, कर्ण पाक, पूतिकर्ण, वातकर्ण शोथ, पित्तकर्ण शोथ, कफकर्ण शोथ, रक्तकर्ण शोथ, वात कर्णार्श पित्त-कर्णार्श, कफकर्णार्श, रक्तकर्णार्श, वातकर्णार्बुद, पित्तकर्णार्बुद, कफकर्णार्बुद, रक्तकर्णार्बुद, मांस कर्णार्बुद, मेदकर्णार्बुद और शिराकर्णार्बुद। लेकिन कर्ण-पाली में परिपाटक, उत्पादक, उन्मथ, दुःखवर्धन और परलोहज ये पाँच रोग विशेष होते हैं।

कर्णशूल—कानों में विकृत वात प्रवेश करके कर्णशूल उत्पन्न कर देता है। चिकित्सा बकरी के मूत्र में सेंधानमक डालकर औटाने के पश्चात् छानकर कान में डालने से लाभ होता है। आक अथवा सुदर्शन की पत्ती को आग पर सेंक, उसका रस निचोड़कर कान में डालने से शूल नष्ट हो जाता है। पाती नीबू के रस में कौड़ी भस्म मिलाकर कान में डालने से कान का दर्द अच्छा हो जाता है। हुरहुर के पत्तों का रस भी उपयोगी है। अरलू के रस में तैल पकाकर कान में छोड़ने से त्रिदोषज कर्णशूल भी अच्छा हो जाता है।

कर्ण नाद—कान में वात प्राप्त हो जाने के कारण नाना प्रकार के शब्द सुनायी पड़ने लगते हैं। ऊपर लिखे हुए अरलू तेल से इसमें भी लाभ होता है।

बहरापन—शब्द देनेवाले छिद्र में वायु प्रवेश कर जाने अथवा कफ एवं वायु के प्रवेश कर जाने के कारण बहरापन रोग हो जाता है। अधिक दिनों तक कर्णस्राव होने पर भी बहरापन हो जाना सम्भव है। बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में अधिक दिनों तक बहरापन रोग रहने से असाध्य हो जाता है। कानों में खूंट आदि भर जाने पर भी कम सुनायी पड़ने लगता है। चिकित्सा—अगर खूंट आदि के कारण बाधिर्य हो तो उसको किसी यन्त्र अथवा सींक आदि में कपड़ा लपेट कर निकलवा देना चाहिये। गीली खूंट भर जाने पर परमैंगनेस पोटास के जल अथवा त्रिफला क्वाथ चाहे नीम की पत्ती के काढ़े से पिचकारी द्वारा कान

सफा करा देना चाहिए। नीबू का रस और कौड़ी भस्म डालना भी लाभप्रद है। हाइड्रोजन नामक दवा छोड़ने से कान की मैल गजगजा कर निकल जाती है। उक्त दवाओं से कान धोने और कान में लगाने के अलावे कच्चे बेल के रस में सज्जी का चूर्ण मिलाकर पिलाने से बहरापन में लाभ होता है।

कर्णस्राव—मस्तक में चोट लगने, कान में फोड़ा होने तथा पित्त विकृति के कारण भीतरी भाग में जखम हो जाता है जिसके फलस्वरूप कान बहने लगता है। चेचक आदि रोगों के पश्चात् भी कान बहता है।—दोष विकृति के विचार से उक्त दोषघ्न औषधियों को सेवन कराना चाहिये। निम्नलिखित औषधि से कान बहना अच्छा हो जाता है—

चमेली की पत्ती को तिल तैल में पकाकर उक्त तैल को कान में डालने से लाभ होता है। केवल नीम का तैल भी इस रोग के लिए अच्छी दवा है। कूट, हींग, दारुहल्दी, सोंठ, सौंफ और सेंधानमक को बकरी के मूत्र में पीसकर तिल तैल में डाल, तैल पकाकर कान में डालना लाभकर है। समुद्र फेन, सुपारी की राख और कत्था को पीसकर कान में छोड़ने से कर्णस्राव बन्द हो जाता है। बिरोजे का तैल भी कान बहने की बहुत अच्छी दवा है। चन्दन का तैल और काही का इतर भी कर्णशूल तथा कर्णस्राव में काम आते हैं। स्त्री के दूध से भी कान बहना अच्छा हो जाता है। नारायण तैल से भी लाभ होता है।

वाधिर्यनाशक तैल—शहद, अदरक का रस, सहिजन के जड़ की छाल का रस और केले की जड़ का रस प्रत्येक १–१ सेर और तिल तैल भी एक सेर लेकर सबको एकत्र मिला, तैल पाक विधि से सिद्ध कर लें। इस तैल को कान में डालने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। (यो० त०)

कुम्भी तैल—जलकुम्भी का कल्क १६ तोला, तिल तैल ६४ तोला और जलकुम्भी का स्वरस २५६ तोले के तैल पाक विधि से सिद्ध करके शीशी में रख लें। इस दवा से कान पकना, कान का दर्द एवं बहना आदि रोग अच्छे हो जाते हैं। (सिद्धयोग संग्रह)

बिल्व तैल—तिल तैल चार सेर, बेलगिरी (गोमूत्र में पिसी हुई) एक सेर और बकरी का दूध १९ सेर। इन औषधिओं को मिला तैल पाक विधि से

सिद्ध कर लें। इससे कान का दर्द, बहरापन एवं कान बहना आदि रोग भी ठीक हो जाते हैं। (भै० र०)

कर्ण रोग पर डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा परोक्षित एक पेटेन्ट दवा—

कर्णस्राव की दवा—यह दवा लुधियाना के एक हकीम साहब की पेटेण्ट है। दस तोले तैल में एक काला बिच्छू डालकर तैल पका लें। इससे कान बहना बन्द हो जाता है। एक औंस तैल का दाम उक्त हकीम साहब ने १) रुपया रखा है।

इसी प्रकार की अनेक पेटेण्ट दवाएँ हैं जिनकी लागत और कीमत देख कर आश्चर्य ही नहीं बल्कि दुःख भी होता है।

नाक-रोग (Nose disease)

नाक में निम्नलिखित-पीनस, पूतिनस्य, नासापाक, पूय रक्त, क्षवथुभ्रंश, दीप्त, प्रतिगाह, प्रतिस्राव और नासाशोष। इन दस रोगों के अलावे पाँच प्रकार का प्रतिश्याय, सात प्रकार के अर्बुद, चार प्रकार के नासा अर्श, चार प्रकार के नासा शोथ और चार प्रकार के नासा पित्त रोग मिलाकर ३४ प्रकार के रोग होते हैं। स्थानाभाव के कारण इनमें कुछ रोगों के लक्षण ही लिखना सम्भव है जो निम्न प्रकार है—(शेष रोगों को अन्य आयुर्वेद ग्रन्थों में देखें। —(लेखक)

पीनस—कफ की विकृति से नाक से श्वास आना-जाना रुक जाता है फलतः नाक रुक जाती है और सूखकर धूआँ निकलता रहता है। ऐसा होने से सुगन्ध-दुर्गन्ध का ज्ञान नष्ट हो जाता है।

चिकित्सा—-काली मिर्च, गुड़ और दही मिलाकर पिलाने से पीनस रोग अच्छा हो जाता हैं। कायफल, हींग, मिर्च, लाख, इन्द्र जौ, कूट, बच, बायबिडंग और सहजना की जड़ का क्वाथ पिलाने से पीनस रोग में लाभ होता है। बायबिडंग, सेंधानमक, हींग, गुग्गुल, बच और मनःशिला को चूर्ण बनाकर नस्य जैसा सुंघाने से भी लाभ होता है।

शिशुतैल—मुगने की छाल, कटेरी, निशोथ, सोंठ, मिर्च, पीपल, सेंधानमक

और बिल्व पत्र का रस लेवें। इन सबको तैल में पकाकर नाक में नस देने से पीनस रोग अच्छा हो जाता है।

क्षवथुरोग—नाक के मर्म स्थान में कुपित वात के पहुँच जाने के कारण कफ विकृति भी हो जाती है जिसके फलस्वरूप अत्यधिक छींक आने लगती है। तीव्र नस के प्रयोग से भी ज्यादा छींक आती है। क्षवथु अर्थात् छींक का रोग होने पर—सोंठ, कूट, पिप्पली, बेल की गुद्दी और दाख का क्वाथ बनाकर नस देने से छींक आना बन्द हो जाता है।

प्रतिश्याय रोग—पहले ही लिखा जा चुका है कि वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज इस प्रकार पाँच तरह के प्रतिश्याय होते हैं। यह रोग होने के पहले अत्यधिक छींक आना, सिर में भारीपन, रोमाञ्च होना और अंग-प्रत्यंग जकड़ जाना आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। वातादि भेद से सभी के लक्षण जानना चाहिए। इन रोगों में भी दोषानुसार औषधि प्रयोग के अलावे कपूर अथवा नौसादर और चूना मिलाकर सुंघाने से लाभ होता है। यूकलिप्टस आयल सुंघाने से भी फायदा होता है।

व्योषादि वटी—सोंठ, पीपल, मिर्च, अम्लबेंत, चव्य, तालीसपत्र, चित्रक मूल, सफेद जीरा और इमली का गूदा एक-एक तोला, दालचीनी, तेजपात और छोटी इलायची का चूर्ण ९-९ माशे तथा गुड़ २० तोले मिलाकर एक माशा प्रमाण गोली तैयार कर लें। अनुपान गर्म जल। इस दवा से सर्दी, जुकाम, पीनस तथा नजला आदि रोग अच्छे हो जाते हैं।

नासार्श—नाक मे मस्सा निकलता है उसको नासार्श कहते हैं।

नासार्शहर तैल—गृह धूम (घर की छत में जमा हुआ धुआँ), छोटी पीपल, देवदारू, जवाखार, करंज की छाल, सेंधानमक और अपामार्ग के बीज प्रत्येक दो-दो तोला लेकर जल में पीस कल्क तैयार कर लें। तिल तैल ६४ तोले लेकर उसमें २५६ तोले जल और उक्त कल्क मिलाकर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल को रुई के फाहे से नाक में लगाने पर नासार्श दूर हो जाता है। (सिद्ध योग संग्रह।)

नासार्श रोग में अर्श रोग में लिखित योगों से लाभ होता है। अतः नासार्श

रोग में तथा बवासीर रोग में काम आनेवाले प्रयोग से काम लेना चाहिये । उसी प्रकार शोष रोग का उपचार नासा शोष में और अर्बुद रोग का उपचार नासार्बुद रोग में करना लाभप्रद हैं ।

मुख-रोग (Mouth disease)

जल के समीप तथा जल में रहनेवाले जीवों का मांस खाने, अत्यधिक दूध, दही और उड़द के सेवन आदि कारणों से "श्रीभोज" के मतानुसार ६५ प्रकार के मुख रोग होते हैं । लेकिन कुछ आचार्य ६७ प्रकार के मुख रोग बतलाते हैं । श्रीभोज के मतानुसार दाँतों की जड़ में १५ और कंठ में १७ रोग होते हैं, अन्य आचार्यों ने दाँतों की जड़ में १६ और कंठ में १८ रोगों का वर्णन किया है ।

मुख रोग में ओठ, मसगुर, दाँत, जीभ, तालू और कंठ तथा कंठ-स्थान के रोग आते हैं । उक्त सात स्थानों को मुख के अंग कहते हैं । ओठों में ८, मसगुरों में १६, दांतों में ८, जीभ में पाँच, तालू में ९, कंठ में १८ और मुखमात्र में ३ रोग मिलाकर उक्त ६७ रोग श्री भोजाचार्यजी ने बतलाया है ।

वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, रक्तज, मांसज, मेदज और क्षतज आठ रोगों की वातादि भेद से लक्षण समझना चाहिए, जैसी वातज ओठ रोग में, आठ में कड़ापन, रुक्षता, श्यामता तथा तीव्र वेदना युक्त सूजन होती है । इसमे जोंक लगाने अथवा—वातघ्न औषधियों के वाह्य एवं भीतरी उपचार से लाभ उठावें । इसी प्रकार अन्य दोष युक्त ओठ रोगों में भी उपचार करें ।

दांत के मसूढ़ों क रोग—शिताद, दंतपुप्पुट, दन्तवेष्ट, सौषिर, महासौषिर, परिदर, उपकुश, वंदर्भ, खलिवर्धन, अधिमांस, वातनाड़ी दाह, पित्तनाड़ी दाह, कफ नाड़ी दाह, सन्निपात नाड़ी दाह, क्षत नाड़ी दाह और दन्त विद्रधि रोग । उक्त रोगों की सविस्तार व्याख्या अन्य ग्रन्थों में देखने से सभी बातें मालूम हो जायँगी । यहाँ पर संक्षेप में केवल इतना ही समझ लेना चाहिए कि विभिन्न प्रकार के कारणों से मसूढ़ों में सूजन, लाली, घाव, रक्तस्राव एवं पीवस्राव आदि होने को मसूढ़ों के रोग कहते हैं । त्रिफला, नीम, मौलशिरी के क्वाथ तथा पोटाश से कुल्ला करने पर लाभ होता है । मसूढ़े से रक्त निकाल देने पर भी लाभ होता है । सोंठ, सरसों

और त्रिफला को एक में मिलाकर कुल्ला कराने से बहुत ज्यादा लाभ होता है।

दाँत के रोग—दालन, कृमिदंत, भंजन, दंतशंकरा, कपाली, श्यावदंत और कराल ये आठ प्रकार के दंत रोग हैं। दालन में, दांत में तीव्र वेदना, कृमिदंत में दाँतों में छेद, काला दाग, रक्तस्राव और शोथ, भंजन में मुँह टेढ़ा होकर दाँत टूट जाना, दंत हर्ष में दाँत कोठ होना, शर्करा में दाँत में खरदरी मैल जमना, श्याम दत में दाँत काला पड़ जाना और कराला में दाँत उबड़ा-खबड़ा हो जाना आदि लक्षण होते हैं।

दांत रोग में भी मसूढ़ों के रोग में लिखित दवाओं से कुल्ला कराने पर लाभ होता है। दांत में कृमि लग जाने पर हींग के जल अथवा नीम, पटोल और त्रिफला के क्वाथ से कुल्ला करने पर बहुत ज्यादा लाभ होता है। मौलशिरी की छाल को बनाकर उसके बराबर फिटकरी और गेरू मिलाकर दत मंजन बनाकर मलने से भी भस्म लाभ होता है। हिलते हुए दांत के लिए भी मौलशिरी का काढ़ा बहुत लाभदायक है। इसकी दतवन से भी लाभ होता है। दांत की सफाई परमावश्यक है। चूँकि शरीर का आधार भोजन है और उसकी सर्व प्रथम दांत से शुद्धि प्रारम्भ होती है। बट, बघरैंड़ा, बबुल, महुआ तथा मौलशिरी की दतवन करने से दांत मजबूत रहते हैं। हर आठ रोज पर कड़वे तेल और नमक के दाँतों पर मलने के पश्चात कुल्ला कर लेने से दाँत झलकने लगते हैं। दत मंजन बनाने के लिए खड़ियाभाठ और गेरू दो महान साधन हैं। खड़ियाभाठ का उजला रंग होता है और गेरू का लाल इसी वजह से उजले और लाल दंत मंजन होते हैं। मदार की जड़ की राख और त्रिफला की राख समभाग लेकर उसमें थोड़ा घनसार मिलाकर मुख बंद कर शीशी में रख लें। इस दवा के मलने से दांत का दर्द अच्छा हो जाता है। केवल घनसार से भी लाभ होता है। हैजा प्रकरण में घनसार का विवरण देखें—(लेखक)। एलोपैथिक दवाखाना से प्राप्त होनेवाली "क्रियोजोट" नामक दवा को परिस्रुत जल के साथ मिलाकर दाँतों में लगाने से दाँत का दर्द अच्छा हो जाता है। इस दवा को बहुत से व्यापारी पेटेण्ट के रूप में भी बेचते हैं। पेटेण्ट दवाओं के दंत मंजन एवं ब्रश तथा दाँत की लेई के विषय में तो कुछ कहना ही बेकार है।

जीभरोग—वातादि भेद से तीन प्रकार का और अलास तथा उपजिह्वा रोग मिलकर पाँच रोग हुए। वातादि विषय रोगों के विषय में तो उनके दोषानुसार ही लक्षण एवं चिकित्सा समझना चाहिये। अलास रोग में जीभ के निम्नभाग में सूजन एवं पाक हो जाता है—फलतः, जीभ और दाढ़ी में अकड़न पैदा हो जाती है। त्रिफला और कचनार की छाल समभाग लेकर काढ़ा तैयार करें। उक्त काढ़ा से कुल्ला करने से अलास रोग अच्छा हो जाता है।

तालू एवं कंठ रोग पर भी आयुर्वेद शास्त्र में विशद वर्णन भरा पड़ा है। रोग निदान एवं चिकित्सा की भी सुन्दर व्यवस्था है फिर दुर्भाग्यवश न तो उस ओर आयुर्वेद चिकित्सकों की जोरदार प्रवृत्ति देखी जाती है और न जनता की ही। यद्यपि आज नाना प्रकार के यंत्रों का आविष्कार हो रहे हैं और जनसाधारण को दृष्टि और दिमाग उधर ही मुड़ते नजर आते हैं लेकिन कृत्रिमता से प्राकृतिक साधन का स्थान हर हालत और हर समय ही श्रेष्ठ रहेगा। हमारे आचार्यों के लिखित आदेशों का उपयोग और उसमें अन्यान्य साधन का समावेश तो दूर रहा उसको अच्छी तरह से मनन करना भी असम्भव-सा होता जा रहा है। आयुर्वेद के अनेकानेक विद्वानों के रहते हुए भी आज की प्रगति पर क्षोभ होता है।

टॉन्सिल रोग पर खाने एवं लगाने की दवा के अलावे इसको चीरने आदि की क्रिया का भी बहुत ही उत्तम दिग्दर्शन प्राप्त है। इतने पर भी आज यह कार्य केवल कथनी मात्र तक के घरौंदे में ही सीमित पड़ा है।

स्त्री-रोग

प्रायः पुरुष के समान ही स्त्री को भी रोग होता है लेकिन कुछ ऐसे भी रोग हैं जो केवल स्त्री को ही होते हैं। अतः प्रदर, सोम एवं योनिरोग आदि रोगों को स्त्री रोग कहते हैं। स्त्री को नियमित रूप से प्रतिमास रजःस्राव नहीं होने अथवा विकृति जन्य मासिकस्राव के कारण भी नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। भारतवर्ष में स्त्रियों को लगभग पन्द्रह साल की अवस्था में रजःस्राव शुरू होता है और पचास साल की आयु तक बना रहता है। यों तो निश्चित समय पर मासिक नहीं होने से भी प्रदर रोग हो जाता है लेकिन आयुर्वेद ग्रन्थों में लिखे अनुसार निम्न कारणों से स्त्रियों को प्रदर रोग होता है—

प्रदर—विरुद्ध भोजन भोजन पर, भोजन, गर्भपात, चोट, दिन में ज्यादा सोना तथा अत्यधिक मैथुन, शोक एवं बोझ ढोने आदि कारणों से प्रदर रोगों का प्रादुर्भाव हो जाता है। यह प्रदर रोग श्वेत एवं रक्त इस तरह दो प्रकार का होता है तथा वातादि भेद से इसके चार भेद हैं। अंग्रेजी में श्वेद प्रदर को "ल्युकोरिया" और रक्त प्रदर को "मनोरेजिया" कहते हैं।

आज के युग में जिस प्रकार प्रमेह का व्यापक प्रभाव पुरुष समाज पर देखने में आता है उसी प्रकार प्रदर का नारी समाज पर। प्रदर रोग में बिना मासिक-धर्म के ही स्राव होता रहता है। श्री माधवाचार्य जी ने प्रदर रोग में निम्न उपद्रव बतलाया है। यथा—

तस्यातिवृद्धौ दौर्बल्यं, भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा।
दाहः प्रलापः पांडुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥

अर्थात् उस प्रदर रोग के बढ़ जाने पर—दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, मद, तृषा, दाह, प्रलाप, शरीर का पीलापन, तन्द्रा एवं वातज (आक्षेप अपतान एवं कम्पादिक) होते है।

वातज प्रदर में रूखा, लाल अथवा श्याम रंगयुक्त स्राव होता है तथा तीव्र वेदना भी होती है। इसमें वातघ्न औषधियों का प्रयोग हितकर है। पित्तज प्रदर में—नीला, पीला एवं लाल रंग के स्राव के साथ जलन, प्यास तथा दाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी हालत में पित्तघ्न औषधियों के प्रयोग से लाभ होता है। कफज प्रदर में—श्वेत, चिकना एवं चमकीला स्राव के अलावे शरीर में भारीपन, आलस्य तथा कफ धातु विकृति के अन्य दोष देखने में आते हैं।

कफजप्रदर में कफघ्न औषधियों से लाम उठावें। सन्निपातज प्रदर में उक्त तीनों दोष विकृत हो जाते हैं। इसमें त्रिदोषघ्न औषधि से लाभ होता है। जिस प्रदर रोग में योनि से निरन्तर स्राव होता रहता है उसको असाध्य समझना चाहिए। सोम रोग में भी निरंतर जल की भांति उज्जला स्राव होता रहता है और इसी प्रकार मूत्रातिसार में भी। प्रदर रोग, सोम रोग एवं मूत्रातिसार रोग एक दूसरे से मिलते-जुलते रोग हैं।

प्रदरोपचार मुलहठी और मिश्री का समभाग चूर्ण चावल के धोवन के साथ सेवन कराने से लाभ होता है। गूलर के पके फल, धव के फूल एवं रसोत के चूर्ण को मधु के साथ चाटना भी हितकर है। पके हुए केले को गोदुग्ध के साथ सेवन करने से भी लाभ होता है। कपास के पत्तों का रस, चावल के धोवन के साथ सेवन करने से भी प्रदर रोग में लाभ होता है। नीम का तेल भी गोदुग्ध के साथ बलाबलानुसार सेवन कराने से आशातीत फल होता है। रक्त प्रदर में दूध के साथ चूहे की लेंड़ी का सेवन बहुत ही लाभप्रद सिद्ध हुआ है। चूहे की लेंड़ी दही के साथ भी खिलाने का विधान है लेकिन दूध के साथ सेवन करा कर मैंने खुद भी परीक्षा करके देख लिया है।

पुष्यानुग चूर्ण—पाठा, जामुन की गुठली की गिरी, आम की गुठली की गिरी, पाषाण भेद, रसौत, मोचरस, मजीठ, कमलकेशर, केशर, अतीश, नागरमोथा, बेलगिरी, लोध, गेरू, कायफल, काली मिर्च, सोंठ, मुनक्का, लाल चंदन, सोना पाठा की छाल, इन्द्र जौ, अनन्तमूल, धाय के फूल, मुलैठी और अर्जुन की छाल समभाग लेकर बारीक चूर्ण बना लें। मात्रा २ से तीन माशे। अनुपात—चावल का धोवन (चरक सं०)

प्रदरारि चूर्ण—भूमि आँवले की जड़ को पानी में धोकर माड़ करके सुखा कूट कपड़ा छानकर चूर्ण बना लेवें। मात्रा दो से चार माशे तक दोनों शाम अनुपान चावल का धोवन। (यो० त०)

अशोक घृत—एक सेर अशोक की छाल ४ सेर जल में औटाकर काढ़ा तैयार कर लें। वह काढ़ा और जीरे का क्वाथ, चावलों का पानी, बकरी का दूध तथा भांगरे का रस प्रत्येक १-१ सेर और जीवनीय गण, फालसा, चिरौंजी, रसौत, मुलैठी, अशोक के जड़ की छाल, मुनक्का, शतावर, चौलाई की जड़ प्रत्येक ढाई-ढाई तोले। इनके कल्क के साथ १ सेर घृत कर लेवें। सिद्ध हो जाने पर आधा सेर शक्कर मिलाकर रख लें। मात्रा १ तोला प्रातः। अनुपान दूध अथवा गर्म जल। (भै० र०)

प्रदररिपु रस—शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक और नाग भस्म प्रत्येक १-१ तोला, रसौत तीन तोला तथा लोध्र चूर्ण ६ तोला लेवें। पारा गन्धक की कज्जली बना

कर उक्त औषधियों का चूर्ण मिलाने के बाद एक दिन पर्यन्त वासा के रस में अच्छी तरह से घोंटकर २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। अनुपान—खून खराबे का चूर्ण १ माशा और मधु।

प्रदरान्तक लौह—लोहभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध हरताल, बंगभस्म, अभ्रक-भस्म, कौड़ी भस्म, सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्रे, बहेरा, आँवला, चित्रक मूल, बाय-विडंग, पांचो नमक, चव्य, शंखभस्म, बच, हाऊबेर, कूट, कपूर, पाठा, देवदार, इलायची और विधारा को समभाग लेकर काष्ठ औषधियों को चूर्ण बनाने के पश्चात् भस्म मिला, पानी से घोंट कर चार रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। सुबह तथा शाम को मिश्री के चूर्ण एवं शहद के साथ सेवन कराने से सभी प्रकार के प्रदर रोग नष्ट हो जाते हैं। (र० रा० सू०)

प्रदरारि लौह—सवा ६ सेर कुड़े की छाल को यवकूट कर ३२ सेर जल में औट, चार सेर काढ़ा तैयार कर लें। उक्त चार सेर काढ़ा को पुनः आग पर चढ़ाकर गाढ़ा कर लेवें और उसमें मजीठ, मोचरस, पाठा, बेलगिरी, नागर मोथा, धाय के फूल और अतीस का बारीक चूर्ण ४-४ तोले, अभ्रक और लौह भस्म ४-४ तोले मिला, गाढ़ा होने पर ४ रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान-अशोक के छाल के क्वाथ से। केवल लौह भस्म से भी रक्त-स्राव रुक जाता है। (भ० र०)

पत्रांगासव—पतंग, खैरसार, बासक, सेमल के फूल, खरैटी, शुद्ध भिलावा, सरिवा, दोनों गुड़हल के फूल, आम की गुठली, दारुहल्दी, चिरैता, पोस्ते की ढोढ़ी, जीरा, अगर, रसौत, बेलगिरी, भांगरा, दालचीनी, केशर और लौंग प्रत्येक ५ तोले लेकर रख लें। ६४ सेर जल में मुनक्का १$\frac{9}{4}$ सेर, धाय का फूल एक सेर, खाँड़ ६$\frac{9}{4}$ सेर, मधु ३ सेर १० छटाँक लेवें। उक्त चूर्ण को जल में अच्छी तरह से घोल लेन के साथ अन्य औषधियों को भी मिलाकर एक मटके में भर, मुखबन्द कर एक मास बाद छान लेवें। मात्रा एक से दो तोले तक। अनुपान—समभाग जल। इस दवा से श्वेत एवं रक्तप्रदर में बहुत ज्यादा लाभ होता है (भै० र०)

डा० रा० कृ० द्वारा परीक्षित प्रदर रोग पर एक पेटेण्ट दवा—'नारी अमृत" यह दवा डा० राय एण्ड कं० लाहौर की है। योग निम्न प्रकार

है—फासफोरस पिल्स $\frac{1}{40}$ ग्रेन, सल्फेट ऑफ जिंक १ ग्रेन, एक्सट्रैक्ट वलेरियन २ ग्रेन और मुलहठी का सस ३ ग्रेन को पानी में खरल कर २ गोली दवा तैयार कर लें। इस दवा से प्रदर एवं कष्टार्तव आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

सोमरोग के निम्न कारण हैं—

अत्यधिक मैथुन, शोक, परिश्रम, रेचन सेवन एवं कृत्रिम विष के संयोग आदि। शरीर स्थित जल द्वारा शरीर खड़ा है। अतः उस जल को सोम कहते हैं जिसकी क्षीणता से स्त्री को सोमरोग होता है। इस रोग में—केले की पकी हुई फली, आमलों का स्वरस, शहद और मिश्री मिलाकर सेवन कराने से लाभ होता है। निम्नलिखित सोमनाथरस इस रोग के लिए रामबाण है—

लौह भस्म एक तोला, शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, छोटी इलायची, तेजपात, हल्दी, दारुहल्दी, जामुन की छाल, खस, गोखरू, बायबिडंग, जीरा, पाठा, आँवला अनार की छाल, सुहागे की खील, सफेद चन्दन, शुद्ध गुग्गुल, लोध, अर्जुन को की छाल और रसौत प्रत्येक का साढ़े सात-साढ़े सात माशे चूर्ण लेवें। पहले पारद गन्धक की कज्जली बनाकर उक्त चूर्ण को मिला, बकरी के दूध में खरल कर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना लेवें। अनुपान शहद अथवा बकरो का दूध।

———

योनि रोग

मिथ्या अहार-विहार, दुष्टार्तव, एवं वीर्यदोष के कारण वायु के उदावृता, वन्ध्या, विप्लुता, परिप्लुता और वातला ये पाँच वातज योनि रोग होते हैं। लोहि-यामिनी, तासार, प्रसंगिनी, पुत्रघ्नी और पित्तला ये पाँच पित्तज योनि रोग हैं। अत्यानन्दा, कर्णिनी, चरणा, अतिचरणा और कफजा ये पाँच कफज योनि रोग हैं। स्तनी, षंढी, अंडिनी, महंती और सूचिवक्रा ये सान्निपातिक योनि रोग हैं। इस प्रकार २० तरह के योनिरोग होते हैं।

उदावृत में रजोधर्म के समय कष्टयुक्त झागदार रक्त निकलता है। प्रत्येक मास में रजोधर्म नहीं होने को बन्ध्या कहते हैं लेकिन लोक में बन्ध्या शब्द बाँझ होता है अर्थात् जिसको गर्भ नहीं रहता उसको बन्ध्या कहते हैं। योनि में निरंतर पीड़ा

रहने पर विप्लुता कहते हैं। र:जस्राव के समय वेदना युक्त रज:स्राव को परिप्लुता योनि कहते है।

दाहयुक्त रज:स्राव को लोहितक्षरा, वायु और रजयुक्त रज:स्राव को बामिनी, रक्तक्षय के कारण गर्भ गिरने पर पुत्रघ्नी और दाहयुक्त योनिपाक को पित्तला योनिरोग कहते हैं।

मैथुन से सन्तुष्टि नहीं होने पर अत्यानन्दा, योनि में कमल के सदृश्य मांस के कंगनी बन जाती है उसको कर्णिनी, मैथुन के समय शीघ्र स्खलन होने से चरणा योनि रोग और जो देर से स्खलित होती है उसको अतिचरण योनिरोग कहते हैं। उक्त पाँच प्रकार के कफज योनि रोग होते हैं।

जिस स्त्री को रजोधर्म नहीं होता तथा उसके स्तन छोटे होते हैं स्तनीयोनि रोग कहते हैं। मैथुन के समय खरखरी होने पर षंढी, कमसिन उम्र की स्त्री के साथ पुरुष के योग के कारण योनि अंडवत लटक पड़ती है उसको अंडिनी योनि रोग, फैली हुई तथा आकार में बड़ी योनि को महतीयोनि तथा जिस योनि में छोटा छेद रहता है उसको सूचिवक्रा योनिरोग कहते हैं। उक्त पाँच रोग त्रिदोषज योनिरोग हैं। योनिरोग के अलावे वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज योनि कन्द रोग भी होते हैं।

चिकित्सा—योनिरोग में खाने, लगाने, धोने, रूई के फाहा अथवा बत्ती के सहारे दवा को भीतर रखने तथा पिचकारी देने आदि उपायों से काम लिया जाता है। बच, अडूसा, नीम, पटालपत्र, त्रिफला और अमलतास को समभाग लेकर क्वाथ बना, योनि को धोने से योनि की खुजली, सूजन, जलन एवं फुन्सियाँ अच्छी हो जाती हैं।

श्वेत-जीरा, काला जीरा, पीपर, कलौंजी, सुगन्धित बच, अरुस, सेंधानमक, अजवायन और जवाखार के चूर्ण को जरा-सा तावा पर भूनकर जल के साथ घोंटकर लड्डू बना लें। बलाबलानुसार सेवन कराने से समस्त योनि रोग अच्छे हो जाते हैं। महर्षि चरकाचार्यजी ने निम्नलिखित तैल को योनि रोगों के लिए बहुत ही लाभप्रद बतलाया है।

धातक्यादि तैल—धव के पत्ते, आमले के पत्ते, आम के पत्ते, कालासुरमा,

मुलेठी, जामुन की गुठली, आम की गुठली, कशीस, लोध, जायफल, तेंदु का फूल, फिटकरी, अनार के जड़ की छाल और गूलर के कच्चे फल प्रत्येक सवा तोले लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। उक्त चूर्ण को बकरी के एक सेर ढाई पाव मूत्र में पीसकर लुगदी तैयार करने के पश्चात् एक सेर तिल तैल एवं एक सेर ढाई पाव गोदुग्ध के साथ तैल सिद्ध कर लेवें। योनिरोग के लिए यह बहुत ही उत्तम औषधि है। इस तैल का फाहा योनि में रखने का विधान है।

गुडूच्यादि घृत—गिलोय, त्रिफला, शतावर, स्योनाक, हल्दी, अरणी, पियाबासा, दाख, कसौंदी, बेलगिरी और फालसे को कूटकर पानी के साथ सिल पर पीस, लुगदी तैयार करें। पश्चात् आधा सेर उत्तम घृत लेकर किसी कलईदार पात्र में उक्त लुगदी के साथ सिद्ध कर लेवें। इस घृत को खिलाने से योनिरोग में आशातीत फल होता है।

फलघृत—फलघृत कई एक प्रकार का देखने में आता है। अर्थात् यह घृत कई एक ग्रंथों में मिलता है लेकिन नुस्खा में कुछ अदल-बदल देखने में आता है। इस फलघृत के निम्नलिखित गुण बतलाये गये हैं—

योनि से मवाद निकलना, रजःदोष, प्रदर तथा धातुविकृति, कमजोरी, शरीर का भद्दापन और मैथुनेच्छा का ह्रास आदि का नाश हो जाता है। यह फलघृत अश्विनीकुमारों का बतलाया निम्नप्रकार का है। यथा—

मजीठ, मुलहठी, कूट, हर्रे, बहेरा, आँवला, खांड़, खरैंटी, प्रत्येक एक तोला, शतावर दो तोला, असगंध चार तोले और असगंध की जड़, अजमोद, हल्दी, दारुहल्दी, फूल प्रियंगू, कुटकी, कमल, बबूला, कुमुदनी, दाख, काकोली, क्षीर काकाली, सफेद चंदन और लाल चंदन प्रत्येक दवा कूटकर चूर्ण तैयार कर लें। उक्त चूर्ण को जल के साथ सिलपर पीसकर लुगदी तैयार कर लेवें। शतावर का रस और गाय का घी १२८ तोले को उक्त लुगदो के साथ आग पर चढ़ा कर मधुर आँच से घृत सिद्ध कर लें।

योनि कन्द में कड़वी तरोई के स्वरस को दही के साथ पिलाने से लाभ होता है। योनि शूल में सौंफ का अर्क बहुत ज्यादा फायदा रहता है। सूखे हुए बैंगन के चूर्ण को योनि में रखने से योनि सिकुड़ जाती है। सूखी बीर बहूटी के

अथवा केंचुआ नामक कीड़े की भस्म को मधु के साथ मिलाकर भग में रखने से योनि संकुचित हो जाती है। चक्रदत्त में लिखा है कि :—मैनफल, शहद और कपूर को योनि में लगाने से वृद्धा की योनि भी युवा स्त्री की तरह हो जाती है। वैद्य जीवन में लिखा है कि इन्द्रायण की जड़ और सोंठ को बकरी के घी में पीसकर योनि पर लेप करने से योनि-शूल समूल नष्ट होता है। कलौंजी की जड़ के लेप से भीतर घुसी हुई योनि बाहर निकल आती है और चूहे के मांस अथवा उसके क्वाथ से बाहर की ओर निकली हुई भीतर की ओर होकर संकुचित हो जाती है। वैद्य जीवन में लिखा है कि देवदार और सरिवा को घृत में मिलाकर लेप करने से योनि कड़ी हो जाती है।

रजोधर्म (Monthly course)

इसके विषय में पहले ही लिखा जा चुका है कि प्रत्येक स्त्री को हर मास में लगभग बारह से ५० साल तक रजःस्राव होता है।—स्त्री के रज एवं पुरुष के वीर्य से गर्भाधान होता है। शुद्ध रज एवं वीर्य के विषय में भी पहले ही चर्चा हो चुकी है। रजःस्राव होने पर स्त्री के जरायु का मुंह सोलह रोज तक खुला रहता है और इसी १६ रोज की अवधि में स्त्री-पुरुष के मैथुन से गर्भ रहता है। १६ दिनों के पश्चात् जरायु का मुंह बिलकुल बन्द हो जाता है। अतः उक्त अवधि के पश्चात् मैथुन करने से गर्भ नहीं रहता। आयुर्वेद ग्रंथों में लिखा है कि मासिक के दिन से जोड़ने पर फुट दिनों में भोग करने से लड़की और जोड़े दिनों के दिन भोग करने से पुत्र उत्पन्न होता है। रज एवं वीर्य की न्यूनाधिकता की भी प्रधानता को महत्व दिया गया है।

पुरुष का स्खलित वीर्य स्त्री के रज से मिलकर गर्भाशय में स्थित हो जाता है और चौथे मास के बाद उसमें जीव पड़ जाता है। यही रज एवं वीर्य से बना हुआ जीव नवें मास में जन्म लेता है। कुछ स्त्रियों को (खासकर पहली बार के प्रसव में) दस एवं ग्यारह मास भी लग जाते हैं।

मासिकधर्म में विकृति होने पर हाथ-पैर में जलन, जंघास्थि में दर्द, डिम्ब-कोष-प्रदाह (Oophoritis), नसों का दर्द (नियुरैलजिया), अकड़न, मूर्च्छा,

बेहोशी तथा पेड़ू में भयानक पीड़ा आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। डिम्बकोष प्रदाह तथा नसों के दर्द के अन्य भी कई एक प्रधान कारण हैं।

उचित मात्रा से कम अथवा ज्यादा मासिकस्राव को रजःविकृति रोग कहते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र में लिखा है कि गर्भाधान के अलावा कई एक ऐसे भी कारण हैं जिनकी वजह से मासिकस्राव बन्द हो जाता है।

गर्भ के अलावे निम्न कारणों से रजःस्राव बन्द हो जाता है—अत्यधिक कमजोरी होने, गर्भाशय में सूजन आ जाने, अत्यधिक मुटाई, गर्भाशय के मुख का टेढ़ा पड़ जाने तथा सर्दी लगकर खून जम जाने आदि से।

चिकित्सा—मासिकस्राव के बन्द होने के कारण अच्छी तरह से समझ लेने के पश्चात् चिकित्सादि व्यवस्था करने चाहिए। अगर कमजोरी के कारण रजःस्राव बन्द हो तो पुष्टिकारक योगों से काम लेना चाहिए तथा दूध, फल एवं मांसाहारियों को मांस रस का सेवन करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य कारणों को समझते हुए उपाय करना चाहिये। निम्नलिखित शास्त्रोक्त औषधियों से रजः-विकृति में लाभ होता है—

रजःसुधार चूर्ण—सोंठ १ तोला, कालादाना १½ तोला, दन्ती ३ तोला, जावित्री २ तोला को महीन चूर्ण बना लें। मात्रा ३ माशे शर्बत बनफ्सा, सोंठ का अर्क। इस दवा को ऋतुधर्म के समय देने का विधान है। (चि० च०)

नागकेशरादि चूर्ण—नागकेशर और मिश्री दस-दस तोले लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। मात्रा ६ माशे। अनुपान–गो-दुग्ध रजोदर्शन के दिन के एक सप्ताह पहले सेवन का विधान है।

रजःप्रवर्तनी वटी—एलुआ, सुहागे की खील, हीरा कसीस और भूनी हींग प्रत्येक समभाग लेकर घृत कुमारी के रस में खरल करके तीन रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। मासिकस्राव के एक सप्ताह पहले से इसका प्रयोग गर्म जल के साथ करना चाहिये (भै० र०)

अशोकारिष्ट—अशोक की छाल सवा ६ सेर को छोटे टुकड़े बना, ६४ सेर जल में औंटकर १६ सेर काढ़ा तैयार कर लें। पश्चात् उसमें गुड़ १२॥ सेर घोलकर निम्नलिखित औषधियों का चूर्ण मिलाकर एक मास मुख बन्द रखने

के पश्चात् छानकर बोतलों में भर लें। इससे रजःविकृति, प्रदर, रक्तपित्त, कमजोरी, बाधक वेदना तथा पेड़ू दर्द आदि उपद्रव शान्त हो जाते हैं। मात्रा—१। से २॥ तोले समभाग जल के साथ। प्रक्षेप द्रव्य निम्न प्रकार हैं—

धाय के फूल १ सेर, काला जीरा, नागरमोथा, सोंठ, दारु हल्दी, हर्रे, लालकमल, आँवला, बहेरा, आम की गुठली, सफेद जीरा, वासा और सफेद चन्दन प्रत्येक पांच-पांच तोले। (आ० प्रकाश)

बोल बद्ध रस—शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक एक-एक तोला की कज्जली तैयार कर उसमें गिलोय का सत १ तोला और खूनखराबा का तीन तोला बारीक चूर्ण मिलाकर सेमल वृक्ष की छाल के रस में एक दिन पर्यन्त अच्छी तरह घोंटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। अनुपान भेद से यह प्रदर, रक्तपित्त, रक्तप्रमेह, वातरक्त, विद्रधि तथा नाक, मुँह, गुदा एवं योनि के रक्तस्राव होने पर बहुत ज्यादा लाभ करता है। मालकंगनी को अड़हुल के फूल के रस में घोंटकर तीन माशे प्रमाण गोली तैयार कर गोदुग्ध के साथ सेवन कराने से रजःशुद्धि होती है।

पलाण्डु वटी—प्याज का बीज, सूखा पुदीना, काले तिल और पुराना गुड़ समभाग लेकर जल के साथ घोंटकर झरबेरी प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लेवें। पीड़ा युक्त रजःस्राव तथा रजःस्राव बन्द हो जाने पर इसके प्रयोग द्वारा आशातीत फल होता है।

ताड़फल भस्म—ताड़फल के बाल को किसी स्वच्छ पात्र में जलाकर भस्म तैयार कर लें। उस भस्म के बराबर पुराना गुड़ मिलाकर एक तोला प्रमाण दवा दोनों शाम सेवन कराने से केवल दो सप्ताह के अन्दर मासिकस्राव होने लगता है। गाजर के बीज को डेढ़ तोले की मात्रा में दोनों शाम जल के साथ घोलकर पिलाने से मासिकस्राव जारी हो जाता है। पुराना गुड़ और काले तिल को भी औंटाकर पिला देने से स्राव जारी हो जाता है। ओंगे की जड़ को अच्छे खरल में जल के साथ अच्छी तरह से घोंटकर बत्ती बनाकर भग में रखने से केवल तीन रोज में ही मासिकस्राव हो जाता है। रीठे के फल की छाल को अच्छी तरह से कूटकर उसकी बत्ती बना भग में देने से मासिकस्राव होने लगता है।

मासिकस्राव की गड़बड़ी पैदा होते ही यथाशीघ्र उपचार करना चाहिये। इस रोग में परहेज पर विशेष ध्यान रखना परमावश्यक है। खट्टा, कड़वा एवं तीता तथा चरपरा पदार्थं का बिल्कुल त्याग करना परमावश्यक है। जरायु गड़-बड़ी में चीरफाड़ द्वारा भी चिकित्सा का विधान है आजकल तो जरा-सा भी दोष होने पर चीरा लगाना ही श्रेयस्कर समझा जाने लगा है। लेकिन धैर्यपूर्वक शास्त्रोक्त औषधियों का पथ्यापथ्य के मुताबिक प्रयोग किया जाय तो बहुत ज्यादा लाभ होता है।

बन्ध्या रोग (बाँझपन)

गर्भाशय दोष, नष्टार्तव एवं योनि रोग आदि कारणों से स्त्री में बाँझपन होता है। साधारणतः बन्ध्या रोग के तीन भेद हैं—जन्म बन्ध्या अर्थात् जिस स्त्री को सन्तान होती ही नहीं। मृत बन्ध्या—अर्थात् सन्तान हो-होकर मर जाना। काक बन्ध्या अर्थात् केवल एक सन्तान होकर फिर नहीं हो।

आयुर्वेद शास्त्र में बाँझपन के आठ कारण बतलाये गये हैं—फूल या गर्भाशय में दूषित वायु प्रवेश, फूल या गर्भाशय पर मांस बढ़ना, फूल में कृमि पड़ना, वायुवेग से फूल ठण्डा पड़ जाना, फूल दग्ध हो जाना, फूल उलट जाना, भूतादि बाधा तथा पूर्व जन्म कृत पाप अर्थात् (मर्मंज दोषज वंध्या)।

वंध्या रोग की परीक्षा स्त्री-पुरुष के सहवास के समय स्त्री के शरीर में विभिन्न प्रकार की पीड़ा आदि से जानने का विधान है। षट्वंध्या रोग की परीक्षा एवं उपचार—

ऋतुमती के मासिकस्राव के चौथे दिन स्नानोपरान्त पुरुष को मैथुन करना चाहिए। मैथुनोपरान्त दरियाफ्त करने से पता चले कि स्त्री का शरीर काँपता है तो फूल में वायु भर जाना समझना चाहिए। काली तिल के तेल में थोड़ी-सी तलाब हींग घोंटकर रुई के फाहा द्वारा एक-एक पहर योनि में रखने से फूल में वायु भर जाने का दोष दूर हो जाता है, लेकिन तीन रोज तक फाहा रखना जरूरी है। कमर में दर्द होने पर मांस वृद्धि समझना चाहिए। हाथी का नख एवं स्याह जीरा समभाग लेकर अच्छी तरह से बारीक चूर्ण बना, रेंड़ी के तेल में

घोंटकर उक्त प्रकार योनि में तीन रोज तक फाहा रखने से फूल पर मांस चढ़ जाने की शिकायत दूर हो जाती है। पेड़ू में दर्द होने पर फूल में कृमि पड़ना समझना चाहिए। त्रिफले को साबुन के जल के साथ अच्छी तरह से पीसकर फाहा में लगा--उक्त प्रकार एक-एक पहर तीन रोज तक योनि में फाहा रखने से कृमि वन्ध्या रोग दूर हो जाता है। छाती में दर्द होने पर फूल शीतलता समझना चाहिए। बच, स्याह जीरा और असगन्ध को सुहागे के जल के साथ घोंटकर उक्त प्रकार एक-एक पहर तीन रोज तक योनि में फाहा रखने से फूल का ठण्डा पड़ जाना ठीक हो जाता है। माथे में दर्द होने पर फूल का दग्ध समझना चाहिए। लहसुन ४ रत्ती, समुद्रफल और सेंधा नमक तीन-तीन माशे चौकिया सुहागे के जल के साथ पीसकर उक्त प्रकार के फाहा द्वारा प्रयोग करने पर फूल का दग्ध होना अच्छा होता है। इस दवा में लहसन के कारण योनि में साधारण जलन पैदा हो जाती है। अगर इससे विशेष तकलीफ हो तो फाहा निकाल फेंकने के पश्चात् गाय का घी दो-तीन बार लगा देना चाहिए। जघों में दर्द होने पर फूल का उलट जाना समझना चाहिए। केशर और कस्तूरी ४-४ माशे लेकर जल के साथ अच्छी तरह से घोंटकर चना प्रमाण गोली तैयार कर लें।

इन गोलियों में दो-तीन गोली दवा मलमल के साफ वस्त्र में लपेट, एक सप्ताह तक योनि में रखने से गर्भाशय के उलट जाने का दोष अच्छा हो जाता है। अगर मैथुन के समय उक्त छः प्रकार के उपद्रव में से किसी की रिपोर्ट नहीं मिले तब कर्म दोषज वन्ध्या रोग समझना चाहिए।—उक्त दवाओं के साथ खिलाने के लिए अशोकारिष्ट, अशोकघृत एवं फलघृत आदि औषधियों को काम में लाना चाहिए।

गर्भाधान कारक शास्त्रोक्त नुस्खे :—

नागकेशर का चूर्ण बछड़ेवाली गाय के दूध के साथ कुछ दिनों तक सेवन कराने से गर्भ रहता है। सफेद कटेरी की जड़ को (जो पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी गयी हो) क्वांरी कन्या के हाथ से दूध के साथ सिल पर पिसवाकर पिलाने से गर्भाधान होता है। ऋतुस्राव के पश्चात् कबूतर की बीट योनि में रखने से गर्भ रहता है।

निगुंण्डी २४ तोला, शुद्ध शिलाजीत और जायफल दो-दो तोले, लाजवन्ती, जावित्री, इसबगोल और मगजी एक-एक तोला और शतावर पांच माशे लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। पश्चात् गाय के पांच सेर दूध में उक्त चूर्ण को अच्छी तरह से औटाकर चूर्ण जैसा कर लेवें। उक्त दुग्ध एवं दवा के चूर्ण में एक सेर गाय का घी और ४ तोले बंगेश्वर मिलाकर सुपारी प्रमाण गोली तैयार कर लें। इस दवा को एक या दो मास तक सेवन कराने से गर्भाधान होता है। खट्टी मीठी एवं चरपरो वस्तुओं से परहेज रखना चाहिये।

बृहत् कल्याण घृत—नागरमोथा, कूट, हल्दी, दारु हल्दी, पीपल, कुटकी, काकोली, क्षीरकाकोली, बायबिडंग, त्रिफला, बच, मेदा, रास्ना, असगंध, इन्द्रायन, फलप्रियंगू दोनों सरिवा, शतावर, दन्ती, मुलेठी, कमल० अजमोद, महामेदा, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, चमेली के फूल, बंसलोचन, मिश्री, हींग और कायफल को दो-दो तोले/लेकर बारीक चूर्ण बना लेवें। उक्त चूर्ण को पानी के साथ सिल पर पीसकर लुगदी बना लेने के पश्चात् चौगुने गोदूध के साथ तीन सेर घृत को घृत-पाक विधि से सिद्ध कर लेवें। मात्रा बलाबल अनुसार रखना चाहिये। इस घृत को सेवन कराने से अवश्य ही पुत्र पैदा होता है। दवा को पुष्य नक्षत्र में कलई-दार पात्र में तैयार करने का विधान है।

बृहत्फल घृत—मजीठ, मुलैठी, कूट, त्रिफला, खांड़, खरैटी, मेदा, क्षीर-काकोली, काकोली, असगंध की जड़, अजमोद, हल्दी दारुहल्दी, हींग, कुटकी, नील कमल, कामोदनी, कुमुद पुष्प, दाख, दोनों कटेरी, लाल चंदन और सफेद चंदन इन दवाओं को समभाग लेकर चूर्ण तैयार लें। उक्त चूर्ण को पानी के साथ सिल पर पीसकर लुगदी बना लेवें, घी चार सेर और शतावर का रस १६ सेर लेकर लुगदी के साथ घृतपाक विधि से दवा तैयार कर लें। बलाबल अनुसार सेवन कराने से वन्ध्यादोष, योनिदोष, मृतवत्सा दोष तथा योनिस्राव आदि नष्ट हो जाते हैं।

विशेष—अष्टवर्ग की औषधि जैसे मेदा एवं काकोली के स्थान पर च्यवनप्राश में लिखित प्रतिनिधि वर्ग लेना चाहिये। (लेखक)

———

गर्भिणी चिकित्सा

गर्भवती स्त्री को रोग होने पर उसकी चिकित्सा के लिए सबसे पहले औषधि की मात्रा पर ध्यान देना चाहिये। दवा का गुणदोष एवं मात्रा पर पूर्ण विचार कर दवा खिलाने से कोई अनिष्ट नहीं होता। बच्चे और गर्भवती स्त्री को आधी मात्रा औषधि देने का विधान है, लेकिन कुछ ऐसी भी औषधियाँ हैं जो गर्भिणी को नहीं दी जा सकती हैं।

गर्भिणी के साधारण ज्वर में लाल चंदन, सरिवा, लोध, दाख और मिश्री का काढ़ा पिलाने से लाभ होता है। विषम-ज्वर में बकरी के दूध के साथ सोंठ मिलाकर पिलाने से ज्वर शान्त हो जाता है। अतिसार, संग्रहणी एवं योनि से रक्तस्राव में निम्नलिखित दवा बहुत ज्यादा काम करती है—

सुगंधवाला अरलू, लाल चंदन, खरैटी, धनियाँ, गूचं, नागरमोथा, खस, जवासा, पित्तपापड़ा और अतीस। इन दवाओं को समभाग लेकर क्वाथ पिलाने से उक्त रोगों के अलावे गर्भस्राव एवं सूतिका रोग में भी लाभ होता है।

गर्भवती का पेट फूल जाने पर बच और लहसन को सिल पर पीसकर लुगदी बना, दूध में डालकर औंटा लें। पश्चात् उसमें थोड़ी-सी हींग और कालानमक मिलाकर पिलाने से अफरा दूर हो जाता है।

रक्तपित्त, प्यास, दाह और जलन पर निम्नलिखित योग से आशातीत लाभ होता है।

पंचमूल के साथ बकरी अथवा गाय का दूध सिद्ध कर लें। इस दवा से रुका हुआ पेशाब भी होने लगता है। विशेष विवरण के लिए अन्य आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ देखें।—(लेखक)।

गर्भस्राव एवं गर्भपात (Abortion & Miscariage)

गर्भावस्था में मैथुन करने, कूदने, दौड़ने, गर्म, उत्तेजक और अत्यन्त रूक्ष पदार्थों के सेवन तथा व्रत, शोक एवं भय आदि से गर्भस्राव एवं गर्भपात हो जाता है। चार मास तक का गर्भ गिरने पर गर्भस्राव और इससे अधिक अवधि को गर्भ गिरने को गर्भपात कहते हैं। ऊपर लिखे हुए कारणों से गर्भिणी को

बचाना परमाश्वयक है। अगर किसी प्रकार गर्भस्राव अथवा गर्भपात की नौबत आ पहुँचे तो निम्नलिखित चिकित्सा से लाभ उठाना चाहिये। कभी-कभी ऐसा भी मौका आ पहुँचता है कि गर्भिणी की जान बचाने के लिए गर्भपात कराना पड़ता है। प्याज और गाजर के बीज मिलाकर खिलाने से गर्भस्राव हो जाता है। १० ग्रेन कुनैन में समभाग गुड़ मिलाकर खिला देने से भी गर्भस्राव हो जाता है। गर्भस्राव कराना महापाप है। अतः केवल गर्भिणी के प्राण रक्षार्थ ही उक्त उपायों को काम में लाना चाहिये। बहुत-सी व्यभिचारिणी तथा वेश्या बच्चादानी निकलवा देती हैं, अथवा हाथी की लीद मधु के साथ सेवन करती हैं और भग में भी लगाती हैं जिसके फलस्वरूप बन्ध्या हो जाती हैं। लेकिन उक्त सभी उपाय स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर हैं। गर्भस्राव एवं गर्भपात नाशक नुस्खे—

जवासा, सरिवा, पद्माख, रास्ना, मुलैठी और कमल को गाय के दूध में पीस कर पिलाने से गर्भस्राव रुक जाता है। सिंघाड़ा, कमल केशर, दाख, कशेरू, मुलहठी और मिश्री को दूध के साथ पीसकर पिलाने से भी लाभ होता है। गूलर की जड़ की छाल का क्वाथ गर्भस्राव एवं गर्भपात को भी बन्द कर देता है। गर्भिणी को प्रत्येक मास में निम्नलिखित औषधियों को सेवन कराते रहने से सुखपूर्वक प्रसव होता है—

प्रथम मास में असगन्ध के कल्क को दूध के साथ, दूसरे मास में शतावर कल्क, तीसरे मास में प्रियंगूफूल कल्क, चौथे मास में मुलैठी और रास्ना कल्क, पाँचवें मास में—दोनों कटेरी का कल्क, छठवें मास में गोखरू और सहिजन कल्क और सप्तम में दास और मुलहठी कल्क द्वारा शुद्ध दूध पिलाना चाहिये। आठवें मास में निम्न-लिखित योग से काम लेना चाहिये—

कैथ, कटाई, बेल, परवल, ईख और कटेरी के ठण्ढे जल में पीसकर १ तोला प्रमाण कल्क, १२८ तोले जल एवं ३२ तोले दूध डालकर दूध सिद्धकर पिलाना चाहिये। ऊपर लिखी हुई सातों मास की औषधियों को दूध में न सिद्धकर केवल शीतल जल के साथ पिलाने से उस मास का गर्भस्राव एवं गर्भपात रुक जाता है। यों तो गर्भ रहते ही मैथुन करना बन्दकर देना चाहिये लेकिन ४ मास बाद तो गर्भ में जीव पड़ जाता है। अतः भोग करना शास्त्र एवं लोक दोनों के

विरुद्ध है। आठ मास के गर्भवती स्त्री से भोग करने पर अवश्य ही गर्भपात हो जाता है। अगर किसी प्रकार गर्भपात रुक भी जाता है तो गर्भस्थित बच्चा लंगड़ा हो जाता है।

नवें मास में ४ तोले दूध के साथ मुलहठी और असगन्ध को सेवन कराना चाहिये। आयुर्वेद शास्त्र में दशम, ग्यारहवें तथा बारहवें मास तक का यत्न भी लिखा है। लेकिन नौ मास में ही प्रसव का विधान है। अतः नौ मास तक उक्त योगों का सेवन कराना चाहिए।

प्रसव (Delivery)

प्रसव होने के लगभग २४ घण्टों पहले से ही योनि में पीड़ा तथा योनि से स्राव, निम्नांग का भारीपन, अंगों में शिथिलता, पेट, कमर, पेड़ू एवं हृदय में दर्द तथा बारम्बार पेशाब होने लगता है। इस हालत में जमीन पर बिस्तर डालकर उसी पर गर्भिणी को बैठा देना चाहिये तथा वहाँ पर अनुभवी स्त्रियों को रख देना चाहिये जो जच्चा को धैर्य एवं साहस बंधाती रहें। निम्नलिखित उपचारों से बच्चा शीघ्र पैदा हो जाता है—

कोरे कागज पर चक्रव्यूह बनाकर गर्भिणी को दिखाना चाहिये। ओगा की जड़ को योनि में रखने से बच्चा पैदा हो जाता है। रीठे फलों की छाल की वर्ती बनाकर योनि में रखने से शीघ्र प्रसव होता है। मनुष्य के सिर के बाल की भस्म को गर्भिणी के सिर पर मलने से शीघ्र प्रसव हो जाता है। अडूसे की जड़ को पीसकर योनि पर लेप करने अथवा मनुष्य के सिर के बाल और साँप की केंचुल की योनि में धूनी देने से भी प्रसव होता है। हाथ पैर के नाखूनों और दाढ़ी पर थूहर का दूध लगाने से भी शीघ्र प्रसव हो जाता है। रसोईघर का धुआँ पिलाने से भी सुखपूर्वक प्रसव हो जाता है।

मूढ़ गर्भ—श्रीसुश्रुताचार्यजी ने ८ प्रकार की मूढ़ गर्भ गति का वर्णन किया है। लेकिन निम्नलिखित ४ गतियाँ प्रमुख हैं—

कीलक मूढ़ गर्भ—जिस बच्चे का हाथ, पाँव और माथा योनि में आकर अटक जाता है उसे "कीलक" कहते हैं।

प्रतिखुर मूढ़गर्भ – दोनों हाथ और दोनों पाँव बाहर निकल आने वाले को "प्रतिखुर" कहते हैं।

बीजक मूढ़गर्भ—दोनों हाथों के बीच में सिर होकर बाहर निकल आता है उसको "बीजक" कहते हैं।

परिध मूढ़गर्भ—दरवाजे की अग ल-बगल की तरह योनि में अटकने पर 'परिध' कहते हैं।

चिकित्सा—श्रीसुश्रुताचार्य ने मूढ़गर्भ के विषय में लिखा है कि बहुत सोच-समझकर मूढ़गर्भ की चिकित्सा करनी चाहिए—शस्त्रकर्म के विषय में गर्भिणी के पति एवं राजा की स्वीकृति से बालक निकालना चाहिए। अगर बालक जीवित हो तब तो उसको जीवित ही निकालना चाहिए। यह कार्य चतुर धाय द्वारा सुन्दर ढंग से होनेवाला है। चूँकि स्त्री को स्त्री से लज्जा नहीं होती। अतः चतुर धाय को अपने हाथों में घी चुपड़ कर योनि के अन्दर बच्चे को सीधा कर निकाल लेना चाहिए। बच्चे की मृत्यु हो जाने पर शल्यकर्म द्वारा काटकर शीघ्र निकाल देना चाहिए। दुःख है आज भारतवर्ष की आध्यात्मिक भावनायें भूतवाद के प्रपञ्च में विलीन होती जा रही हैं।

आयुर्वेद शास्त्र को ही देखा जाय! कौमार भृत्य आदि विषयों पर परदा पड़ता जा रहा है। रेडियो की ध्वनि पर हम आश्चर्यचकित होते हुए मिस्टर मार्कोनी की सराहनीय सूझ पर लट्टू हैं लेकिन अपने पूर्वजों की आत्मनिर्भरता, गूढ़तम कल्पना, आकाशवाणी, वाक् सिद्धि एवं अतुल पराक्रम को भूलते जा रहे हैं। महर्षि सुश्रुत के गर्भमोक्षण मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल पिलाने से बहुत जल्द प्रसव हो जाता है। मन्त्र निम्न प्रकार है—

मुक्ताः षोशविपाशाश्च कृः सूर्येण रश्मयः।
मुक्ताः सर्वं भयद्गर्भ एह्येहि माचिरं स्वाहा॥

इस मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जलपान के अलावे प्रसव प्रकरण में लिखे प्रयत्नों से भी काम लेना चाहिए। प्रसव हो जाने पर बच्चा और जच्चा को बला तैल की मालिश करनी चाहिए।

बला तेल—खरैंटी, दशमूल, जौ, बेर और कुल्थी का काढ़ा, ८-८ भाग और गाय का दूध भी ८ भाग लेकर एक भाग तिल का तैल लेवें। अगर राल सेंधा-

नमक, सरल, निर्यास, देवदार, मजीठ, चन्दन, कूट, इलायची, तगर, मेदा, जटामासी, सिलारस, पत्रज, तगर, ककोली, सरिवा, बच, शतावरी, असगन्ध, सोवा और सांठी समभाग लेकर लुगदी तैयार कर लें। इन सभी दवाओं को तैल की मात्रा से चौथाई लेना चाहिए। उक्त औषधियों के सिद्ध तैल से प्रसूता के सभी विकार नष्ट हो जाते हैं।

प्रसूता रोग (Puerperal disease)

बच्चा पैदा होने से डेढ़ मास अथवा रजोदर्शन समय पर्यन्त जच्चा को प्रसूता कहते हैं। इस अवधि में प्रसूता को जो रोग होते हैं उन्हें सूतिका रोग कहते हैं। माधव निदान में लिखा है कि—

अंगमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोग लक्षणम् ॥

अर्थात्—अंग टूटने जैसा दर्द, ज्वर, कम्प, प्यास, शरीर का भारीपन, शोथ, शूल एवं अतिसार ये सूतिका रोग के लक्षण हैं।

चिकित्सा—प्रसूता रोग वात प्रधान रोग है। अतः वातनाशक औषधियों से लाभ होता है। दशमूलादि क्वाथ, घृत एवं अरिष्ट विशेष लाभप्रद हैं।

दशमूलारिष्ट—शलपर्णी, पृष्णपर्णी, स्योनाक, गम्भारी की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बेल की छाल और पाटला प्रत्येक २५-२५ तोले, चीता और पुष्करमूल भी २५-२५ तोले तथा लोध्र और गूचं २०-२० तोले, आंवला सोलह पल, धमासा १२ पल, गिलोय १०० पल, खैरसार ८ पल, इन्द्रायन ५ पल, विजयसार ४पल, मजीठ, मुलैठी, कूट, कैथ, देवदारू, बायबिडंग, चव्य, लोध्र, मार्गी, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली, काला जीरा, पीपल, सुपारी, पद्माख, कपूर, प्रियंगू, सरिवा, जटामासी, रेणुका, नागकेशर, निशोथ, हल्दी, रास्ना, मेढ़ासिंगी, पुनर्नवा:, शतावर, इन्द्र जौ और नागरमोथा प्रत्येक १०-१० तोला लें, जौ कूटकर उसके चार गुने जल में औटा चौथाई काढ़ा तैयार कर लें। उस छाने हुए क्वाथ में— मुनक्का ६० पल, शहद ३० पल, धाय का फूल ३० पल, गुड़ ४०० पल और पीपल, सफेद चन्दन, सुगन्धवाला, जायफल, लौंग, दालचीनी, इलायची, तेजपात

नागकेशर दो-दो पल एवं कस्तूरी सवा तोले मिलाकर किसी चिकने पात्र में मुख बन्द कर रखें। मात्रा एक तोला से २ तोले तक। इस दवा से प्रसूता रोग के अलावे अन्य कई एक रोग नष्ट हो जाते हैं।

सूतिकारिरस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, अभ्रक भस्म और ताम्र भस्म को समभाग लेकर मण्डूकपर्णी के रस में एक दिन पर्यन्त खरल करके दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। असुपान—त्रिकटु चूर्ण और दूध (भै० र०)

सूतिका विनोदरस—अभ्रक भस्म ६ माशे, शुद्ध तूतिया २ तोला, सोंठ १ तोला, काली मिर्च २ तोला, पीपल ३ तोला और जावित्री २ तोला को एकत्र मिलाकर एक पहर सम्भालू के रस में घोंटकर दो रत्ती प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। यह प्रसूता रोग की प्रसिद्ध दवा है। अनुपान—मधु, दूध अथवा दशमूलारिष्ट।

प्रताप लंकेश्वररस—शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, अभ्रक भस्म और शुद्ध बच्छ-नाग एक-एक तोला, काली मिर्च का चूर्ण ३ तोला, लौहभस्म ४ तोला, शंख भस्म ८ तोला, अरने उपलों की भस्म १६ तोला लेवें। पहले पारद और गंधक की कज्जली तैयार करने के पश्चात उक्त औषधियों का चूर्ण मिलाकर अच्छी तरह घोंट लेवें। मात्रा–दो से चार रत्ती। अनुपान—अदरक का रस। इस दवा से प्रसूता एवं सन्निपात के अलावे भयानक वात व्याधि में भी लाभ होता है।

पञ्चजीरकपाक—सफेद जीरा, काला जीरा, सोया, सौंफ, अजमोद, अजावायन, धनियाँ, मेंथी, सोंठ, पीपर, पीपरामूल, चीत, हाऊबेर, बेर का चूर्ण, कूट और कबीला प्रत्येक चार-चार तोले लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लें। पश्चात गुड़ ४०० तोला, गो-दुग्ध १२८ तोला और घृत सोलह तोले लेकर उक्त दवाओं को मिला, पाक तैयार कर लें। यह सूतिका रोग की महौषधि है। सौभाग्यवटी से भी लाभ होता है।

सुपारीपाक—सुपारी ४० तोला, घृत ४० तोला, मिश्री तीन सेर दो छटाँक, दूध ६ सेर, आमला २० तोला, शतावर २० तोला, नागकेशर, नागरमोथा, सफेद चन्दन, सोंठ, काली मिर्चं, पीपल, आँवला, चिरौंजी, बेर की मींगी, लजालू, दालचीनी, तेजपात, इलायची, स्याहजीरा, सफेद जीरा, सिंघाड़ा, बंसलोचन,

जावित्री, लौंग और धनियाँ प्रत्येक का चूर्ण सवा तोले। पहले सुपारी का बारीक चूर्ण दूध में पीसकर दूध में डाल पकावें। खोवा तैयार हो जाने पर घी में भून लेने के पश्चात् मिश्री के सिवा अन्य द्रव्यों को मिला लें। पश्चात् मिश्री की चासनी बनाकर उसमें सभी दवाओं को पाक तैयार कर लें। मात्रा दो तोले सुबह तथा शाम को। इस दवा से प्रसूता के अलावे प्रदर, प्रमेह अम्लपित्त, मन्दाग्नि एवं रक्तस्राव आदि उपद्रवों का समूल नाश हो जाता है तथा शक्ति, तेज एवं बल की वृद्धि होती है।

साधारण प्रयोग—पंचमूल के क्वाथ में अग्नि में तपाये हुए लौह को बुझाकर सेवन कराने से लाभ होता है। सोंठ, काकड़ा सिंगी और पीपलामूल के क्वाथ से भी लाभ होता है। गरीब रोगियों के लिए दशमूल का क्वाथ उत्तम दवा है।

सूतिका रोग में उक्त योगों से लाभ उठाना चाहिये। गँवारू दवा तथा पेटेण्ट औषधियों से कोई विशेष लाभ नहीं होता। चूँकि गंवार तो सुनी हुई बात (जो अप्रमाणित भी हो सकती हैं) को ही सर्वाङ्गपूर्ण समझता है। पेटेण्ट दवाओं में काम के पहले दाम का प्रश्न आता है। एक पेटेण्ट दवा देखिये—

इस दवा का नाम "सुन्दरी साथी" है। लागत से आठ गुना अधिक मूल्य रखा गया है। योग निम्न प्रकार है—अशोकारिष्ट दो औंस, आयल सेण्डल फ्लेवा १५ मिनिम, कोपेवा १५ मिनिम, म्यूसिलेज गम एकेशिया १ ड्राम, टिंचर कैंथरेडिस ५ मिनिम, लाइकर फेरो पर नाइट्रोसी १० मिनिम और कैम्फर १ औंस। उक्त सभी औषधियों को एक-चार औंस की खाली शीशी में भर लें। दवा के बाद जितना जल अटे शीशी में भर लें। इस दवा के बारे में लिखा गया है कि इससे प्रसूता, प्रदर, हिस्टीरिया, कमर दर्द तथा पेशाब सम्बन्धी रोग अच्छे हो जाते हैं। (डाक्टर रामकृष्ण)। प्रसूता रोग में रोगानुसार पथ्य परहेज रखना चाहिये। वायुनाशक क्रिया एवं गर्म जल आदि विशेष लाभप्रद हैं।

———

स्तन-रोग

वातादि दोष गर्भवती एवं प्रसूता के दुग्धस्थान या अदुग्धस्थान में स्थित हो रक्त को बिगाड़ देते हैं। फलस्वरूप—वातज, पित्तज, कफज,, सन्निपातज एवं रक्तज इस प्रकार पाँच तरह के स्तन-रोग पैदा कर देते हैं। दोषानुसार दोष-शामक औषधियों के लेप तथा क्वाथादि का सेवन करना लाभप्रद है।

स्तन में व्रण होने पर—सिरस की छाल, मुलहठी, तगर, लालचन्दन, बड़ी इलायची के दाने, जटामासी, हल्दी, दारुहल्दी, कूट और नेत्रवाला (इसको दशांग लेप कहते हैं) का लेप करें। जोंक लगाना भी लाभप्रद है। त्रिफला के क्वाथ से धोने से भी लाभ होता है। विशेष विवरण के लिए आयुर्वेद विषयक अन्य ग्रन्थ देखें।

स्वप्नदोष

ब्रह्मचर्य एवं आठ प्रकार के मैथुनों का वर्णन पहले ही हो चुका है। मैथुन के निम्नलिखित आठ अंग कहलाते हैं—स्मरण, वर्णन, केलि, दर्शन, एकान्तवार्ता, दृढ़ निश्चय, उत्साह एवं मैथुन। इन्द्रिय आदि का वर्णन भी पहले हो ही चुका है। इन्द्रियों का राजा "मन" है और उस मन की गति के अनुकूल ही इन्द्रियों के कार्य होते हैं। मन को अत्यन्त चंचल बतलाया गया है। उस चंचल मन की एकाग्रता के लिए ब्रह्मचर्य को परमावश्यक बतलाया गया है। "काम" को भी मनोज कहा गया है। अतः उस इन्द्रियराज "मन" के डवाँडोल होने पर वीर्य में चंचलता का प्रादुर्भाव अनायास ही हो जाता है।

स्वप्नावस्था में वीर्यस्खलन को स्वप्नदोष कहते हैं। स्वप्न के विषय में भी इस पुस्तक में पहले ही संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है। अथवा वेद में लिखा है—हे स्वप्न! यद्यपि न तू जीवितजागृत दशा है और न सुषुप्तावस्था ही है तो भी इन्द्रियगण तेरी अवधि में आत्मा के अन्दर छिपे रहते हैं। वेद में बुरे स्वप्न से रक्षार्थ प्रार्थना का भी विवरण प्राप्त है। लेकिन वेद में स्वप्न को नपुंसक बतलाया गया है। नपुन्सक पर विजय प्राप्त करना बिल्कुल आसान है लेकिन

उसका कारण स्वरूप मन है। अतः मन पर विजय प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य एवं संयम की विशेष आवश्यकता है।

स्वप्नदोष बहुत ही पुराना रोग है। इस रोग का वर्णन वेद एवं मनुस्मृति में भी आया है। आज के युग में तो इसकी प्रबलता चरम सीमा पर पहुँच चुकी है। अंग्रेजी विद्यालय एवं महाविद्यालय की बात तो अलग रहे, गुरुकुल जैसी संस्था तक में भी इसका प्रचण्ड प्रभाव देखने में आता है। चिकित्साग्रन्थों में स्वप्नदोष रोग के कारणस्वरूप निम्न कारणों को बतलाया गया है।

अश्लील गाना सुनाना, अश्लील नाटक, चित्र एवं सिनेमा देखना, विशेष खट्टा-चपंरा, गर्म एवं नशायुक्त तथा बाजीकरण औषधियों का विशेष सेवन करना, वेश्यागमन, हस्तमैथुन, गुदामैथुन एवं अत्यधिक मैथुन तथा मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना आदि…।

स्वप्नदोष स्त्री को भी होता है। भावप्रकाश में इसका स्पष्ट वर्णन आया है। चूंकि "मन" केवल पुरुष में ही नहीं बल्कि स्त्री में भी रहता है। पुरुष की भांति स्त्री में कामवासना का स्थान है बल्कि पुरुष से ८ गुना अधिक काम की मात्रा स्त्री में है। पुरुष की भांति स्त्री भी चुम्बनादि करती है। इतना ही नहीं बल्कि स्त्री के हस्तमैथुन का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त है। भगनासा में लगातार देर तक रगड़ लगते रहने पर रजः स्खलित हो जाता है। आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है कि—कभी-कभी पुरुष के साथ बिना प्रसंग के भी गर्भस्थित हो जाता है। वह गर्भ रजःस्खलन होकर के ही होता है लेकिन होता है केवल मांस के एक लोथड़ा के आकार का ही। चूंकि हड्डी आदि पिता के वीर्य का अंश है। अतः वीर्य रहित केवक रजद्वारा गर्भ हड्डी आदि से रहित एक मांस पिण्ड जैसा ही होकर रह जाता है।

यद्यपि स्वप्नदोष रोग संक्रामक नहीं है लेकिन इसकी व्यापकता देखकर इसको संक्रामक से भी भयंकर कहा जा सकता है। यह संगत एवं अपनी भूल का सजीव प्रतीक है।

यत्न—इस रोग में दवा सेवन करने से संयम रखने की विशेष आवश्यकता पड़ती है। यह रोग होने पर रोगी को कौन कहे अनाड़ी चिकित्सक भी बाजीकरण औषधियों का प्रयोग करते हैं जिसके चलते लाभ के बदले भयानक हानि

होती है। संयम एवं ब्रह्मचर्य के अलावे स्वप्नदोष के बतलाये हुए कारणों से बचने के साथ-साथ शुद्ध वायु एवं उगते हुए सूर्यरश्मि के सेवन से भी लाभ होता है। शीर्षासन एवं प्राणायाम से भी बहुत ज्यादा लाभ होता है। लेकिन उक्त विषयक चिकित्सा तद्विषयक किसी विज्ञजन की देख-रेख में ही करना उचित कहा जा सकता है।

आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के मतानुकूल स्वर्णबंग एवं प्रबाल आदि के अलावे आमला, शिलाजीत, गूचं, शतावर, गोखरू, कँवाच के बीज, बीज बन्द, मुसली, सेमर का मुसला और बिदारी कंद आदि औषधियाँ विशेष रूप से काम आती हैं। स्वप्नदोष पर कुछ अनुभूत योग—

आमला और गिलोय के समभाग स्वरस में दोनों के बराबर मधु मिलाकर सेवन करावें। मात्रा २ तोले सुबह तथा शाम। हल्दी का स्वरस भी शहद के साथ सेवन कराने से लाभ होता है। सहदेई की जड़ को गोदूध के साथ पीसकर सेवन कराने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। त्रिफला एवं कबाबचीनी के चूर्ण को मधु के साथ सेवन कराने से भी आशातीत फल होता है। कौंच के बीज को पानी में भिगोकर छिलका उतारकर चूर्ण बना, मधु के साथ सेवन करावें। उक्त प्रकार इमली के बीज का चूर्ण बनाकर मधु अथवा आमले के स्वरस के साथ सेवन कराना लाभप्रद है। शुद्ध शिलाजीत मधु के साथ सेवन कराने से भी फायदा होता है। प्रवालपिष्टी १ रत्ती और बंगभस्म एक रत्ती मिलाकर दो मात्रा दवा तैयार कर दोनों शाम मधु अथवा मक्खन के साथ सेवन करावें। केवल त्रिबंग भस्म को भी मधु के साथ सेवन कराने से लाभ होता है। उक्त दवाओं के अलावे नारिकेलासव, कामदेव चूर्ण, शुक्र, मातृका वटी, चन्द्रप्रभा वटी, मकरध्वजवटी, वृहत बंगेश्वर रस, पूर्णचन्द्र रस और बसंत कुसुमाकर रस आदि औषधियों का प्रयोग रामबाण जैसा सफल सिद्ध होता है।

———

नपुंसकता (Impotence)

कामशक्ति का विनाश हो जाना ही नपुंसक रोग कहलाता है। इस रोग को क्लीवता, षंड एवं नामर्दी भी कहते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में आसेक्य सुगधि, कुम्भीक, ईर्ष्यक, षंड, वातादि दोषिक तथा मनोविकारिक इस तरह से सात प्रकार के

नपुंसक बतलाये गये हैं। जिनमें प्रथम से पांचवें तक जन्मकाल से ही होते हैं तथा वातादि दोषिक एवं मनोविकारिक जीवनकाल के रोग हैं। जन्मकाल से ही होने-वाले पाँच नपुंसक—

आसेक्य—इसको मुखयोनि नपुंसक भी कहते हैं।

उक्त प्रकार का मनुष्य मुख मैथुन करा, वीर्य पी जाने के पश्चात् मैथुन करने में समर्थ हो जाता है अर्थात् उक्त प्रक्रिया के पश्चात् उसकी लिंगेन्द्रिय में चैतन्यता आती है।

सौगन्धिक—इसको नासायोनि भी कहते हैं।

जो मनुष्य दुर्गन्धयुक्त योनि से पैदा होता है उसको योनि तथा लिंगेन्द्रिय को सूंघने पर मैथुन करने की शक्ति आती है।

कुम्भीक—गुदायोनि।

कुम्भीक नपुंसक अपनी गुदा में मैथुन कराने के पश्चात् मैथुन करने योग्य होता है।

ईर्ष्यक—दृष्टियोनि।

दूसरे को मैथुन करता हुआ देखकर प्रभावित होने के पश्चात् मैथुन करने के लिए सशक्त होता है।

षंड—षंड नपुंसक हिजड़ा को कहते हैं अर्थात् जो स्त्री पुरुष जन्मकाल से ही मैथुन के आयोग होते हैं। मैथुन के समय स्त्री नीचे और पुरुष ऊपर रह कर कामवासना की तृप्ति करते हैं। अगर पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर होकर मैथुन में प्रवृत्त हों और उस समय गर्भाधान हो जाय तो उक्त षंड नपुंसक सन्तान होती है। उक्त प्रकार विपरीत ढंग से मैथुन करने पर पुत्र पैदा हो जाने पर वह स्त्री के जैसा आचरण रखने वाला और पुत्री पैदा होने पर वह पुरुष जैसा आचरण रखने वाली होती है। लेकिन उक्त प्रकार के पुत्र और पुत्री मैथुन के लिए बिल्कुल अयोग्य होते हैं।

उक्त पाँच प्रकार के जन्म नपुंसक के अलावे वातादि दोषिक एवं मनोविकारिक नपुंसकता निम्नलिखित ६ प्रकार के नपुंसक होते हैं।

मानस—मैथुन के समय शोक, भय, क्रोध तथा लज्जा आदि कारणों से ग्लानि होकर लिंगेन्द्रिय में शिथिलता आ जाने को मानस-नपुंसक कहते हैं।

पित्तज---पित्त विकृति के कारण नपुंसकता होने पर पित्तज नपुंसक कहते हैं।

शुक्रक्षयज—अत्यधिक शुक्रक्षय होने के कारण शुक्रक्षयज नपुंसक कहते हैं।

लिंगरोगज— लिंग में उपदंशादि रोग होने के कारण नपुंसक होने पर लिंग-रोगज नपुंसक कहते हैं।

वीर्य शिराच्छेदज—वीर्यवाही शिरा में छिद्र हो जाने के कारण वीर्य शिराच्छेदज नपुंसक कहते हैं। और

शुक्र स्तम्भज—कामवेग को बलपूर्वक रोकने पर शुक्र स्तम्भज नपुंसक रोग हो जाता है।

यत्न—जन्म नपुंसक के तो लक्षण में ही सभी बातें आ गयी हैं। वातादि दोषज एवं मनोविकारिक नपुंसक के उपचार का संक्षिप्त विवरण—

दोनों शाम सुन्दर पुष्प वाटिका में टहलने, संगीत एवं युवा स्त्री की मनोहर वाणी श्रवण करने, माला, चंदन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग करने तथा दूध, मलाई, मिश्री, आसव, ऊर्द, आमरस, कस्तूरी, मृगांक एवं चन्द्रोदय आदि सेवन करने से शक्ति जागृत होती है।

(क) सूखे बिदारी कंद को बिदारीकंद के स्वरस की २१ भावना देकर सेवन कराने से आश्चर्यजनक लाभ होता है। उक्त प्रकार से आमले को भी भावना देकर काम में लाने से पूर्ण लाभ होता है।

(ख) शूकर की मेद और घी को एकदिल करके लिङ्ग पर मलने से भी लाभ होता है।

(ग) गोखरू, असगन्ध, तालमखाना, शतावर, कौंच बीच, श्वेतमुसली, मुलइठी, खरैंटी के बीज और गंगेरन की छाल समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लें। उक्त चूर्ण के बराबर मिश्री मिलाकर ४० दिनों तक दूध के साथ सेवन करावें।

वानरी गुटिका—कौंच बीज एक सेर लेकर एक सेर गो-दूध में मंद आँच पर पका लेने के पश्चात छिलका उतार कर बारीक चूर्ण बना लेवें।

———

बाल-रोग (Diseases of the Infant)

आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है—

बाले विवर्धते श्लेष्मा, माध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्टं वर्धते वायुः वृद्धे तद् वीक्ष्य योजयेत्॥

अतः इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बाल्यकाल में कफ का प्रकोप अधिक होता है और वायु तथा पित्त मन्द शक्ति वाले होते हैं। आयुर्वेद शास्त्र में दस परीक्षाओं में "वय" परीक्षा का स्थान भी महत्वपूर्ण समझा जाता है। बात असल यह है कि बाल्यावस्था में अग्न्याशय एवं यकृत आदि अवयव पूर्णरूपेण पुष्ट नहीं हुए रहते हैं। अतः वात एवं पित्त की प्राकृत क्रियायें मन्द हुआ करती हैं। उक्त कारणों के फलस्वरूप पाचन-क्रिया भी बिल्कुल साधारण होती है।

महाप्रभु की महिमा अपार है। उस हालत में आपकी दया से माता के दूध जैसा दुर्लभ पदार्थं उपलब्ध होता है। माता के दुग्धाभाव में गोमाता अथवा बकरी के दूध को उपयोगी बतलाया गया है। गोदुग्ध तो केवल बच्चे के लिये ही नहीं बल्कि वयस्क एवं वृद्धों के लिये भी परमोपयोगी पदार्थं है। लेकिन वर्तमान युग में मानव समाज के लिये गोदूध वाली बात कल्पना जैसी प्रतीत होती है। आज के युग में गोवंश का जो आदर है, प्रायः सर्वविदित ही है। रामराज्य की बात तो देवयुग की वार्ता है। अगर चन्द्रगुप्त का राज्यकाल भी छोड़ दिया जाय तो अलाउद्दीन के राज्यकाल में (सन् १२९५ से १३१६ तक) भी एक रुपया ढाई आने का एक मन घी मिलता था। उससे भी बहुत इधर अर्थात् अकबर बादशाह के जमाने में (सन् १५५६ से १६०५ तक) तीन रुपये १५ आने में एक मन घी मिलता था। दुर्भाग्यवश देश में गोधन की ह्रासगति द्रुत वेग से बढ़ चली और गो का स्थान महिषासुर की सन्तान को प्राप्त होने लगा। भैंस के दूध एवं दही आदि के गुणों के विषय में तो प्रायः सभी पढ़े-लिखे लोग जानते ही हैं। कुछ वर्ष पहले भैंस के दूध एवं दही आदि का ही प्रश्न था लेकिन आज तो विभिन्न प्रकार के सम्मिश्रणों द्वारा जमाया हुआ घी एवं कृत्रिम दुग्धचूर्णों से समस्त वायुमण्डल थर्रा उठा है।

मनुष्य को दीर्घायु बनकर संसार में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए विशुद्ध अन्न, जल, वायु, वस्त्रादि एवं दुग्धादि की नितान्त आवश्यकता होती है। बालकों के विषय में तो साफ लिखा है कि, नौ मास तक केवल दूध पिला कर ही बालक को रखना चाहिए। बालक तीन प्रकार के होते हैं—

१—माता के दूध पर निर्वाह करने वाले।

२—दूध तथा अन्न पर निर्वाह करने वाले और

३—अन्न पर निर्वाह करने वाले

दुग्धाहारी बच्चों का स्वास्थ्य माता पर ही निर्भर करता है। माता का दूध विशुद्ध होने पर बच्चा रोगी नहीं हो सकता है। अकसर देखने में आता है कि माता के खान-पान से बच्चों के पेट में नाना प्रकार की गड़बड़ी पैदा हो जाती है तथा ज्वरादि रोग भी सहज ही धर दबाते हैं।

आयुर्वेद शास्त्र में ही नहीं बल्कि अन्य चिकित्सा शास्त्रों में निदान का स्थान महत्वपूर्ण समझा जाता है। देखने एवं स्पर्शादि के पश्चात् प्रश्न द्वारा भी निदान में पूर्ण सहायता मिलती है। मगर जो बालक बोलने अर्थात् अपना दुःख बतलाने में असमर्थ होते हैं उनकी चेष्टानुकुल रोगों का निदान किया जाता है।

बच्चा जिस अंग को बार-बार छूता है अथवा जिस अंग को छूने या दबाने से रोने लगता है उस स्थान पर दर्द समझा जाता है। तृष्णा लगने पर बालक की जीभ बाहर निकल जाती है। प्यास लगना, पेशाब बन्द होना तथा बेहोशी होने पर पेड़ू में दर्द समझा जाता है। सिर में दर्द होने पर बच्चा आँख बन्द कर लेता है तथा माथा इधर-उधर झुका देता है। होठ काटने एवं मुट्ठी मलने पर हृदय पीड़ा और पाखाना रुककर पेट में आवाज होने पर उदर विकार समझा जाता है। श्वास लेते समय नाक के छिद्र बड़े हो जाने और नाक हिलने पर सर्दी एवं खाँसी के कारण श्वास में घोर कष्ट समझा जाता है। रात अथवा दिन में सोये हुए बालक को चौंककर उठ जाने तथा नाक एवं गुदा खुजलाने पर कृमिदोष समझा जाता है। रोते हुए बालक के पाँव मलने एवं गुदा पर हाथ रखने से चिन्नग समझा जाता है। उजला पेशाब होने पर कृमिदोष अथवा पितृमेह समझा जाता है। अगर स्वस्थ बालक बराबर रोने लग जाय तो उनके शरीर मात्र में

पीड़ा समझनी चाहिए। विस्तृत विवरण के लिए माधवनिदान एवं सुश्रुतादि ग्रन्थ देखें। (लेखक)

बच्चों को प्रायः आधी से अधिक बीमारियाँ केवल अजीर्ण के कारण ही हुआ करती हैं। अतः पहले ही लिखा जा चुका है कि बच्चों को विशुद्ध दुग्ध ही पिलाना श्रेयस्कर है। माता के दूध में वातादि दोष पैदा हो जाने पर बालक को पारगर्भिक (सूखा रोग) और कुकूणक आदि रोग धर दबाते हैं।

ज्वरादि रोग जो सयानों को होते हैं वे ही रोग बच्चों को भी होते हैं लेकिन कुछ खास ऐसे भी रोग हैं जो केवल बच्चों को ही होते हैं जैसे—तालु कंटक, महापद्मक, कुकूणक, तुण्डी, गुदपाक, अहिपूतना, अजगल्ली, पारिगर्भिक एवं दन्तोद्भेद।

तालुकंटक – प्रकुपित कफ तालु के मांस में कंटक रोग पैदा करता है, फलस्वरूप तलुआ नीचे लटक जाता है। यह रोग होने पर बच्चा दूध पीने में असमर्थ-प्राय हो जाता है। प्यास के अलावे आँख, गला और मुँह में पीड़ा तथा कै एवं दस्त आदि उपद्रव पैदा हो जाते हैं। इस रोग में हरड़, बच और मीठा कूट माँ से दूध के साथ सेवन कराना चाहिए।

महापद्मक—यह कमल सदृश विसंप रोग है। विसर्प रोग ८ प्रकार के होते हैं लेकिन उक्त प्रकार का बच्चों को होने वाला विसर्प त्रिदोषज होने के कारण प्राणहारक होता है। सुश्रुत ग्रन्थ का विसर्प प्रकरण देखें। (लेखक)

कुकूणक—माता के दूध-दोष के कारण बच्चों की आँखों में खुजली तथा अत्यधिक जलस्राव होता है। यह रोग होने पर बच्चा आँख बन्द करके रखता है तथा अपनी नाक एवं आँखों को मलता रहता है। त्रिफला, लोध और पुनर्नवा को पीसकर पलकों पर लेप करना हितकर है।

तुण्डी—दूषित वायु के कारण नाभि फूल जाती है और उसमें पीड़ा होने लगती है, चन्दन का बारीक चूर्ण नाभि पर बुरकने से लाभ होता है।

गुदपाक—पित्तदोष के कारण गुदा पक जाती है उसको गुदपाक कहते हैं। इसमें शंख, मुलहठी और रसौत को पानी में पीस कर लगाने से पूर्ण लाभ होता है।

अहिपूतना—इसमें बच्चा की गुदा बराबर मलयुक्त एवं लाल रहती है। गुदा को धोने, पोंछने या सेंकने पर खुजलाकर फोड़े उठ जाते हैं जिनसे पनछा बहता रहता है। शंख, सफेद सुर्मा और मुलैठी को जल में पीसकर लेप करने से पूर्ण लाभ होता है।

अजगल्ली रोग—इसमें चिकनी तथा मूँगे जैसी लाल-लाल दर्द रहित फुन्सियाँ निकलती हैं। मुलैठी, दोनों कमल एवं शंख की नाभि को पीसकर लगाने तथा पंच क्षीर वृक्ष की छालों का काढ़ा सेवन कराने से लाभ होता है।

पारिगर्भिक—गर्भवती माता का दूध बालकों के लिए बहुत ही अनिष्टकारक होता है। वैसा दूध का-सा रोग, कृशता, अरुचि, उल्टी, मन्दाग्नि, दस्त एवं तन्द्रा आदि उपद्रव पैदा करता है। रोगानुकूल नुस्खे इसी प्रकरण में आगे देखें।

दन्तोद्भेद—बच्चों के दाँत निकलते समय कै, दस्त, ज्वर, सिर एवं नेत्र दर्द तथा चिड़चिड़ापन आदि अनेक प्रकार के उपद्रवों का प्रादुर्भाव होता है। इस रोग पर लिखे योग इसी प्रकरण में आगे देखें।

बच्चों का पसली चलना तथा कृमिजन्य दोष के अलावे स्कन्द ग्रह, स्कंदापस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीत पूतना, मुखमंडिका एवं नैगमेय ये नौ-ग्रह दोष होते हैं। एलोपैथिक चिकित्सा जगत में आज उक्त ग्रहों के विभिन्न लक्षणों का भिन्न-भिन्न नामकरण किया जा रहा है जिसको अनुसंधान कहा जाता है। इस प्रकार के विषयों पर विस्तृत विवरण प्राप्त होते हुए भी पूर्णरूपेण अध्ययन एवं मनन से विमुख होने के कारण आयुर्वेद जगत में अनुसंधान की विशेष आवश्यकता बतलायी जा रही है।

पसली चलना डब्बा रोग (Bronchopneumonia)

यह श्वासनली का रोग है। श्वासनलियों में शोथ हो जाने के साथ ही कफ भी भर जाता है। सर्दी, खाँसी, श्वास और पेट में पसलियों के निम्न भाग लम्बी श्वास लेने पर गड्ढा जैसा दिखलाई पड़ने लगता है। ज्वर की तीव्रता के कारण कभी-कभी मूर्छा एवं बेहोशी भी होती है। वक्षपरीक्षक यन्त्र द्वारा सुनने पर कफ की घड़घड़ाहट के अलावे विभिन्न प्रकार की आवाज सुनाई पड़ती है।

चिकित्सा—सयानों की तरह बालकों के दोष एवं दूष्य तथा अन्य रोगादि भी होते हैं। अतः ऊपर लिखे हुए बाल रोग एवं बालग्रह दोष के अलावे अन्य ज्वरादि रोगों में सयानों को दी जानेवाली दवा का ही प्रयोग करना चाहिये। हाँ, बालकों के लिए बहुत कम मात्रा होनी चाहिये।

केवल दूध पर निर्वाह करनेवाले बालकों को दवा खिलाने के बजाय उनकी माँ अथवा धाय को ही दवा खिलाना उत्तम समझा जाता है। लेकिन माता अथवा धाय के दूध के साथ भी दवा के प्रयोग का विधि व विधान देखने में आता है। श्रीसुश्रुताचार्य जी का कहना है कि जिस दवा की बालक को सेवन करने की आवश्यकता हो उसको अच्छी तरह से घिसकर माँ अथवा धाय के स्तन पर लेप कर देना चाहिये। ऐसा करने से दूध के साथ मिलकर लेप की हुई दवा बच्चा के पेट में जाकर अपना कार्य करेगी। श्री बंगसेन का मत है कि दुग्धाहारी बच्चे को दवा नहीं देकर मां एवं धाय को ही दवा देनी चाहिये।

पसली चलने पर नारायण तैल अथवा गाय का पुराना घी और नमक की मालिश विशेष लाभप्रद होती है। अगर श्वास अधिक आता हो तो वाष्प स्वेद करना श्रेयस्कर होता है। रसौषधि में श्वासकुठार, आनन्दभैरव एवं कस्तूरी भैरवरस आदि इसके लिए विशेष उपयोगी हैं। अरूस, शतावर एवं अदरख के रस को सुसुम करके चटावें अथवा थूहर के पत्तों का पुटपाक विधि से निकाला हुआ रस, भूनी हींग एवं सोंचर नमक मिलाकर सेवन करावें। बबूल की गोंद, लाहौरी नमक तथा अनार की छाल १-१ भाग और बहेरा २ भाग लेकर सभी औषधियों को एक दिल करके मूँग प्रमाण गोलियाँ तैयार कर लें। आवश्यकतानुसार दो अथवा तीन बार रोज सेवन करावें। काकड़ासिंगी और अतीस को भी शहद के साथ चटाने से लाभ होता है।

इस रोग में मृगश्रृङ्ग बहुतों को ही उपयोगी बतलाया गया है। मृगश्रृंग को पत्थर पर रगड़कर सुसुम लेप देने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। श्रृंगभस्म को शहद के साथ चटाने से भी आशातीत फल होता है।

———

बालग्रह एवं उनकी चिकित्सा

बालग्रह के निम्नलिखित प्रधान लक्षण हैं, यथा—चिहुकना, डरना, रोना, नख एवं दंत से अपना शरीर अथवा माता का शरीर काटना, ऊपर देखना, होठ चबाना, कुढ़ना, जँभाई लेना, आँख एवं भौं नचाना तथा स्वल्पाहारी हो जाना। उक्त लक्षणों के अलावे मुँह से गाज निकलना, शोथ, शरीर का कृश हो जाना, फटा मल निकलना तथा स्वरभंग आदि उपद्रव देखने में आते हैं।

स्कंदग्रह—एक तरफ की आँख से स्राव, कोई एक अंग फड़कना, दाँत किटकिटाना, ऊपर देखना तथा दूध से अरुचि आदि लक्षण पैदा होते हैं।

चिकित्सा—सरसों, बच, कलिहारी, ऊँट के बाल और साँप की केंचुल की धूनी देने से उक्त दोष दूर हो जाता है।

स्कंदापस्मार—अचेत, मुख से गाज निकलना, होश आते ही रोने लगना तथा शरीर से बुरी गंध निकलना आदि लक्षण देखने में आते हैं। चिकित्सा—गाय, भैंस, भेड़, बकरी, गधा, घोड़ा एवं ऊँट के पेशाब में सिद्ध किया हुआ तैल मालिश करने से लाभ होता है।

शकुनी—अंगों की शिथिलता, दाह, पाक, डर से चिहुकना तथा श्रावयुक्त फोड़े आदि उपद्रव दृष्टिगोचर होते हैं। चिकित्सा—झाऊ की जड़, महुआ, खश, गौरीसर, कमलनाल, पद्मकाठ, लोध्र प्रियंगू और मजीठ तथा गेरू को जल में पीसकर उबटन बना, लेप करने से शकुनी ग्रहदोष शान्त हो जाता है।

रेवती—शरीर पर फूटे हुए दुर्गन्धयुक्त फोड़े, दाह एवं ज्वरादि उपद्रव दृष्टिगोचर होते हैं—चिकित्सा—असगन्ध, मेढ़ासिंगी, गौरीसर, साँठी की जड़, सेवती के फूल और विदारीकन्द के क्वाथ से स्नान करना हितकर है।

पूतना—तृष्णा, ज्वर, अतिसार, निद्रानाश एवं तिरछा देखना आदि लक्षण देखने में आते हैं। चिकित्सा—राल, मैनसिल, हरताल, कूट, श्वेतदाख और बिदारीकन्द के क्वाथ में तेल सिद्ध करके मालिश करने से उक्त ग्रह शान्त हो जाता है।

अन्धपूतना—कै, ज्वर, कास, तृषा, अत्यधिक रोना तथा शरीर से चर्बी जैसा गन्ध निकलना आदि उपद्रव पैदा होते हैं। चिकित्सा—नीम, पटेल, कटेरी, गिलोय और अरुस के पत्तों के क्वाथ से स्नान कराने पर आशातीत फल होता है।

शीतपूतना—कम्प, कास, क्षीणता, नेत्ररोग, दुर्गन्ध, वमन एवं अतिसार आदि उपद्रव पैदा होते हैं। चिकित्सा—कुटकी, नीम की छाल, पलाश और काहू की छाल तथा खैरसार के क्वाथ में तैल सिद्धकर मालिश करने से लाभ होता है।

मुखमण्डिका—उभड़ी हुई नसें, अत्यधिक भोजन करना तथा शरीर से पेशाब जैसी गन्ध निकलना आदि लक्षण पाये जाते हैं। चिकित्सा—राल और कूट के क्वाथ में तैल सिद्धकर काम में लाना श्रेयस्कर है।

नैगमेय—कै, पसीना, मूर्च्छा, कंठ एवं मुँह सूखना तथा दुर्गन्धयुक्त होकर ऊपर की ओर देखना आदि लक्षण पैदा होते हैं। चिकित्सा—प्रियंगू, सौंफ, जवासा और चित्रक की छाल का क्वाथ तथा दही और कांजी द्वारा सिद्ध किया हुआ तैल रामबाण जैसा उपयोगी है।

आयुर्वेद शास्त्र में उक्त नौ प्रकार के बालग्रहों के अलावे १२ प्रकार के मातृका दोषों का भी वर्णन मिलता है। उक्त बारह दोष निम्न प्रकार हैं—

नन्दा, शुभद्रा, पूतना, मुख मण्डिका, पूतनी, शकुनी, शुष्क-रेवती, नाना-मातृका, सूतिका, क्रिया मातृका, पिपिलिका मातृका और कामुका मातृका। उक्त ग्रहों के फलस्वरूप प्रथम से बारहवें तक ग्रह के प्रकोप-स्वरूप दिन, मास एवं वर्ष पर ज्वर एवं कम्पादि उपद्रवों के प्रादुर्भाव होते हैं, जैसे नन्दा मातृका दोष प्रथम है। अतः जन्म होने के पश्चात् प्रथम दिन, प्रथम मास एवं प्रथम वर्ष में बालक को ज्वर हो जाता है। उसी प्रकार अन्तिम अर्थात् कामुमातृका दोष होने पर बारहवें दिन, बारहवें मास तथा बारहवें वर्ष ज्वरादि उपद्रवों के प्रकोप होते हैं। उक्त विषय की विशेष जानकारी के लिए रावण कृत 'चक्रदत्त' देखें।—(लेखक)।

रोगानुकूल कुछ उपयोगी नुस्खे :—

ज्वर—नागरमोथा, हर्रे, की छाल, नीम की छाल और पटोल के क्वाथ को मधु के साथ सेवन कराने से प्रायः सभी प्रकार के ज्वर अच्छे हो जाते हैं। लाक्षादि तैल भी बहुत गुणकारी औषधि है।

अतिसार—बेलगिरी, धव के फूल, नेत्रवाला, गजपीपल और लोध्र का क्वाथ मधु के साथ चटाने से लाभ होता है। मजीठ, लोध, गौरीसर और धव के फूल का क्वाथ भी लाभप्रद होता है।

ज्वरातिसार—चातुर्भद्रादि चूर्ण, पीपल, अतीस, नागरमोथा और काकड़ासिंगी को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान—मधु।

संग्रहणी—हल्दी, चव्य, देवदार, कटेरी, गजपीपल, सौंफ और पृश्निपर्णी को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान—मधु और घी।

कास—"मुस्तकादि चूर्ण" अरुस, अतीस, नागरमोथा, पीपल और काकड़ासिंगी को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान—मधु।

श्वास—द्राक्षादि चूर्ण सेवन कराने से लाभ होता है।

दूध उगलना—कटेरी के फूलों का रस, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। अनुपान—मधु।

मूत्रावरोध—पीपल, मिर्च, इलायची, सेंधानमक और मिश्री को मधु के साथ चटाने से पेशाब उतर जाता है।

लार प्रवाह—गौरीसर, लोध और तिल का क्वाथ मधु के साथ सेवन कराने से आशातीत फल होता है।

मुखपाक—पीपल की छाल और पत्तों को पीसकर मधु के साथ चटाने से मुखपाक अच्छा हो जाता है।

उदर कृमि—कमीला, बायबिडंग, रेवन्दचीनी और नीम की पत्ती को समभाग लेकर चूर्ण तैयार कर लेवें। मात्रा दो रत्ती। अनुपान—मधु।

चुरुवे—लोहे के एक बटखरे को आग में तपाकर लाल कर लेवें। उस पर एक चिलम औंधा कर रखने के पश्चात् छिद्र में—खुरासानी अजवायन डाल देवें। चिलम की नली से ऊपर उठते हुए धुएँ को बच्चे की गुदा में लगने देवें। ऐसा करने से चुरुवे आप से आप बाहर निकल जाते हैं।

बाल रोगों के लिए बाजारों में तरह-तरह की पेटेण्ट औषधियाँ देखने में आती हैं। अन्य औषधियों की बात तो अलग रहे केवल "बालामृत" नामक दवा ही विभिन्न कम्पनियों द्वारा धड़ल्ले से बेंची जा रही हैं। चिकित्सकों को

कौन कहे बहुत से अपढ़ पंसारी भी चूने का जल निथार उसमें चीनी की चाशनी और रंग मिलाकर जनता की आँखों में धूल झोंक रहे हैं। बम्बई की के० टी० कम्पनी द्वारा तैयार बालामृत बहुत ही मशहूर है। उस दवा की लागत एवं मूल्य में भी जमीन-आसमान का अन्तर है। के० टी० कम्पनी के बालामृत का नुस्खा निम्न प्रकार है—

हाइपोफास्फेट आफ सोडा १० ग्रेन, हाइपोफास्फेट ऑफ लाइम १० ग्रेन, और शक्कर शर्बत चार औंस सभी दवाओं को एकत्र मिलाकर उसमें बायबिडंग आयल २ ड्राम और सोंठ का अर्क २ ड्राम मिलाकर एक शीशी में भरने के पश्चात् कार्क लगाकर तीन-चार रोज तक रखा रहने देवें। लाल रंग बनाने के लिए कोचलाइन की कुछ बूँदें मिलानी चाहिये।

ग्रीमाल्ट सिरप

यह फ्रांस की बनी हुई दवा है। इससे श्वासनली एवं फेफड़े के रोग हरण की बात बतलायी गयी है। मूल्य लागत से तीन गुना है। योग निम्न प्रकार है—

शक्कर का शर्बत ४ औंस, हाइपोफास्फेट ऑफ लाइम ४० ग्रेन और दवा के लाल करने के लिए कोचलाइन की कुछ बूँदें मिला देवें।

गाइप मिक्श्चर

यह दवा फोर्टस्ट्रीट बम्बई से पेटेण्ट है। योग निम्न प्रकार है—कम्पाउण्ड टिंचर ऑफ कैम्फर १ ड्राम, एरोमेटिक स्प्रीट ऑफ एमोनियाँ १ ड्राम, एक्वा अनीसी १ औंस, फास्फेट आफ सोडा ३ ग्रेन, सेकरीन १० ग्रेन, फांस-एसिड १० बूँद और डिस्टिल्ड वाटर २॥ औंस सबको एकत्र मिला लेना चाहिये। मात्रा १० से ३० बूँद तक आवश्यकतानुसार।

बाल जीवन घुटी

यह दवा मथुरा से पेटेण्ट है। योग निम्नप्रकार है :—चतुरभुज चूर्ण के अलावा कायफल, मुलैठी, पुदीना और शहद मिलाकर आरिष्ट तैयार किया गया है।

सिरप ऑफ लाइम

यह बम्बई की पेटेन्ट दवा है। इसकी कीमत लागत से लगभग पन्द्रह गुनी है। योग निम्नप्रकार है—लाइम आठ औंस, गर्म पानी डेढ़ क्वार्टर और शूगर आठ औंस, दवा तैयार करने की तरकीब निम्नप्रकार है—

पहले चूने को पानी में डाल दीजिए। जब चूना बिल्कुल गलकर नीचे बैठ जाय तो स्वच्छ जल आहिस्ते से निथार लेवें। उक्त जल में चीनी मिलाकर अन्दाज से पका लेना चाहिए जिससे ५७ तोले दवा बाकी रह जाय, फिर उस दवा को छानकर बोतल में रख लेवें। इस दवा से बच्चों के हरे, पीले दस्त, कै, अनपच, दूध फेंकना तथा सर्दी आदि उपद्रवों में लाभ होता है। इस दवा के रंग के लिए भी कोचलाइन को कुछ बूंदें मिलानी चाहिए। मात्रा बलानुसार।

बाल बहार

यह दवा कलकत्ता से पेटेन्ट है। इसकी कीमत लागत से पाँच गुनी के लगभग है। योग निम्नप्रकार है–बतासा मिठाई १६० हिस्सा, हाइपोफास्फेट ऑफ सोडा १ हिस्सा, कोचलाइन १ हिस्सा और जल ६४ हिस्सा।

विधि—बताशा को जल में डालकर गला देवें, आधा जल शेष रहने पर उतार लेवें। पश्चात् उसमें फास्फेट ऑफ कैल्शियम १ हिस्सा डालकर उक्त दोनों दवाओं को भी मिला देवें। मात्रा दस बूंद से आधा ड्राम तक। उक्त योग डॉ० रामकृष्ण द्वारा लिखित "पेटेण्ट औषधि और भारतवर्ष" नामक पुस्तक के संग्रह किये गये हैं।

यद्यपि आज एलोपैथिक चिकित्सा विज्ञान के अलावे आयुर्वेदिक आदि चिकित्सा पद्धतियों में भी पेटेण्ट औषधियों की बाढ़-सी आ गयी है लेकिन रोग निदान के साथ-साथ औषधि गुण की जानकारी पर ही उचित चिकित्सा हो सकती है। अतः चिकित्सा के लिए औषधि का गुण धर्मादि की जानकारी परमावश्यक है।

अध्याय ७

विष (Poison) वर्णन

महर्षि सुश्रुताचार्य जी ने लिखा है--

स्थावरं जंगमं चैव द्विविधं विषमुच्यते ।
दशाधिष्ठान आद्यं तु द्वितीयं षोडशाश्रयम ॥

अर्थात्—स्थावर एवं जंगम ये दो प्रकार के विष हैं। स्थावर विष के दस स्थान हैं और जंगम के सोलह स्थान हैं। स्थावर विष के स्थान—जड़, पत्ती, छाल, फल, फूल, दूध, सार, गोंद, धातु और कन्द। जंगम विष के स्थान-दृष्टि, श्वास, दाढ़, नख, मूत्र, विष्टा, वीर्य, आर्तव, राल, मुँह की पकड़, अपान वायु, गुदा, हड्डी, पित्ता, (शूक–अर्थात डंक, काँटा और रोम) और सोलहवाँ लाश।

दूषी विष—जो विष पुराना पड़ जाता है अथवा सूखा एवं सड़कर गुणहीन हो जाता है उसको दूषी विष कहते हैं। दूखी विष से मृत्यु नहीं होती लेकिन कष्टकारक होता है।

गर—महर्षि चरकाचार्य जी ने संयोजक विष को गर बतलाया है लेकिन श्रीभावमिश्रजी का कथन है कि रज एवं पसीना आदि को गर कहते हैं। बहुत-सी मूर्ख स्त्रियाँ तथा वेश्या अपने पति एवं अन्य मनुष्यों को (जिनके साथ वे रमण करती हैं) अपने वश में रखने के लिए भोजन के साथ अथवा जल के साथ रज एवं पसीना आदि को सेवन करा देती हैं। उक्त गर नामक विष से–शरीर का पीलापन, कृशता, मदाग्नि, ज्वर, मर्मस्थान में दर्द, पेट फूलना, धातुक्षय तथा सूजन आदि उपद्रव होते हैं। उपविष–आक, थूहर, कनेर–कलि हारी, चिरमिटी, अफीम और धतूरा ये सात उपविष हैं।

विष के गुण—रुक्ष, उष्ण, सूक्ष्म, आशु, व्यवायी, विकाशी, विशद, लघु, तीक्ष्ण और अपाकी ये दस गुण विष में होते है।

रुक्षता के कारण—वात विकृति, उष्णता से रक्त एवं पित्त की विकृति, सूक्ष्मता के कारण—सूक्ष्म छिद्रों तथा अवयव मात्रा में प्रवेश, आशुता से–यथा-शीघ्र संचार, व्यवायिता से–धातु तथा मल विकृति एवं नाश, विशदता से–रक्त-हीनता तथा दस्त, लघुता से शीघ्र ही विषव्यापकता के कारण असाध्य तथा अपाकी गुण के कारण विष का पाक नहीं होना।

स्थावर विष के प्रधान लक्षण—हिचकी, दाँत कोट होना, गला घुटना, वमन, फेन निकलना, अरुचि, श्वास और मूर्च्छा आदि। जंगम विष के प्रधान लक्षण—निद्रा, तन्द्रा, दाह, ग्लानि, पाक, रोमाञ्च, सूजन एवं अतिसार। दूषी विष के लक्षण—सुश्रुत में लिखा है कि अगर किसी प्रकार शरीर में दूषी विष रह जाता है तब देश, काल एवं आहार-विहार के अनुसार धातुओं को दूषित कर देता है, फलस्वरूप पतला दस्त, बेचैनी, भ्रम, मूर्च्छा तथा वमन आदि उपद्रव वर्षों तक सताते रहते हैं।

विषवेग एवं चिकित्सा—स्थावर एवं जंगम दोनों प्रकार के विषों के सात वेग होते हैं। प्रथम वेग में जीभ में कालापन, मूर्च्छा, बेहोशी एवं श्वास आदि लक्षण पैदा होते हैं। शीतल जल पिलाने और वमन कराने से प्रथम वेग में लाभ होता है। द्वितीय वेग में कम्पन, पसीना, दाह एवं जलन तथा खुजली आदि उपसर्ग देखने में आते हैं। वमन कराने के पश्चात् दस्त करा देने पर द्वितीय वेग में पूर्ण लाभ होता है। तृतीय वेग में तालु सूखना, अमाशय में शूल तथा आँख का हरापन आदि उपसर्ग दृष्टिगोचर होते हैं। भस्म, अंजन एवं विषनाशक औषधि पिलाने से तृतीय वेग में फायदा होता है। चतुर्थ वेग में सिर भारी होकर झुक पड़ता है। घृत के साथ अगद पिलाने से चतुर्थ वेग में फायदा नजर आता है। पंचम वेग में वात, पित्त, कफ एवं रक्त दूषित हो जाते हैं, फलस्वरूप सन्धियों में पीड़ा, मुँह से झाग निकलना तथा शरीर का रंग बदल जाना आदि लक्षण पाये जाते हैं। शहद और मुलहठी के क्वाथ के साथ अगद पिलाना चाहिए। छठवें वेग में अज्ञानता एवं अनजान में ही दस्त होता है। इस वेग में अतिसार की चिकित्सा से लाभ होता है तथा चेतना के लिये नस्य का प्रयोग हितकर है। सप्तम वेग में पीठ, कमर एवं कन्धे टूट जाते हैं और श्वास रुक जाता है। पंचम वेग में ही त्रिदोष एवं रक्त की विकृति हो जाती है, सप्तम वेग तो उसके भी आगे का वर्णन हैं। अतः यह असाध्य है। वेगादि के विशेष वर्णन एवं चिकित्सा के लिये सुश्रुतादि ग्रन्थ देखें।–(लेखक)।

श्रीसुश्रुताचार्यजी का कथन है कि अन्न, पान, दातून, तैल मालिश, कंघी, चन्दनादि के लेप, माला, वस्त्र, विस्तरा, कवच, भूषण, खड़ाऊँ, जूता, हाथी, घोड़े की पीठ तथा नस्य, धूप एवं अंजन आदि में विष दिया जाता है।

विष देने वाले के विषय में लिखा है कि विष देनेवाला किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो जाता है। प्रश्न का उत्तर देते समय विषदाता चिन्तित मुद्रा में अपना नख खोंटने, इधर-उधर देखने, पैर के अंगूठे से पृथ्वी कुरेदने, हाथ की अंगुलियाँ चटकाने, भागकर छिपने, काँपने तथा शर्माते हुए अतुका एवं अधूरा उत्तर देने लगता है।

हिन्दू धर्मशास्त्र में भोजन सामग्री में से बलि देने की प्रथा का बहुत बड़ा महत्व है। खासकर प्रजापालनकर्ताओं के भोजन की तो विशेष रूप से जाँच होती थी। आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि विषयुक्त-भोजन का ग्रास अग्नि में डालने से चटर, पटर की-सी आवाज निकलती है तथा नीले रंग का तीव्र धूआँ उठता है। अगर विषयुक्त भोजन का ग्रास कौआ को दिया जाय तो वह मर जाता है, कोयल की वाणी बिगड़ जाती है, मोर उन्मत्त होकर नाचने लग जाता है, तोता-मैना रुदन करने लगते हैं। हंस चीखने लगता है, भौंरे गुन्जारने लगते हैं, बन्दर को दस्त होने लगता है तथा जीव जीवक नामक पक्षी तत्काल मर जाता है। उक्त शास्त्रीय प्रथा आज भी लोक में विभिन्न रूप से व्यापमान है। राज्यभार सम्भालने वाले प्रायः प्रत्येक अधिकारी का भोजन जाँच किया जाता है जिसके लिए खास चिकित्सक रखे गये हैं।

विष चिकित्सा—आयुर्वेद मतानुसार विषोपचार के लिए मन्त्र, बन्धन, चीरने, दबाने, विषाक्त जहर चूसने, अग्नि में तपाये हुए लौह आदि से दागने, परिषेक करने, नदी अथवा तालाब में प्रवेश कराने, रक्त निकलवाने, वमन, विरेचन, उपधान—हृदयावरण (अर्थात् हृदय को ठीक रखने के लिए घृत अथवा मांस या ईख का रस पिला देवें), आँख में अंजन लगाने, नस्य, धूम्र, लेह, औषधि, प्रशमन, प्रतिसारण प्रतिविष सेवन कराने—अर्थात् (स्थावर विषोपचार के लिए जंगम विष का प्रयोग एवं जंगम के लिए स्थावर विष का प्रयोग), संज्ञा स्थापन, लेपन एवं मृत संजीवन देने से लाभ होता है।

विष चिकित्सा में समय, स्थान एवं वातादि दोष पर भी पूर्ण ध्यान देना परमावश्यक है। वातस्थान पक्वाशय में विष होने पर प्यास, बेहोशी, अरुचि, गलग्रह, वमन एवं फेन उत्पन्न होते हैं, ऐसी अवस्था में स्वेद एवं दही के साथ कूट और तगर का क्वाथ देना हितकर होता है। पित्तस्थान—हृदय एवं ग्रहणी में

विष होने से ज्वर, वमन, दाह, खाँसी और दस्त आदि लक्षण पैदा होते हैं, ऐसी हालत में—घृत पिलाने, दूध पिलाने, जल पिलाने एवं नदी अथवा तालाब के जल में स्नान कराने तथा मधु चटाने से लाभ होता है। एक स्थान—छाती में विष होने पर—मुँह से लार गिरना, वमन, सुस्ती, श्वास, गलग्रह तथा खुजली आदि लक्षणों के प्रादुर्भाव होते हैं। अतः स्वेद एवं क्षारागद सेवन कराना चाहिए।
वातादि भेद से विषक्रिया विश्लेषण—

वातिक विष—में हृदय एवं हड्डियों में दर्द, ऊर्ध्व वात एवं शरीर का रंग काला पड़ जाना आदि उपसर्ग देखने में आते हैं। अत: नाड़ी स्वेद एवं अभ्यङ्ग से लाभ उठाना चाहिए। पैत्तिक विष में—बेहोशी, हृदय में जलन तथा दंशस्थान में जलन, लाली, सूजन आदि लक्षण पाये जाते हैं। ऐसी हालत में ठण्डे लेप एवं ठण्ढे जल का सेवन हितकर होता है। कफ विष में—लेखन, छेदन, स्वेदन एवं वमन से लाभ होता है।

स्थावर एवं जङ्गम विष पर क्षारागद— गेरू, हल्दी, दारुहल्दी, मुलेठी, सफेद तुलसी की मञ्जरी, लाख, सेंधानमक, जटामासी, रेनुका, हींग, अनन्तमूल, सरिवा, कूट, सोंठ, मिर्च और पीपल समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लें। पश्चात उक्त औषधियों के चार गुने पलाश वृक्ष के क्षार का जल लेकर उक्त औषधियों के चूर्ण को उस जल में पकावें। गाढ़ा हो जाने पर एक तोला प्रमाण बटक तैयार कर छाया में सुखा लेवें। (चरक)

इस अगद को सेवन कराने से स्थावर एवं जंगम विष, सूजन, चर्मदोष, अर्श, भगन्दर, शोष रोग, मृगी, मन्दाग्नि, खुजली, पाण्डु, खाँसी, स्वरभंग, भूतबाधा तथा उन्माद वगैरह में पूर्ण लाभ होता है।

अजेय घृत—मुलेठी, तगर, कूट, भद्र, देवदारु, पुन्नाग, एलुवा, नागकेशर, कमल, मिश्री, बायबिड़ंग, चन्दन, तेजपात, प्रियंगू, हल्दी, दारुहल्दी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, काला सरिवा, सफेद सरिवा, शालिपर्णी और पृष्णपर्णी, को समभाग लेकर सिल पर पीसकर लुगदी बना लेवें। उक्त औषधियों के चौगुना घृत एवं घृत से चार गुना गो दूध लेकर लुगदी मिलाकर घृत पाक विधि से सिद्ध कर लेवें। स्थावर विष के लिए यह अत्युत्तम औषधि है।

विषघ्न यवागू—जंगली तोरई, आजमोद, पाठ, सूर्यबल्ली, गिलोय, हर्रे सरस, कटभी, लिसोरा, श्वेतकंद, हल्दी, दारुहल्दी, सफेदपुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, हरेणु, सोंठ, मिर्च, पीपर, काला सरिवा, सफेद सरिवा और खरैटी को समभाग लेकर काढ़ा तैयार करके काढ़ा के साथ यवागू पका लेवें। इसके सेवन से शोधन, शमन एवं विषनाशक कार्य होता है।

महासुगंधि अगद—सफेद चन्दन, लाल चन्दन, अगर कूट, तगर, तिलपर्णी, प्रपौंडरीक, नरसल, सरल, देवदारु, दूधी, भारंगी, नीली, सुगंधिका, नाकुली, पीला चन्दन, पद्माख, मुलैठी, सोंठ, रुद्रजटा, जटामासी, पुन्नाग, इलायची, एल बालुक, गेरु, ध्यामक तृण, खरैटी, नेत्रवाला, राल, जटामासी, मल्लिका, रेणुका, तालीशपत्र, छोटी इलायची, प्रियंगू, स्योनाक, पत्थर का फूल, शिला रस, पत्रज, काला सरिवा, सोंठ, मिर्च, पीपर, कपूर, खंभारी, कुटकी, बकुची, अतीस, कालाजीरा, इन्द्रायण की जड़, खस, वरण, मोथा, नख, धनियाँ, दोनों श्वेता, हल्दी, दारुहल्दी, थुनेरा, लाख, सेंधानमक, सोंचरनमक, विडनमक, समुद्रनमक, कचियानमक, कमोदिनी, कमल पद्म, आक के फूल, चम्पा के फूल, अशोक पुष्प, तिल वृक्ष का पञ्चाङ्ग, पाटल, सम्भल, लिसोरा, सिरस, तुलसी, केतकी और संभालू के फूल, धव का फूल, महासर्जन पुष्प, तिनिश का फूल, केशर, गूगल कन्दूरी, सर्पाक्षी और गन्धनाकुली को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार करने के पश्चात् गोरोचन, शहद और घी मिलाकर सींग में भरकर सींग से बन्द कर देवें। इस दवा के लेप, अंजन, नस्य तथा खिलाने के लिए उपयोग करने से सभी प्रकार के स्थावर एवं जंगम विष का अवश्य ही नाश हो जाता है।

मृतसञ्जीवनी—स्पृक्का, केवटी मोथा, गठोना, फिटकरी, मूछरीला, पत्थर का फूल, गोरोचन, तगर, रोहित घास, केशर, जटामाशी, तुलसी की मंजरी, बड़ी इलायची, पम्वारे के बीज, बड़ी कटेरी, सिरस के फूल, गन्धाविरोज, स्थल कमल, इन्द्रायन, देवदार, कमल केशर, सादा लोध, मनःशिला, केणुक, चमेली पुष्प का रस, आक के फूलों का रस, हल्दी, दारुहल्दी, हींग, पीपल, लाख, नेत्रवाला, मूंगपर्णी, लालचन्दन, मैनफल, मुलहठी, सम्भालू, अमलताश, लाललोध, ओंगा, प्रियंगू, रास्ना और बायबिडंग को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। पश्चात् जल के साथ अच्छी तरह घोंटकर टिकिया तैयार कर

लेवें। इस दवा के लेप एवं चिलम में तम्बाकू की तरह रखकर रोगी को पिलाने से स्थावर एवं जङ्गम विषोपद्रव में लाभ होता है। इस दवा के विशेष गुण एवं उपयोग के विषय में चरक एवं चक्रदत्त देखें।

संखिया आदि स्थावर विषों के उपद्रव पर सफल प्रयोग

संखिया—यह विष श्वेत, काला, लाल एवं पीतवर्ण का होता है। लेकिन ज्यादातर शुद्ध श्वेत संखिया विष को ही औषधि के लिए संग्रह किया जाता है। अगर अशुद्ध श्वेत संखिया विष किसी को खिला दिया जाय तो आधा घण्टा के अन्दर ही पेट में मरोड़, शरीर का ठण्ढा होना, नाड़ी क्षीणता, जीवनी शक्ति का घटना, कै, दस्त, जलन अकड़न तथा स्वरभंग आदि लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। दो ग्रेन तक संखिया विष भी मनुष्य का प्राण हरण कर सकता है। अशुद्ध संखियां विष के उपद्रव को शान्त करने के लिये मिश्री और गाय का दूध अथवा केवल सुसुम घी पिलाने से लाभ होता है।

बच्छनाग विष का उपद्रव सोंठ के क्वाथ से शमन होता है।

आक विष का उपद्रव ढाक नामक वृक्ष की छाल के काढ़ा अथवा चूर्ण से शान्त होता है।

भंग का नशा—सोंठ का चूर्ण दही के साथ सेवन कराने से उतर जाता है।

भिलावा विष के कारण शोथ होने पर प्रदाहित स्थान पर चौलाई के रस के साथ मक्खन मिलाकर लेप करने से लाभ होता है।

थूहर विष के उपद्रव पर मिश्री का शर्बत लाभप्रद होता है। अगर थूहर का दूध आँख में पड़ जाय तो स्त्री का दूध आँख में आँजना चाहिए।

कलिहारी विष के उपद्रव पर गाय के दही का घोल परम हितकारी है।

गुंजा विषयोपचार के लिए चौलाई के रस में मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिए।

धतूरा विष के लिए बैंगन के बीजों का रस विशेष उपयोगी है।

कनेर विष की शान्ति के लिये भैंस के दही के साथ मिश्री मिलाकर सेवन कराना चाहिये।

जयपाल विष की शान्ति के लिए दही के साथ मिश्री और धनियां मिलाकर सेवन कराने से लाभ होता है।

अफीम विषोपचार के लिए बड़ी कटेरी के रस में दूध मिलाकर पिलाना चाहिए अथवा हींग खिलाना चाहिए।

कुचले के विष की शान्ति के लिए एक माशा कपूर को एक तोला गो-घृत के साथ चटाने से आशातीत फल होता है।

पारा विष की शान्ति के लिए शुद्ध गन्धक रामबाण है।

हरताल विष की शान्ति के लिए यथाशीघ्र वमन करा देना चाहिए।

तूतिया विष के उपचार के लिए दूध के साथ घृत मिलाकर सेवन करावें।

शराब का विष उतारने के लिए आँख एवं सिर पर शीतल जल का छींटा देना चाहिए तथा घी के साथ मिश्री मिलाकर सेवन कराना चाहिए।

आज के युग में जिस प्रकार एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र को बर्बाद करने के लिए हाइड्रोजन एवं कीटाणु आदि बम गोलों तथा नाना प्रकार के ध्वंसक उपाय काम में लाने के लिए कटिबद्ध है उसी प्रकार पहले भी विजय कामना से घास पानी, रास्ता, अन्न, धुआं एवं हवा आदि में विष मिलाने की प्रथा थी। श्रीसुश्रुताचार्यजी ने सुश्रुत नामक ग्रन्थ में उक्त विषय पर बहुत ही सुन्दर प्रकाश डाला है।

———

जंगम विष

जंगम विष के १६ स्थानों का वर्णन पहले ही हो चुका है। यह विष चलने, उड़ने एवं रेंगनेवाले जीव जैसे—सर्प, श्वान, मेढक, मकड़ी एवं लूता आदि में पाया जाता है। मनुष्य के नख, दाँत एवं दृष्टि में भी विष होता है। दिव्य सर्प की दृष्टि एवं श्वास में विष होता है। पार्थिव सर्प का विषस्थान दाढ़ है। विषयुक्त चूहों के वीर्य में विष होता है। बन्दर के वीर्य में भी उग्र विष रहता है। सर्प एवं जोंक के मुँह की पकड़ में विष होता है। मकड़ी के लार एवं चेप में विष रहता है। बाघ, सिंह, भेड़िया तथा बिल्ली आदि के दाँत एवं

पंजे में विष होता है। कुत्ता एवं स्यार के लार तथा दाँत एवं नख में भी विष होता है। विष द्वारा मरे हुए जीव की हड्डी में भी विष होता है। सर्प अथवा अन्य विष वाले जीव की मृत्यु हो जाने पर उसकी लाश में भी विष होता है।

सर्प

जंगम विष के विषय में साँप का सर्वप्रथम स्थान है। एक मोटे हिसाब से लगभग एक लाख मनुष्य प्रतिवर्ष मृत्यु के मुख में केवल सर्पदंश से चले जाते हैं। भारतवर्ष एवं ब्राजील में साँप काटने से अधिक मृत्यु होती है। भारत में बिहार, उत्तर प्रदेश एवं बंगाल तथा उड़ीसा में अन्य प्रदेशों की बनिस्बत अधिक मृत्यु होती है। भारतवर्ष में प्रायः प्रतिवर्ष लगभग २० लाख मनुष्यों की मृत्यु सर्पदंश के कारण होती है।

सांप के कई एक प्रकार होते हैं लेकिन साधारणतः इसके दो मुख्य भेद हैं, दिव्य एवं पार्थिव। वासुकि एवं तक्षक दिव्य सर्प कहलाते हैं। पृथ्वी पर रहने वाले सर्प को पार्थिव सर्प कहते हैं जो पाँच प्रकार के होते हैं—

भोगी (दर्वीकर अथवा फनिधर), मण्डली, राजिली, निर्विष एवं वैकर (दोगले)।

भोगी सर्प—ये २६ प्रकार के होते हैं। ये बात प्रधान विषयुक्त तथा फुर्तीला अर्थात् अति शीघ्र चलने वाले होते हैं। इनके काटने से नेत्र, नख एवं दाँत तथा गात्र के अलावे मल एवं मूत्र में भी कालापन नजर आता है। जोड़ों में दर्द, गर्दन एवं पीठ में कमजोरी, कम्पन, आवल बैठना, खाँसी, श्वास, हिचकी, डकार, मुँह से लार बहना तथा स्रोतों को रुकावट आदि उपसर्ग भी देखने में आते हैं।

मण्डली सर्प—ये भी २६ प्रकार के होते हैं। इनके शरीर पर चित्तियाँ होती हैं। अतः इन्हें चित्तीदार अथवा चितकबरे साँप भी कहते हैं। चित्तियाँ लाल, काली एवं श्वेत रंग इत्यादि कई एक प्रकार की होती हैं। इस जाति का सर्प बीच में मोटा तथा मुँह एवं पूँछ की ओर पतला तथा पित्त प्रधान विष वाला होता है। इसके दंश के कारण पित्त विषयक उपद्रव नजर आते हैं।

राजिल सर्प—इस जाति के सर्प राजिमन्त भो कहलाते हैं। लेकिन सुश्रुताचार्यजी ने राजिल सर्प एवं राजिमन्त सर्प इस प्रकार दो भेद बतलाया है। राजिल साँप के शरीर पर नाना प्रकार की रेखायें होती हैं। इस जाति के सर्प प्रायः १२ प्रकार के एवं कफ विष प्रधान होते हैं। जिस प्रकार भोगी सर्प के काटने पर नख, नेत्र एवं गात्रादि में कालापन आ जाता है और मण्डली सर्पदंश से नख, नेत्र एवं गात्रादि पीतवर्णयुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार राजिल जाति के सर्पदंश से उक्त अवयव श्वेत हो जाते हैं।

निर्विष सर्प—अजगर, दुमुहाँ और पनियाँ साँप निर्विष होते हैं। अजगर साँप तो बहुत ही विशालकाय होते हैं। ये किसी को काटते नहीं बल्कि उदरपोषण के लिये छोटे जानवरों को निगल जाया करते हैं। दो मुँह वाला सर्प भी डरपोक जाति का विर्विष सर्प है। पनियाँ (डोंड) सर्प जल में रहता है। इस प्रकार के सर्प पैर में लिपट जाते हैं। इनके काटने पर भी कुछ नहीं होता लेकिन मैथुन आदि के समय काटने पर साधारण विष के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

दोगले सर्प—दो प्रकृति के सर्प एवं सर्पिणी के भोग करने से जो सर्प पैदा होते हैं उन्हें दोगले सर्प कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि ये दो विष वाले होते हैं लेकिन श्रीवाग्भट्टाचार्यजी का कथन है कि व्यन्तर सर्प त्रिदोष विषजनित होते हैं।—मानव जाति की तरह सर्प के भी तीन प्रकार के बच्चे होते हैं, नर, मादा एवं नपुंसक।

सर्पदंश—आयुर्वेद शास्त्र में सर्प के काटने के निम्नलिखित ९ कारण बतलाये गये हैं। इन्हीं हालतों में सर्प मनुष्य अथवा जानवर को काटता है।

१—भूख लगने के कारण।

२—डर जाने के कारण।

३—दब जाने के कारण।

४—विष की अधिकता के कारण मद में आकर।

५—क्रोधित होने के कारण।

६—पूर्व जन्म के संस्कार एवं द्वेष के कारण।

७—देवाभिशाप के कारण।

८—ऋषि एवं सिद्धजनों के शाप के कारण तथा

९—यमराज के आदेशानुसार कालस्वरूप होकर।

सर्पदंश निम्नलिखित चार प्रकार के होते हैं—सर्पित, रदित, निर्विष एवं सर्पाङ्गाभिहित। सर्पित दंश में दंश स्थान पर दांत के चिन्ह दिखलाई पड़ते हैं तथा वहां पर सूजन भी हो जाती है। सांप जब अच्छी तरह से काट लेता है उसको सर्पित दंश कहते हैं। रदित दंश में खंरोच-सी लकीर जैसी बन जाती है। अच्छी तरह से दंश नहीं होने के कारण रदित दंश में विष का वेग भी साधारण ही होता है। निर्विश दंश में दाँत लग जाने पर भी दंशित स्थान में न सूजन होती है और न इन्द्रियों में विकार ही। लेकिन डरपोक मनुष्य के लिए निर्विष दंश भी भयानक सिद्ध हो जाता है। सर्पाङ्गाभिहत में तो न दांत लगते हैं और न तो खरोंच ही। केवल सन्देह मात्र से ही डर जाने के कारण वातादि दोष कुपित हो जाते हैं फलस्वरूप मूर्च्छा आदि उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं।

नर सर्प के काटने पर मनुष्य ऊपर की ओर देखता है और मादा सर्प के काटने पर नीचे की ओर। नपुसंक जाति के सर्पदंश से शरीर पीला पड़ जाता है तथा पेट फूल जाता है। भूख के कारण सर्प काटता है तब रोगी को अत्यधिक भूख मालूम होती है। प्रसूता सर्पिणी के काटने पर पेशाब में रक्त निकलता है तथा शूल भी होता है। अन्धे सर्प के काटने से मनुष्य अन्धा हो जाता है। वृद्ध सर्प के काटने पर मन्द वेग होते हैं और बच्चे सर्प के काटने पर जल्दी-जल्दी लेकिन हलके वेग आते हैं।

श्रीसुश्रुताचार्यजी ने लिखा है कि सभी प्रकार के साँपों के सात वेग होते हैं। उक्त विष वेग को दौरा, लहर तथा मैढ़ भी कहते हैं। सर्प के काटते ही रक्त में विष प्रवेश कर जाता है, फलस्वरूप शरीर में उद्वेग हो जाता है। इसको प्रथम वेग कहते हैं।

पहले ही लिखा जा चुका है कि मानव सरीर में सात कलाएँ होती हैं। जब एक कला को पार कर दूसरी कला में विष प्रकोप पहुँचता है तो द्वितीय वेग कहलाता है। द्वितीय वेग में रक्त से मांस में विष पहुँच जाता है। फलस्वरूप

नेत्र, नख एवं गात्रादि काले, पीले एवं श्वेतरंगयुक्त हो जाते हैं। तृतीयवेग में मांस से मेद में विष पहुँच जाता है, फलस्वरूप नेत्र की झलमलाहट तथा तन्द्रा आदि लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं। चौथे वेग में—मेद से कोठे एवं फेफड़े में विष चला जाता है, फलस्वरूप मुँह से लार एवं कफ निकलने लगता है तथा संधियों में टूटने जैसी पीड़ा होने लगती है। पंचम वेग में—विष, हड्डी में चला जाता है। अतः शरीर बिल्कुल ढीला पड़ जाता है जिससे चलने-फिरने की शक्ति नष्ट हो जाती है तथा अग्नि का नाश हो जाता है। छठवें वेग में पित्तधरा कला प्रदाहित हो जाती है। इस वेग में आशक्ति, दस्त एवं हृदय में दर्द आदि लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

मानव शरीर में सातवीं शुक्रधरा कला है। उस शुक्र को धारण करने वाली कला में विष पहुँचने पर उक्त सभी उपद्रवों के साथ शरीर बिल्कुल शिथिल हो जाता है। इस हालत में मानव के शरीर मात्र में विचरनेवाला व्यान वायु प्रकुपित हो जाती है, फलस्वरूप शारीरिक क्रिया ठप पड़ जाती है। सप्तम वेग में कफ से कंठ अवरुद्ध-सा हो जाता है। श्वास रुकना, पसीना निकलना तथा शरीर का ठंडापन एवं काठ जैसा पड़ जाना आदि लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं। यों तो सात के अलावे कुछ लोग सातवें वेग के पश्चात् मृत्यु हो जाने को अष्टम वेग भी मानते हैं लेकिन चतुर्थ वेग के पश्चात् ही सर्पदंशित रोगी का जीवन संकटमय हो जाता है। चूँकि चौथे वेग में ही रोगी बेहोश होकर गिर जाता है।

पशु के चार वेग—पशु के प्रथम वेग में शरीर की सूजन, द्वितीय में मुँह से पानी गिरना तथा शरीर का काला पड़ जाना, तृतीय में सिर में दर्द के कारण कंठ एवं गर्दन टूटना तथा चौथे में कँपकँपी पैदा होना आदि लक्षण पैदा होते हैं। पशुओं में नेवले और बिल्ली को सर्प विष नहीं व्यापता। पक्षी तो केवल दो लहरों में ही तमाम हो जाते हैं।

———

वेग तालिका—

वेग	भोगी फनदार सर्प (वात प्रधान	मण्डली चित्तीदार (पित्त प्रधान)	राजिल गण्डादार (कफ प्रधान)
प्रथम वेग	रक्त प्रकुपित होकर शरीर का रंग श्यामल हो जाता है तथा शरीर पर चींटी रेंगने जैसी-झिनझिनाहट होती है।	रक्त प्रकुपित होकर शरीर ठंढा पड़ जाता है तथा शरीर पीला रंग युक्त हो जाता है।	रक्त प्रकुपित होकर शरीर का रंग हलका पीलापन युक्त श्वेत हो जाता है।
द्वितीय वेग	मांस में विष प्रवेश के कारण शरीर काला पड़ जाता है।	शरीर पीला एवं दाहयुक्त हो जाता है तथा दंशित स्थान में सूजन आ जाती है।	पीतवर्णता एवं सफेदी बढ़ जाती है तथा सूजन भी होती है।
तृतीय वेग	सिर में भार, दंशित स्थान पर क्लेद तथा पसीना एवं आँख झलमलाना।	प्यास, पसीना एवं दंशित स्थान पर क्लेद।	झपनी, दाँत का कोट हो जाना तथा पसीना एवं आँखों से जल-स्राव।
चौथा वेग	तन्द्रा, मुँह से लार एवं जल निकलना तथा संधियों में दर्द।	जलन एवं ज्वर।	सिर में भारीपन तथा सिर का झुक पड़ना।

	भोगी	मण्डली	राजिल
वेग	फनदार (वात प्रधान)	चित्तीदार (पित्त प्रधान)	गण्डादार (कफ प्रधान)
पंचम वेग	हिचकी, दाह एवं जोड़ों में वेदना।	शरीर मात्र में असह्य जलन।	कंठ अवरुद्ध हो जाना तथा ज्वर।
छठवाँ वेग	हृत्पीड़ा एवं मूर्च्छा तथा ग्रहणी दूषित हो जाने के कारण दस्त।	भोगी सर्प का लक्षण ही उपस्थित होता है।	,,
सप्तम वेग	अनाशक्ति, कमर एवं पीठ टूटना तथा मुँह से लार एवं शरीर मात्र से पसीना निकलना।	,,	,,

सर्पविष चिकित्सा—आयुर्वेद शब्द का अर्थ पहले ही लिखा जा चुका है। इस शास्त्र में गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त तक के सभी यत्न बहुत ही सुन्दर ढंग से लिखे गये हैं। आयुर्वेद शास्त्र में सर्प से बचने के उपाय के विषय में लिखा है कि निवास-स्थान के समीप ईंट अथवा पत्थर की ढेर नहीं रखनी चाहिये—नालियों में जाली लगा देना, घरों में चूहों के बिल बन्द कर देना तथा नेवला एवं बिल्ली पालना परमावश्यक है। अगर किसी प्रकार सर्प घर के अन्दर प्रवेश कर जाय तो वहाँ पर हींग अथवा नौसादर चूना मिलाकर छिड़कने से साँप भाग जाता है। आइडोफार्म एवं कार्बोलिक एसिड आदि औषधियाँ भी

तीव्र गंधा हैं। अतः इन दवाओं के छिड़कने से भी सर्प नहीं ठहरता। बकरी का खुर अकरकरा और बारहसिंगे की सींग की धूनी देने से भी सर्प भाग जाता है। (इलाजुल जुबी)

आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि—मसूर का १ दाना और नीम की २ पत्तों को मेष की संक्रान्ति के दिन खा लेने से एक साल तक विष का भय नहीं रहता। वैद्यरत्न में लिखा है कि-वृषराशि का सूर्य होने पर सिरस का एक बीज सेवन कर लेने से सर्पदंश का भय नहीं रहता। श्रीचक्रदत्तजी का कथन है कि सफेद पुनर्नवा की जड़ को चावलों के धोवन के साथ पुष्यनक्षत्र में सेवन कर लिया जाय तो सर्पदंश का भय नहीं रहता। बंगसेन में लिखा है कि श्वेत पुनर्नवा अथवा विषखोपरे की जड़ को चावल के धोवन के साथ अषाढ़ मास के शुभ दिन एवं शुभ नक्षत्र में सेवन कर लेने पर सर्पदंश का भय नहीं रहता है।

सर्प विषोपचार के लिये सबसे बढ़िया इलाज साँप को काट लेना ही है, अर्थात् जिस आदमी को सर्प काट लेवे उस आदमी को सर्प को काट लेना चाहिये। लेकिन ऐसी हिम्मत मुश्किल है। अतः जिसको सर्प काट ले उस आदमी के दाँतों पर सर्प का रक्त मल लेने से विष का प्रकोप बिल्कुल मंद पड़ जाता है। इसी प्रक्रिया अर्थात् "विषस्य विषमौषधम्" पर ही होमियोपैथिक विज्ञान की नींव पड़ी है। केवल होमियोपैथी ही नहीं बल्कि एलोपैथो विज्ञान में भी एण्टीवीनोन (Antivenine) सर्प विष पर सर्प विष से तैयार औषधियों के प्रयोग में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। बहुत से धूर्त नेवलों के सूंघने वाली जड़ी के नाम से कई एक प्रकार की जड़ी बेचते फिरते हैं। नेवला उक्त प्रक्रिया से ही काम लेता जिसके चलते सर्प एवं नेवले की लड़ाई में नेवले की जीत होती है। यही बात बिल्ली के साथ भी लागू हो सकती है।

दंशोपरान्त—साँप बिल्कुल सुस्त हो जाता है तथा किसी ओट में जा छिपता है। अगर रोगी उसको नहीं काट सकने का साहस कर पाये तो उस सर्प के रक्त को रोगी के दाँतों पर लगाना भी लाभप्रद है। उक्त प्रक्रिया को उत्तर कर्तन कहते हैं।

उत्तर कर्तन प्रक्रिया नहीं हो सकने पर बंधन एवं कर्तन अर्थात् जिस जगह सर्प काट ले उसके ऊपर तत्काल ही जोर से बाँध देवें अथवा अँगुली वगैरह में दंश हो तो उसको तत्क्षण ही काट देवें।

अगर किसी ऐसे अंग में साँप काट लेवे जो काटकर अलग नहीं किया जा सकता हो तो उस दंशित स्थान को चाकू आदि किसी तेज हथियार से चीरकर रक्त निकाल देना चाहिए। इस रक्त निष्कासन प्रक्रिया को रक्त मोक्षण कहते हैं। आग अथवा आग में गर्म किये हुए किसी औजार से दंशित स्थान दागने से भी लाभ होता है। इस प्रक्रिया को "अग्निदग्ध" कहते हैं। लेकिन मण्डली अर्थात् चित्तीदार सर्प पित्त प्रधान विष युक्त है। अतः चित्तीदार सर्प के काटने पर अग्निदग्ध से लाभ के बदले हानि होती है।

सर्पविष पर वेगानुसार उपचार

	भोगी या दर्वीकार	मण्डली	राजिल
वेग	फनधर (वात प्रधान)	चित्तीदार (पित्त प्रधान)	गंडादार (कफ प्रधान)
प्रथम	रक्त मोक्षण	रक्त मोक्षण	रक्तमोक्षण एवं शहद के साथ अगद का प्रयोग।
द्वितीय	शहद अथवा घृत के साथ अगद का प्रयोग।	शहद अथवा घी के साथ अगद प्रयोग अथवा वमन करा कर यवागू का प्रयोग।	वमन कराकर शहद या घी के साथ अगद का प्रयोग।
तृतीय	विषनाशक नस्य एवं अंजन का प्रयोग।	दस्त कराकर यवागू का प्रयोग।	नस्य एवं अंजन प्रयोग।

वेग	फनधर (वात प्रधान)	चित्तीदार (पित्त प्रधान)	गंडादार (कफ प्रधान)
चतुर्थ	वमन कराकर विषनाशक यवागू का प्रयोग ।	वमन कराकर यवागू का प्रयोग	वमन कराकर यवागू का प्रयोग ।
पंचम	तीव्र जुलाब देकर दस्त करा देने के पश्चात् यवागू का प्रयोग ।	तीव्र जुलाब द्वारा दस्त करा कर यवागू का प्रयोग ।	तीव्र जुलाब द्वारा दस्त कराकर यवागू का प्रयोग ।
छठवाँ	पंचम वेग का उपचार करें ।	पंचम वेग का उपचार करें ।	पंचम वेग का उपचार करें ।
सप्तम	तीव्र जुलाबोपरान्त नस्य एवं काकपद प्रक्रिया ।*	अवपीड़न नस्य तथा काकपद प्रकिया ।	तीव्र नस्य ।

सर्पदंश में वातादि दोषानुसार चिकित्सा करने से अवश्य ही आशातीत फल होता है । दंशित स्थान को शंखद्राव एवं नाइट्रिक एसिड आदि दवाओं से दग्ध करने से लाभ होता है । दंशित स्थान चीरकर उसमें परमैंगनेट पोटास भरने से भी विष का वेग कम होता है । चौलाई की जड़ को चावल के धोवन के साथ पिलाने अथवा कुलिका नामक जड़ी के नस्य देने से सर्पविष प्रकोप

* काकपद—रोगी के सिर पर काक के पंजे के आकार का खरोंच कर चिन्ह बनाया जाता है ।

मन्द पड़ जाता है। जमालगोटे को नीबू के रस में घोटकर अञ्जन करने से भी विष-प्रकोप शमन हो जाता है। इन्द्र जौ एवं पाढ से बीजों को समभाग लेकर अच्छी तरह पीस, नस्य देने से तत्काल होश हो जाता है। परवल की जड़ का नस्य भी लाभदायक है। सर्पदंशित स्थान पर पेशाब कर देने से विष का प्रकोप न्यून हो जाता है। सफेद पुनर्नवा की जड़ को पीस कर पिलाने से भी बहुत ज्यादा फायदा होता है। फिटकरी को दंशित स्थान पर लगाने एवं पिलाने से बहुत ज्यादा लाभ होता है।

तार्क्ष्यो अगद्

पुण्डरिया, देवदार, नागरमोथा, भूरिछरीला, कुटकी, थुनेर, रोहितघास, मूगल, नागकेशर, तालीशपय, सज्जी, इलायची, सफेद सम्भालू, शैल, कूट, तगर, पियंगू, लोध्र, रसौत, पीलागेरू, चन्दन और सेंधा नमक को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। पश्चात् मधु में मिलाकर गोसींग में भरकर सींग का ढक्कन लगाकर रख देवें (विभिन्न प्रकार की विषनाशक औषधियों से तैयार औषधि अगद कहलाता है)।

ऋषभागद्

जटामासी, हरेनु, त्रिफला, सहिजना, मजीठ, मुलहठी, पद्‌माख, बायबिडंग, तालीशपत्र, नाकुली, ईलायची, तज, तेजपात, चन्दन, भारङ्गी, पठोल, किणही, पाठा, इन्द्रायन का फल, गूगल, निशोथ, अशोक, सुपारी, तुलसी की मञ्जरी और भिलावे के फूल को समभाग लेकर बारीक चूर्ण तैयार कर लेवें। पश्चात् उसमें सूअर, गोह, मोर, शेर, बिलाव, सावर और नेवले के पित्त मिलावें और बाद में मधु मिलाकर गाय के सींग में पन्द्रह दिनों तक भरकर रखने के पश्चात् काम में लावें। इस अगद से बहुत ज्यादा लाभ होता है। आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि उक्त अगद को ध्वजा पर लेप कर देने से उसकी हवा लगने से सर्प विष शान्त हो जाता है। महामारी फैलने पर विशाक्त वायुमंडल शुद्ध करने के लिये बाजा पर दवा लेप कर बजवाने का भी प्रसंग आया है।

सर्प विष चिकित्सा के लिए दवा के प्रयोग के अलावे मन्त्र द्वारा झाड़ने से भी लाभ होता है। लेकिन मन्त्रों में स्वर एवं व्यञ्जन के उच्चारणों का पूरा

ध्यान देना चाहिये। यद्यपि आज भी देहातों में दवा से अधिक मन्त्र का ही प्रयोग विशेष रूप से होता है लेकिन ज्यादातर अपढ़ मनुष्यों द्वारा ही। यन्त्र-मन्त्र एवं तन्त्रादि के लिये आयुर्वेद ग्रन्थ देखें।—(लेखक)।

सर्प विषोपचार के लिए पेटेण्ट दवा

लेक्सिन (Lexin) इस दवा को सर्पदंशित रोगी को सुंघाया जाता है।

यह दवा मिहीजाम से पेटेण्ट है। इसके सूंघने से भी भोगी तथा राजिल सर्पों के विष में फायदा होता है। योग निम्न प्रकार है।

ईश्वर मूल ५ तोला, ईथर १ पौंड, पिपरमेंट आयल १ औंस और अमोनियाँ बेन्जोअस १ औंस को मिलाकर उसमें दश तोले रेक्टीफायड स्प्रीट मिला देवें। दो मास तक कार्क बन्द रखने के पश्चात उक्त दवा को एक-एक औंस की शीशियों में भर लेवें। (डॉ० रामकृष्ण वर्मा)

सर्प काटने की हुक्मी दवा

यह दवा भी डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा परीक्षित है। उक्त दवा इलाहाबाद से पेटेण्ट एक पुड़िया में १६ ग्रेन प्राप्त होती है। इस दवा में से ६ रत्ती दवा आध पाव घी के साथ पिलाने का विधान है। दवा—ईश्वरमूल नाशक जड़ी की जड़ का चूर्ण है।

देवस्थान, पीपल वृक्ष के नीचे श्मशान पर साँप काटने से विष का विशेष असर होता है। आषाढ़ मास में भी सर्प बिष में उग्रता होती है। यदि उसी समय सर्प मैथुन करता है और मैथुन के समय मनुष्य अथवा कोई जानवर नजदीक आ जाते हैं तो साँप बिना काटे नहीं छोड़ता।

सर्प विषोपचार के लिए दोष, वेग प्रकृति एवं स्थान आदि के विषय में अच्छी तरह से विचार कर लेना चाहिये। सर्पदंश से मूर्छित मनुष्य मृतवत हो जाता है। अत: अच्छी तरह से परीक्षा कर लेने के बाद उसकी अन्तिम क्रिया करनी चाहिए। जब तक आँख की पुतली में आदमी अथवा दीपक की लाफ की छाया नजर आती है तब तक मनुष्य को जीवित समझना चाहिये। यही कारण है कि सप्तम वेग में तीव्र नस्य का प्रयोग विशेष लाभप्रद बतलाया गया है।

———

गुहेरा विष

आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि सर्प एवं बिल गोह के संयोग से गुहेरा नामक जीव पैदा होता है जिसको गोह के समान चार पैर होते हैं। गोह और गुहेरा में अन्तर यह होता है कि गुहेरा की पीठ पर काले रंग की धारियाँ होती हैं और जीभ भी सर्प की भाँति फटी हुई होती है। यह जीव घोर जंगल में रहता है। इसके काटने पर बहुत जल्द ही मृत्यु हो जाती है। यद्यपि इसका दंश असाध्य होता है। फिर भी इसकी चिकित्सा के लिए जहरीले सर्पों के विषोपचार से लाभ होता है।

बिच्छू विष

आयुर्वेद शास्त्र में ३० प्रकार के बिच्छू का वर्णन है लेकिन मन्दविषयुक्त मध्यम विषययुक्त एवं तीव्र विषयुक्त ये तीन प्रकार के विषयुक्त बिच्छू होते हैं। मन्दविषवाले बिच्छू के डंक के कारण दर्द, अकड़न, कम्पन एवं दंशित स्थान से काला रक्त निकलता है। मध्यम विष वाले बिच्छू के डंक मारने पर उक्त लक्षणों के अलावा जलन तथा जीभ में सूजन भी हो जाती है। महाविषयुक्त बिच्छू के डंक मारने पर उक्त लक्षणों के अलावे जीभ में सूजन, मुँह, नाक एवं कान आदि से काला रक्तस्राव तथा बेहोशी आदि लक्षण पैदा होते हैं।

दंशस्थान पर मूली अथवा मूली की पत्ती छापने से लाभ होता है। नीबू का रस लगाना तथा पोटास लगाना भी लाभप्रद है। इमली का बीज रगड़ कर लगाने से अथवा चूहे की मींगी छापने से भी बिच्छू का जहर उतर जाता है। प्याज का रस लगाना भी हितकर है। नौसादर और चूना अथवा अमोनियाँ सुँघाने से भी फायदा होता है। सफेद पुनर्नवा लगाने और खिलाने के लिए भी काम में लाया जाता है।

डॉ० रामकृष्ण वर्मा द्वारा परीक्षित बिच्छू के लिए एक पेटेण्ट दवा "बिच्छू की दवा।" यह दवा निम्नप्रकार है--परमैंगनेट पुटास ६ माशे, नीबू का सत दो माशे को मिलाकर शीशी में भर देवें। इस दवा की लागत से कीमत बहुत ज्यादा रखी गयी है।

एक महाशय तो केवल पोटास का चूर्ण ही बिच्छू की दवा के नाम से पेटेन्ट रूप में बेचते हैं।

कनखजूरा [शतपदी] विष

श्रीसुश्रुताचार्यंजी ने परुष, कृष्ण, चितकबरा, कपिला, पीला, लाल, उजला और अग्नि के वर्णं का इस प्रकार ८ तरह के कनखजूरों का वर्णन किया है। कनखजूरे के काटने से सूजन एवं जलन होती है तथा दंशित स्थान से पसीना निकलता है। इसकी पकड़ इतनी मजबूत होती है कि पकड़ के खींचने पर टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है पर छोड़ने का नाम नहीं लेता। इसके विशेष विष के कारण हृदय में पीड़ा तथा मूर्च्छा भी होती है।

उपचार—चिपके हुए कनखजूरे पर चीनी डाल देने से वह शीघ्र ही छोड़ देता है। दीमक का तैल लगाने से विष की शान्ति होती है।

चूहा विष

श्रीसुश्रुताचार्य जी ने १८ प्रकार के चूहों का वर्णन किया है। आयुर्वेद-शास्त्र में चूहा विष को बहुत ही घातक बतलाया गया है। चूँकि चूहा विष का असर बहुत दिनों के बाद होता है लेकिन होता है बहुत ही घातक। चूहों के वीर्य, मल, मूत्र एवं दाढ़ में विष होता है। अतः काटने एवं बकोटने पर ही विष नहीं लगता बल्कि वस्त्रादि द्वारा भी विष लग जाता है। चूहों को सर्प से भी खतरनाक बताया गया है। इसके सेवित विष के उपद्रव स्वरूप अरुचि, ज्वर, रोमाञ्च और शरीर पर चकत्ते तथा मूर्च्छा आदि भी दिखलाई पड़ते हैं।

उपचार—चूहा भगाने के लिए उसके बिल पर तीव्रगन्धा औषधियाँ रख देनी चाहिये। फिटकरी के गन्ध से भी चूहे भाग जाते हैं। भंग के बीज एवं केशर को आँटे में मिला गोलियाँ तैयार कर, घर में डाल देने से चूहे खाकर मर जाते हैं। संखिया आदि तीव्र विष को आटा अथवा सत्तू के साथ मिला, गोली बनाकर खिला देने से चूहे मर जाते हैं।

दंशोपचार--चूहों के दंशितस्थान को दग्ध कर देने, चीर देने, रक्तमोक्षण करने तथा सिरस के छाल का लेप कर देने से लाभ होता है। संचित विष वातादि वृद्धि काल अथवा काली घटा लगने पर प्रकुपित होता है। अतः सिरस और अंकोल के क्वाथ द्वारा वमन, निशोथ, कालादाना और त्रिफला के क्वाथ द्वारा विरेचन कराकर प्रदाहित स्थान पर (जैसे शोथ एवं चकत्ता आदि) सिरस की जड़ को बकरी के पेशाब में पीसकर लेप करना चाहिए। अगर मूर्च्छा आदि उपद्रव पैदा हो जायँ तो सोंठ, मिर्च, एवं पीपर के बारीक चूर्ण को गोबर के रस में मिलाकर आँखों में आँजने से लाभ होता है। सफेद पुनर्नवा और त्रिफला के क्वाथ पिलाने से चूहा विष के सभी उपद्रव अवश्य ही शान्त हो जाते हैं।

मक्खी और मच्छर

श्रीसुश्रुताचार्यजी ने वनमक्खी, कालीमक्खी, पीली मक्खी, मधुमक्खी, कषायो तथा स्थालिका इस प्रकार ६ तरह की मक्खियों का वर्णन किया है। आपने पाँच प्रकार के मच्छरों का भी वर्णन किया है।

पीली हरताल को दूध में डालकर रख देने से सभी मक्खियाँ उसमें गिर कर मर जाती हैं। गन्धक के धुआँ से मच्छर भाग जाते हैं। जहरीली मक्खी के डंक पर नमक अथवा सेंधानमक मल देने से लाभ होता है। मच्छर दंश पर प्याज का रस विशेष गुणकारी है।

हड्डा एवं बर्रें

इनके दंशस्थान पर सूजन हो जाती है। कभी-कभी ज्वर भी हो जाता है तथा दंशित स्थान पक भी जाता है। मधु अथवा गन्धक पीसकर लेप करने से बर्रे की सूजन अच्छी हो जाती है। गर्म जल अथवा त्रिफला के काढ़ा से धोने पर विशेष लाभ होता है।

नेवला और बिल्ली

नेवला के काटने का डर नहीं रहता है। चूंकि पागल होने पर ही नेवला काटता है। पागल नेवले के काटने पर मनुष्य पागल जैसा हो जाता है। गर्भिणी

नेवली के काटने से बहुत जल्द मृत्यु हो जाती है। नेवले के काटे हुए स्थान पर तत्काल ही नेवले का मांस लगा देना चाहिये। काटे हुए स्थान पर लहसुन पीस कर छापने से भी लाभ होता है।

बिल्ली के काट लेने पर काटा हुआ स्थान कड़ा पड़ जाता है। उस पर प्याज और पुदीना पीकर छापने से लाभ होता है। पुदीना भी खिलाना चाहिए।

———

भेड़िया और बन्दर

भेड़िया और बन्दर के काटने पर बहुत ज्यादा दर्द होता है। अगर काटे हुए स्थान से रक्त नहीं निकला हो तो रक्तमोक्षण कर देने के पश्चात् उस पर प्याज पीसकर छाप देना चाहिए। प्याज और नमक लगाने से भी लाभ होता है। बन्दर के काटने पर काटे हुए स्थान पर बन्दर का मांस अथवा बन्दर की विष्टा लगा देने से भी विष शान्त हो जाता है—

———

बाघ और सिंह

पहले ही लिखा जा चुका है कि बाघ, सिंह, कुत्ता एवं स्यार के नख एवं दाँत में विष होता है। बाघ एवं सिंह अपने पंजों द्वारा घाव करते हैं तथा दाँतों से किसी अंग को चबा जाते हैं।

उपचार—चाय अथवा त्रिफला को औटाकर उसी जल से धोने से दाँत एवं नख का विष नष्ट हो जाता है। मधु अथवा तिल का तैल लगाने से भी लाभ होता है। जखम के लिए निम्नलिखित मलहम बहुत ही उपयोगी है।

ताम्रचूर्ण, सौसन की जड़, चाँदी का मैल, मोम एवं जैतून का तैल एकत्र मिलाकर मलहम तैयार कर लेवें। बिगड़े जखमों के लिए व्रण प्रकरण में लिखे हुए मलहमों का प्रयोग करें—(लेखक)। मनुष्यों के दाँतों में भी विष होता है। अगर मनुष्य किसी आदमी को काट लेवे तो उक्त स्थान पर सौंप की जड़ मधु में पीसकर लेप करना चाहिये।

———

मेढक

आयुर्वेद शास्त्र में काला, पीला, हरा, लाल, कुहुक, दहिया, रंग, भ्रुकुट और कोटिक इस प्रकार ८ तरह के मण्डूकों का वर्णन है। जहरीले मेढक के काटने पर काटे हुए स्थान पर सूजन हो जाती है (जिसका पीला रंग होता है) तथा जलन भी होती है।

उपचार—सिरस की छाल अथवा बीज को थूहर के दूध में पीसकर लेप करने से सूजन एवं जलन में लाभ होता है।

मकड़ी

श्रीसुश्रुताचार्यजी ने बहुत प्रकार की मकड़ियों का वर्णन किया है, जिनमें कुछ विषैली और कुछ निर्विषा भी होती हैं। पहले ही लिखा जा चुका है कि मकड़ी के चेपादि में जहर होता है। जिस स्थान पर मकड़ी का जहर लग जाता है, सूजन, फुन्सियाँ तथा ददोरे निकल आते हैं। मकड़ी के मूत्र एवं वीर्यादि में भी विष होता है। अतः घर को बराबर झाड़ते रहना चाहिये जिसमें झोल नहीं लगने पावे।

उपचार—मकड़ी की फुन्सियों एवं सूजन पर श्वेत पुनर्नवा की जड़ पीसकर लगाने से लाभ होता है। हल्दी एवं सांवां नामक अन्न पीसकर छापना भी लाभप्रद है। दुग्ध वृक्षों की छाल का क्वाथ बनाकर प्रदाहित स्थान धोने से लाभ होता है। सभी प्रकार के जखमों में वातादि दोषादोष अनुसार दवा करने से लाभ होता है। आयुर्वेद शास्त्र में लिखा है कि जहरीली मकड़ी के काटने पर प्राणान्त तक हो सकता है। अतः मकड़ी विष की चिकित्सा पूर्ण तत्परता के साथ करनी चाहिये।

कुत्ता एवं सियार

कुत्ता और स्यार पागल होने पर ही मनुष्य को काटते हैं। श्रीसुश्रुताचार्यजी ने लिखा है कि कुत्ता, स्यार, भालू एवं बघेरा आदि पशुओं के शरीर में

कफ से दूषित होकर वायु बिगड़ जाती है और संज्ञावाहक शिराओं में ठहर जाती है जिसके चलते उक्त जानवर पागल हो जाते हैं। कभी-कभी बिना पागल कुत्ते भी मनुष्य अथवा पशु को काट लेते हैं लेकिन वैसे कुत्तों के काटने से विष का विशेष प्रकोप नहीं होता है। पागल कुत्तों को तो प्रायः सभी समझ जाते हैं लेकिन अन्धेरी रात में कुत्ते की पहचान नहीं होने पर उस कुत्ते का जूठा अन्य कुत्ते को खिलाकर जाँच कर लेना चाहिये, पागल कुत्ते का जूठा दूसरा कुत्ता कदापि नहीं खा सकता है।

अगर पागल कुत्ता काट लेवे तो बहुत जल्द ही चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिये। काटे हुए जखम को शीघ्र भरने का प्रयास कभी नहीं करना चाहिये। चूँकि पागल कुत्ते का विष शरीर में ठहर जाने पर जलातंक (Hydrophobia) रोग हो जाता है। उक्त रोग होने पर कुत्ते की तरह जीभ निकाल कर रोगी भूँकने लगता है। अत्यधिक प्यास होने पर भी जीभ निकल जाने के कारण एक बूँद जल पी सकना भी कठिन हो जाता है। संचित विष आकाश में घटा लगने तथा बिजली चमकने प्रभृति समय में जोरों से भड़क उठता है। जलातंक रोगग्रस्त हो जाने पर विष की अत्युग्रता होती है। उसी हालत में रोगी का जूठा जानवर तक नहीं खाता। जिसके शरीर में किसी प्रकार का संचित विष रहता है उसका जूठा कदापि नहीं खाना चाहिये। दुःख की बात है कि आज के युग में हिन्दू धर्मशास्त्र पर बिना विचारे ही अलोचना करना एक फैशन हो गया है। उक्त शास्त्र में जूठे अन्नदान को निषिद्ध बतलाया गया है।

उपचार—काटे हुए स्थान को गर्म घी से दग्ध कर देना चाहिये। प्रदाहित स्थान पर सींगी अथवा तुम्बी लगाकर रक्त निकालवाने से विशेष लाभ होता है। अगर काटे हुए स्थान पर मांस भर कर बराबर हो जाय तो पुनः चीर देना चाहिये। उक्त स्थान पर लहसन, प्याज एवं नमक को समभाग लेकर अच्छी तरह कूट लेने के पश्चात् छापने पर लाभ होता है। श्वेत पुनर्नवा और धतूरे की जड़ को चावलों के धोवन के साथ सेवन कराने से भी लाभ होता है। लहसुन, काली मिर्च, पीपर, वच एवं गाय का पित्ता समभाग लेकर लुगदी तैयार कर लेवें। इस दवा को पिलाने, नस्य देने, अंजन करने तथा लेप करने के काम

में लाया जाता है। सरफोंका एवं धतूरे की जड़ को चावलों के धोवन के साथ पिलाने से भी फायदा होता है।

सरफोंके की जड़ एक तोला, धतूरे की जड़ ६ माशे और चावल ६ माशे को पानी के साथ महीन पीकर गोला तैयार कर लेवें। पश्चात् ऊपर से धतूरे के ५-७ पत्तों को लपेट कर पका लेने के बाद सेवन कराने से बहुत ज्यादा लाभ होता है। इस दवा के पचते समय कभी-कभी उन्मत्तता नजर आती है। अतः उक्त अवसर पर रोगी को धूल रहित सुरक्षित स्थान पर रखना चाहिये। सर्प प्रकरण में लिखे गये सेवन से आश्चर्यजनक लाभ होता है।

वर्तमान समय के कुत्तों के विष शांति के लिये पागल कुत्ते के विष द्वारा तैयार सीरम से चिकित्सा करने की व्यवस्था एलोपैथिक चिकित्सालयों में की गयी है। यह पद्धति विषस्य-विषमौषधम् सूत्र से ली गयी है।

पथ्यापथ्य—दूध भात सर्वोत्तम पथ्य है। रोगी को अचार, चटनी, मांस, मछली, खटाई, दही एवं सिरका आदि उत्तेजक एवं अभिष्यन्दि पदार्थों से बिलकुल बचाकर रखना परमावश्यक है। जल एवं जलाशयों से तो रोगी को बिल्कुल अलग रखना चाहिये। अगर जल पिलाना हो तो रोगी का नेत्र बन्द कराकर जल पिलाना चाहिये। काँसे के पात्र में भोजन देना भी अनुचित है। काँसे के पात्र एवं ऐनक देखने पर भी विष का प्रकोप प्रबल हो उठता है।

———


मेडिकल पुस्तक भवन
-वाराणसी-